उपन्यासकार

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

डॉ० त्रिभुवन सिंह

संजय प्रकाशन
बुलानाला, वाराणसी

Upanyaskar Acharya Hazariprasad Dwivedi

Dr. Tribhuwan Singh

लेखक : डॉ॰ त्रिभुवन सिंह

प्रकाशक : **संजय प्रकाशन**
बुलानाला, वाराणसी

संस्करण : प्रथम
द्वितीय संस्करण १९८१

मुद्रक : **चन्द्रप्रभा प्रिंटिंग प्रेस**
एस. ८/१८९ सुधाकर रोड,
खजुरी, वाराणसी–कैण्ट

भारत सरकार द्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्य के कागज पर मुद्रित ।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

की

पुण्य स्मृति को

जिसकी केवल सुगंधि

रह गयी है।

—त्रिभुवन सिंह

लेखक की कृतियाँ

काव्य :

- रोदन
- नया स्वर

समीक्षा एवं शोध :

- हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद (पुरस्कृत)
- आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा (पुरस्कृत)
- दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक (पुरस्कृत)
- महाकवि मतिराम, पी० एच० डो० के लिए शोध-प्रबंध (पुरस्कृत)
- हिन्दी साहित्य : एक परिचय
- हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग, डी० लिट्० के लिए शोध-प्रबंध (पुरस्कृत)
- उपन्यासकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

संपादित :

- साहित्यिक निबंध
- तुलसी : सन्दर्भ और समीक्षा
- सूर : सन्दर्भ और समीक्षा
- सूर और तुलसी : काशी में

प्राक्कथन

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की रचनाओं पर उस व्यक्ति के लिए कुछ लिख पाना अत्यन्त कठिन होता है जो कि शिष्य के रूप में उनके अत्यधिक निकट रहा हो। यह मेरा परम सौभाग्य रहा कि मुझे आचार्य श्री का शिष्य बनने का अवसर मिला। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में सेवा का अवसर मिलने के कारण भी उनसे मेरा सानिध्य बराबर बना रहा। आचार्यप्रवर के जीवन में न जाने कितने उतार-चढ़ाव आए पर यह उनकी कृपा ही थी कि मेरा सम्पर्क-सूत्र टूट नहीं सका। वाराणसी के एक ही मुहल्ले में थोड़ी ही दूरी पर रहने के कारण शायद ही कोई ऐसा सप्ताह बीतता जब कि उनके उन्मुक्त हास का सहज आनन्द न मिलता। आचार्य द्विवेदी अपने आप में एक संस्था थे। वे जिस कोटि के विद्वान थे, वे उसी कोटि के शिष्यवत्सल और मानव भी थे। ऐसी स्थिति में आप मेरी कठिनाई का अनुमान लगा सकते हैं कि एक छोटी सी पुस्तक में मैं किस प्रकार उनकी औपन्यासिककृतियों के साथ न्याय कर सकूँगा। फिर भी धृष्टता कर रहा हूँ।

हिन्दी विभाग के अध्यापन क्रम में मुझे आचार्य द्विवेदी कृत उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' एम० ए० के छात्रों को पढ़ाना पड़ा। छात्रों के आग्रह पर मैंने 'ऐतिहासिक उपन्यास की सीमा और बाणभट्ट की आत्मकथा' शीर्षक से एक छोटी सी पुस्तक बहुत पहले ही लिखी थी जो उसी वर्ष समाप्त हो गई। उसे पुनः छपाने के प्रति मैं इसलिए उदासीन रहा कि उस समय द्विवेदी जी का उपन्यासकार अपनी रचना धर्मिता के प्रति सतत् जागरूक था। 'चारु चन्द्रलेख' का प्रकाशन हुआ और अन्य उपन्यासों की योजना भी उनके मस्तिष्क में बनने लगी थी, जिसका आभास हम लोगों को शाम की उनकी टहलान में मिल जाता था। स्वभावतः मेरे मन में यह बात घर करती गई कि उनके और उपन्यास प्रकाश में आ जाँयँ तो सब पर एक साथ लिखा जाय।

क्रूर काल ने आचार्य द्विवेदी को असमय ही हमलोगों के बीच से उठा लिया और हिन्दी जगत को यह आघात सहन करने के लिए विवश होना पड़ा। 'पुनर्नवा' और 'अनामदास का पोथा' ही हमारे हाथ लग सके। भविष्य की सारी संभावनाओं पर तुषारापात हो गया और 'अनामदास का पोथा' को कई खण्डों में लिखने की योजना अधूरी रह गई।

कृतज्ञ हिन्दी जगत ने स्वर्गीय आचार्य द्विवेदी के प्रति जितना आदर भाव व्यक्त किया उतना इसके पूर्व शायद ही किसी साहित्यकार के प्रति उसने व्यक्त किया हो।

पत्र-पत्रिकाओं में संस्मरणों की बाढ़ आ गई और अनेक स्मृतिअंक निकाले गए। कई मित्रों ने मुझसे भी लिखने का आग्रह किया पर मेरी मानसिक स्थिति उस समय कुछ ऐसी रही कि मित्रों के नाराज होने पर भी मैं कुछ नहीं लिख सका। अतः इस छोटी सी पुस्तक के माध्यम से मैं अपनी श्रद्धांजलि आचार्य प्रवर गुरुवर द्विवेदी जी को अर्पित कर रहा हूँ। सहृदय पाठक इसी दृष्टि से इस कृति को देखें।

विश्वविद्यालय की प्रशासनिक व्यवस्था में जुड़ने के कारण स्वास्थ्य और समय दोनों का संकट मेरे सामने था, पर मैंने अपने प्रिय शोध छात्रों की सहायता से यह कार्य सम्पन्न करने का निश्चय किया। अभ्यास के अभाव में भी मैंने बोलकर लिखाया जिससे लेखन और टिप्पणियों में जो चुस्ती आनी चाहिए थी वह नहीं आ सकी है। डॉ बाबू राम त्रिपाठी ने इस कार्य में मेरा सर्वाधिक सहयोग किया है। प्रिय तुषार कान्ति सिंह और डॉ सन्तराम वैश्य ने भी अपना कम समय इस पुस्तक के लिए नहीं दिया। श्री अबुल लैस अंसारी की दौड़-धूप इसके प्रकाशन की गति को बढ़ाती रही है। सभी मेरे शिष्य हैं, उन्हें धन्यवाद देना अच्छा नहीं लगता। इस क्रम में एक और महत्व पूर्ण नाम है जिसके प्रति आभार व्यक्त किए बिना मैं नहीं रह सकता। मेरे मित्र डॉ विष्णुदत्त, राकेश, हिन्दी विभाग गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरद्वार ने 'अनामदास का पोथा' के संदर्भ में मुझे अनेक सुझाव दिए जिनका उपयोग मैंने प्रस्तुत पुस्तक में किया है। इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

इस पर भी पुस्तक न लिखी जाती यदि 'संजय प्रकाशन' के श्री गुलाब दास जी का मधुर आग्रह न रहा होता। वे शीघ्र पुस्तक को प्रेस में देना चाहते थे, जिससे मैंने शीघ्रता की है और शीघ्रता के दोषों का पुस्तक में आ जाना स्वाभाविक था। दोष आए हैं, विद्वान पाठक ध्यान न दें। 'द्विवेदी जी' के उपन्यासों पर मैंने अन्यत्र भी जो कुछ लिखा था उसे इस पुस्तक में समाहित कर लिया है। 'ऐतिहासिक उपन्यास की सीमा और बाणभट्ट की आत्मकथा' की सारी सामग्री को संशोधित रूप में मैंने इस पुस्तक में ले लिया है। पुस्तक लिखते समय वे सहृदय पाठक मेरे सामने रहे हैं जो कि 'द्विवेदी जी' के उपन्यासों को दुरूह समझकर छोड़ जाते हैं। प्रूफ सम्बन्धी त्रुटियाँ भी रह गई हैं जिसके लिए मुझे दुख है। अब पुस्तक आप के हाथ में है।

त्रिभुवन सिंह

हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

दूसरी बार

प्रथम संस्करण में पुस्तक को जो स्वरूप मैं देना चाहता था, अपनी अत्यधिक व्यस्तताओं के कारण उसे मैं वह स्वरूप नहीं दे पाया, इसका खेद रहा। सोचा था कि द्वितीय संस्करण में कमी पूरी कर दूँगा, पर मुझे क्या पता था कि श्री गुलाब दास जी एकाएक यह सूचना देंगे कि पुस्तक का प्रथम संस्करण समाप्त हो गया। मुझे स्वयं आश्चर्य है कि इतने कम समय में पुस्तक का प्रथम संस्करण कैसे समाप्त हो गया। इसे तो मैं स्वर्गीय गुरुवर आचार्य हजारी प्रसाद जी का ही प्रताप मानता हूँ। सहृदय पाठकों ने प्रस्तुत पुस्तक का नहीं बल्कि आचार्यप्रवर की कृतियों का स्वागत किया है। आचार्य द्विवेदी के सभी उपन्यासों की विवेचना प्रस्तुत करनेवाली यह पहली पुस्तक थी जिसके कारण ही पाठकों ने इसे इतना अधिक प्यार दिया है, पर मैं उनके प्रति आभारी हूँ। अतः बिना किसी संशोधन एवं परिवर्द्धन के मैं इसे पुनः सहृदय पाठकों के पास भेज रहा हूं और यदि समय मिला तो तीसरे संस्करण में इसका परिष्कार करूँगा। इस विवशता के कारण त्रुटियों का दायित्व मैं निःसंकोच अपने ऊपर ले रहा हूँ।

त्रिभुवन सिंह

अनुक्रम

●

१ | आचार्य द्विवेदी

हिन्दी साहित्य के युग-पुरुष आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का महिमामंडित-व्यक्तित्व उनकी विद्वत्ता में 'चार चाँद' था। इसी मोहक व्यक्तित्व के कारण जीवनकाल में ही जितनी सामाजिक प्रतिष्ठा, लोकप्रियता एवं राष्ट्रीय स्तर की ख्याति द्विवेदीजी को मिली किंचित् ही हिन्दी साहित्य के इतिहास में किसी साहित्यकार को मिली होगी। अब वे हमारे बीच नहीं हैं, पर उनका यशस्वी व्यक्तित्व उनकी कृतियों के माध्यम से दीर्घ काल तक भारतीय जनमानस को प्रेरणा देता रहेगा, इसमें सन्देह नहीं। आचार्य द्विवेदी की कृतियों पर उनके जीवनकाल में भी पर्याप्त लिखा गया है। अनेक विश्वविद्यालयों के माध्यम से उनके कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर शोधप्रबन्ध प्रस्तुत किये गये हैं, स्वतंत्र रूप से समीक्षात्मक ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ है और समय-समय पर आदर देने के लिए स्तरीय-अभिनन्दन ग्रन्थों का भी सम्पादन हुआ है जिनमें प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। इतना सब कुछ होने पर भी यह कहने में मुझे किसी प्रकार का संकोच नहीं है कि द्विवेदीजी के साहित्यिक व्यक्तित्व का वास्तविक मूल्यांकन अभी नहीं हो पाया है, जिसकी परम आवश्यकता है। हिन्दी साहित्य के प्रेमियों, पाठकों एवं विद्वानों के लिए यही उचित समय है कि वे आचार्य द्विवेदी की साहित्यिक उपलब्धियों के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से जानें, पढ़ें एवं लिखें। आधुनिक हिन्दी जगत में शायद ही कोई एक नाम ऐसा हो जिसकी समूचे भारतवर्ष में इतनी लम्बी शिष्य परम्परा हो जितनी लम्बी शिष्य परम्परा द्विवेदीजी अपने पीछे छोड़ गए हैं। भाषावाद, प्रान्तवाद एवं जातिवाद जैसे संकीर्ण अवरोधों को छोड़कर समूचे भारतवर्ष की मनीषा को समेट लेने में द्विवेदीजी की शिष्य परम्परा सफल रही है। इस दृष्टि से आचार्य द्विवेदी उस हिन्दी राष्ट्रभाषा के पर्याय बन गये थे जिसे स्वीकार कर लेने में किसी का भी कोई आपत्ति नहीं रही। 'सव्यसांची' से लेकर 'एकलव्य' शिष्य परम्परा का जैसा प्रवर्तन उन्होंने किया—इस दृष्टि से हिन्दी जगत में उनके समानान्तर कोई दूसरा नाम नहीं लिया जा सकता। हमारे लिए यह बड़े सौभाग्य की बात है कि द्विवेदीजी की वह समर्थ शिष्य-परम्परा हिन्दी जगत में अभी पूर्ण रूप से वर्तमान है जिसने उन्हें अत्यन्त निकट से देखा-परखा है। अतः अब समय आ गया है कि द्विवेदी-साहित्य का मूल्यांकन उसकी समग्रता में किया जाय।

ध्यान रहे कि द्विवेदीजी के सामाजिक व्यक्तित्व को सामने रखकर ही उनके साहित्य का सही मूल्यांकन संभव है, जो यदि अब नहीं हुआ तो बाद में कदापि संभव नहीं। आचार्य द्विवेदी को नजदीक से जानने-समझनेवाले उनके शिष्य-विद्वान आज भी हमारे बीच हैं। उनके मानस में आचार्य प्रवर की स्मृति भी अभी ताजा है जिससे उक्त मूल्यांकन-कार्य को सही दिशा मिल सकती है। अतः यह ऐसा कार्य होगा जिससे हिन्दी जगत के पाठक, समीक्षक एवं रचनाधर्मी सभी समान रूप से लाभान्वित होंगे और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की उपलब्धियों के प्रति यही सच्ची कृतज्ञता होगी।

आचार्य द्विवेदी की रचनाधर्मिता ने साहित्यिक सृष्टि के लिए भारतीय इतिहास एवं उसकी चेतना के व्यापक फलक को आधार बनाया है जिससे सहज ही उसमें एक गरिमामय औदात्य सर्वत्र दिखता है। वे अनुकूल एवं प्रतिकूल सभी परिस्थितियों से अपने साहित्य के लिए रस संग्रह करते थे। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि उनके व्यक्तित्व के चार प्रमुख आयाम थे। अध्यापन कक्ष से लेकर परिवार तक शिष्यों के बीच, संगोष्ठियों से लेकर महती सभाओं के मध्य कुशल वक्ता के रूप में, उच्च प्रशासकीय दायित्वों के निर्वाह एवं हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं में लेखक के रूप में आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व में सहज ही तारतम्य का ढूँढ़ लेना कठिन था। यही कारण है कि यदि उनके व्यक्तित्व-विकास की स्वाभाविक भंगिमाओं की जानकारी किये बिना मूल्यांकन क्रम में किसी निष्कर्ष पर पहुँचना चाहेंगे तो हमें निराशा ही हाथ लगेगी। जो लोग द्विवेदीजी के व्यक्तित्व एवं उनके साहित्य में अन्तर्विरोध देखते हैं ऐसे लोगों की दृष्टि के मूल में उपर्युक्त दृष्टि का अभाव ही है। स्वभाव से संकोची पर संकल्प से दृढ़ आचार्य द्विवेदी जीवनपर्यन्त साधारण लोगों के लिए रहस्य बने रहे। कहा जाता है कि दिल्ली का एक सुल्तान नासिरुद्दीन पवित्र 'कुरान' की प्रतिलिपि तैयार कर बेचता और मिले मूल्य से ही अपना व्यक्तिगत खर्च चलाता था। राजकोष को प्रजा की धरोहर समझकर निजी उपयोग में उसे लाना उसकी दृष्टि में अपराध था। एक दिन जब सुल्तान कुरान की प्रतिलिपि तैयार कर रहा था तो उसके एक मुँह लगे किसी पार्षद ने टोक दिया कि उसने (सुल्तान ने) कुरान की एक आयत गलत लिख दी है। अतः पार्षद के सुझाव के अनुसार सुल्तान ने 'आयत' का संशोधन कर दिया। पार्षद के चले जाने पर उसने संशोधन को काटकर 'आयत' को पूर्ववत् ठीक कर लिया। पास बैठे अन्य पार्षद ने जिज्ञासा की कि सुल्तान ने जानते हुए भी गलत सुझाव को क्यों स्वीकार कर लिया था। उत्तर में सुल्तान ने कहा कि सही क्या है इसे तो मैं जानता ही हूँ पर थोड़ी देर के लिए भूल स्वीकार कर लेने पर यदि किसी का मन रह जाता है तो हर्ज ही क्या है? आचार्य द्विवेदीजी इसी प्रकार के संकोची महापुरुष थे जो दूसरों के अहं को न तोड़कर स्वयं कुछ काल के लिए टूट

जाते थे, पर उनकी संकल्प शक्ति सदैव अप्रभावित रही है। इस तथ्य से जो लोग अपरिचित हैं उन्हें द्विवेदीजी के व्यक्तित्व एवं साहित्य में अन्तर्विरोध दिखता है। उनके व्यक्तित्व का यह दुर्लभ पक्ष उनकी कृतियों में सर्वत्र प्रोद्भासित है। जब वे अपने निबन्धों अथवा अन्य विचारोत्तेजक साहित्यिक प्रसंगों में भारतीय इतिहास की गुत्थियाँ सुलझाते हैं, जड़ीभूत रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों पर प्रहार करते हैं और धार्मिक आडम्बरों की पोल खोलते हैं तो उसके लिए ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं कि वह उन लोगों को भी बुरी नहीं लगती जो कि द्विवेदीजी के विचारों से पूर्णतः असहमत हैं। इस प्रकार उनकी भाषा मधुर आवरण में लिपटी वह कड़वी औषधि है जिसे रोगी सहज ही गले के नीचे उतार लेता है। समीक्षात्मक सन्दर्भों में जहाँ दो-टूक निर्णय की घड़ी उपस्थित भी होती है वहाँ द्विवेदीजी 'ही' को न अपनाकर 'भी' को अपनाते हैं। वे कभी भी ऐसा नही लिखते कि उनका पक्ष ही ठीक है बल्कि वे यह लिखना ज्यादा पसन्द करते हैं कि उनका पक्ष भी ठीक हो सकता है। द्विवेदीजी की इस शैली को देखकर कुछ लोग नाक-भौं भी सिकोड़ते हैं। वे इसलिए ऐसा करते हैं कि उनकी बौनी बुद्धि द्विवेदीजी के हिमालयीय व्यक्तित्व की विशालता को समेट नहीं पाती। उनके लेखन में यह इसलिए संभव हो सकता है कि चिन्तन पर व्यक्तित्व की गरिमा का सहज प्रभाव है जिसके कारण द्विवेदीजी का लेखन सहृदय पाठक को अपनी ओर खींचता है। उनकी यह चुम्बकीय शक्ति सर्वाधिक उनके उपन्यासों में देखी जा सकती है जिनमें अनेक पात्रों एवं प्रसंगों के माध्यम से उनका व्यक्तित्व मुखरित हुआ है।

विपन्नता, संघर्ष एवं स्वाभिमान का जो जीवन द्विवेदीजी ने नियति के रूप में अंगीकृत किया था, उसने एक ऐसी जिजीविषा की सृष्टि की कि उनका समूचा व्यक्तित्व एक आलोक शिखर बन गया है। जैसा कि वे प्रायः कहा करते थे कि उनकी आर्थिक विपन्नता ने उन्हें लेखक बनाया, संघर्ष के प्रति विकसित स्वाभाविक रुचि ने गहन अध्ययन के लिए उन्हें विवश किया और स्वाभिमानप्रियता ने संकट की घड़ी में भी विचलित न होने की जो शक्ति प्रदान की उसने शंकर की तरह स्वयं विषपान कर दूसरों के लिए उन्हें साहित्यरूपी अमृत बाँटने में सक्षम बनाया। संघर्ष ने ही उन्हें एकाधिक स्थानों में जाकर सेवा कार्य करने के लिए विवश किया और इसी विवशता के कारण वे 'रविबाबू' जैसे अनेक महापुरुषों के सम्पर्क में आये तथा जड़ीभूत क्षेत्रीय संकीर्णता, अनुदार सांस्कृतिक चेतना तथा अनुदारवादी सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक मान्यताओं को लाँघ सके। उनके जीवन की ये सभी असुविधाएँ उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के लिए वरदान बन गयीं अन्यथा वे अपने एक ऐसे साहित्यिक व्यक्तित्व का कभी भी निर्माण न कर पाते जिनमें आकर प्रतिकूल परिस्थितियों एवं राष्ट्रीय विसंगतियों को सही दिशा मिलती। द्विवेदीजी के जीवन

का भोगा हुआ सत्य उनके साहित्य में वर्तमान हैं, जिसे व्याख्यायित करने का यही उपयुक्त अवसर है।

'याचना' शब्द द्विवेदीजी के शब्दकोश में नहीं था। जीविका के लिए द्विवेदी जी ने कभी भी कहीं न तो प्रार्थनापत्र दिया और न तो वे उसके लिए कभी किसी साक्षात्कार समिति के सम्मुख उपस्थित ही हुए। शान्तिनिकेतन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और चण्डीगढ़ से लेकर राज्यभाषा हिन्दी संस्थान उत्तर प्रदेश तक सभी स्थानों पर सेवा कार्य के लिए उन्हें सम्मान सहित आमंत्रित किया गया, न कि उन्होंने सेवा कार्य के लिए अवसर की याचना की। यह एक विलक्षण बात है कि जिस व्यक्ति के जीवन में इतना उतार-चढ़ाव आता रहा हो और उसे जीविकोपार्जन के लिए किसी के सामने हाथ न फैलाना पड़ा हो। इस दृष्टि से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के साथ शायद ही किसी साहित्यकार का नाम लिया जा सके। मृत्युपर्यन्त वे कार्यरत रहे और स्वास्थ्य की प्रतिकूलता के कारण वे राज्य भाषा संस्थान उत्तर प्रदेश की सेवाओं से मुक्ति चाहते हुए भी मुक्त नहीं हो सके। इस प्रकार वे अन्तिम क्षणों तक राज्य भाषा हिन्दी संस्थान के उपाध्यक्ष रूप में अवकाश पर थे।

मानवतावादी साहित्यकार आचार्य द्विवेदी का मानव की विजय में बराबर विश्वास बना रहा और वे मोक्षकामी व्यक्ति के स्थान पर कर्मरत सद्गृहस्थ के पक्षधर बने रहे। जीवन के पिछले दिनों में मृत्यु की छाया उन्हें स्पष्ट दिखने लगी थी। वह उन्हें ढूँढ रही थी, पर वे उसके स्वागत को तैयार नहीं थे। वे जीना चाहते थे क्योंकि जितना वे अपनी लेखनी के माध्यम से समाज को देना चाहते थे उसके लिए उन्हें अपना जीवनकाल अत्यन्त छोटा जान पड़ रहा था। शरीर साथ नहीं दे रहा था, हाथ कांप रहे थे और वाणी हृद्गत भावों को सँभाल नहीं पा रही थी, पर वे अपनी भावी साहित्यिक योजनाओं को मूर्त रूप देने के लिए व्यथित थे। भाषण-काल में विचारों को अभिव्यक्ति देने में असमर्थ दिखती वाणी की सहायता करनेवाली फड़कती हुई आचार्य प्रवर की भुजाएँ अब उनका साथ देने को प्रस्तुत नहीं थीं, फिर भी वे लिखना चाहते थे। वे इसी कार्य के लिए जीना चाहते थे, न कि परिवार और अपने निजी सुख-भोग के लिए। अन्तिम कृति 'अनामदास का पोथा' का प्रकाशन वे अनेक भागों में करना चाहते थे जो उनके असामयिक निधन के कारण आगे न लिखा जा सका। समीक्षा जगत में 'कबीर' के सन्दर्भ में द्विवेदीजी को अपूर्व ख्याति मिली और वह इस सीमा तक मिली कि 'कबीर' का नाम लेते ही हजारीप्रसाद द्विवेदी और हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम लेते ही 'कबीर' हिन्दी जगत के लोगों के सामने आ जाते हैं।

इस रहस्य से बहुत कम लोग परिचित होंगे कि 'तुलसी' उनके सर्वाधिक प्रिय कवि थे। तुलसी साहित्य पर वे अत्यन्त मौलिक ढंग से सोचते थे जिसकी झलक 'तुलसी'

पर दिये गये उनके अनेक भाषणों में मिलती है। लोगों की यह धारणा हो सकती है कि कबीर के अध्येता के लिए 'तुलसी' अपेक्षाकृत कम महत्व के कवि हैं, पर द्विवेदी-जी के सम्बन्ध में ऐसी धारणा बना लेना ठीक नहीं होगा। कबीर उन्हें इसलिए प्रिय थे कि वे बिना किसी भेद-भाव के मानव प्राणी के उन्नयन की कामना करनेवाले थे, पर उनके साथ हिन्दी के समीक्षकों ने न्याय नहीं किया था। अतः एक क्रान्तिदर्शी युगपुरुष के साथ न्याय करने के लिए उनकी प्रतिभा मचल पड़ी थी। आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने लोकमंगल की भावना को जो काव्य के लिए अनिवार्य तत्व के रूप में स्वीकार किया और तुलसी-काव्य को इस कसौटी पर खरा उतरते पाया, क्या वे कबीर काव्य में निहित लोकमंगल की भावना की ओर दृष्टिपात नहीं कर सकते थे? हो सकता है द्विवेदीजी को यह बात खटकी हो और उन्होंने कबीर को अपनी लेखनी से कृतार्थ किया। हिन्दी जगत में कबीर को प्रतिष्ठित कर आचार्य द्विवेदी ने जहाँ एक ओर हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक नये अध्याय की शुरुआत की वहीं दूसरी ओर उन्होंने सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दी के क्षेत्र में एक नये आयाम को लाकर जोड़ दिया जिसका अनुकूल दूरगामी प्रभाव पड़ा। इससे यह मान बैठना कि तुलसी साहित्य के मर्म को द्विवेदीजी ने नहीं पहचाना अपनी अल्पज्ञता का परिचय देना होगा। मानवीय मूल्यों में विश्वास करनेवाला द्विवेदीजी जैसा रचनाकार भला तुलसी द्वारा प्रस्तुत मानवीय मूल्यों पर रीझे बिना कैसे रह सकता है। वे रीझे थे और बड़ी तैयारी के साथ तुलसी साहित्य पर कलम चलाने के लिए प्रतिश्रुत थे। उन्होंने तुलसी पर लिखने का कार्य आरम्भ भी कर दिया था, पर निर्मम काल के प्रहार ने हिन्दी जगत को मिलनेवाली अनुपम उपलब्धि से वंचित कर दिया और कार्य को अधूरा छोड़कर वे हमारे बीच से उठ गये।

आचार्य द्विवेदी ने कबीर पर केवल समीक्षात्मक ग्रन्थ ही नहीं लिखा है, बल्कि उन्होंने कबीर के व्यक्तित्व को अपने जीवन में उतारा भी है। वे कबीरमय हो गये थे जिसकी पुष्टि दिल्ली में हुई उनकी मृत्यु ने भी कर दी। काशी कबीर की साधना भूमि रही और जन्म से लेकर कीर्ति के शिखर तक पहुँचने की उनकी सारी विकास प्रक्रिया यहीं पूरी हुई। बाहर रहनेवाले लोग भी काशी में शरीर त्याग करने की कामना से जीवन के अन्तिम क्षणों में यहाँ चले जाते हैं, पर जीवन के अन्तिम क्षणों में कबीर को काशी छोड़नी पड़ी और उन्हें काशी में मृत्यु नसीब नहीं हुई। वे काशी में मरना भी नहीं चाहते थे—जो कबिरा काशी मरै, रामहिं कौन निहोरा—कर्म में उनका विश्वास था, वे तीर्थ की नौका पर बैठकर वैतरणी पार करना नहीं चाहते थे। इसे संयोग ही कहें कि आचार्य द्विवेदीजी के साथ भी कबीर जैसा ही हुआ। मृत्यु के समय उन्हें भी काशी से बाहर जाना पड़ा और वे जाना भी चाहते थे इसमें सन्देह नहीं। कुछ लोगों का कहना है कि अन्तिम क्षणों में आचार्य द्विवेदी को चिकित्सा के

लिए दिल्ली भेजकर लोगों ने अच्छा नहीं किया, उनसे लोगों ने उनकी काशी छुड़ा दी। वे लोग इसलिए कहते हैं कि उन्हें पण्डितजी के मोक्ष की चिन्ता है, पर वे लोग इस तथ्य से अपरिचित हैं कि द्विवेदी जी स्वयं मोक्ष नहीं चाहते थे। वे सच्चे कर्मवीर थे और अपने इस छोटे जीवनकाल से सन्तुष्ट नहीं थे, उन्हें वह अत्यन्त छोटा लग रहा था, ऐसी स्थिति में मोक्ष की कामना वे कर भी कैसे सकते थे। आचार्य द्विवेदी जी ने तो जन्म-जन्मान्तर के लिए अपने को हिन्दी के लिए अर्पित कर दिया था, अतः मोक्षकामी पलायन की दिशा में वे सोच भी नहीं सकते थे। काशी का मोह उन्हें कभी नहीं रहा, उन्होंने काशी को अवश्य अपनाया पर तथाकथित काशी ने उन्हें कभी नहीं अपनाया। मात्र उनका दोष यही था कि वे काशी कूप तक ही अपने को सीमित न रखकर समूची भारतीय चेतना के साथ जुड़ना चाहते थे और जुड़कर रहे।

राज्यभाषा हिन्दी संस्थान में जाने के पूर्व जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रेक्टर पद से द्विवेदीजी मुक्त हुए तो भावी योजनाओं के सम्बन्ध में पूछने पर उन्होंने अपने एक मित्र को सद्यःरचित कविता में बतलाया—

पढ़ा, पढ़ाया, लिखा, लिखाया, अब क्या करना बाकी।
'व्योमकेश' दरवेश चलो गंगा के तट एकाकी॥

'व्योमकेश' द्विवेदीजी का ही नाम है और आरम्भ में वे इसी नाम से लिखते थे। 'वाणभट्ट की आत्मकथा' के व्योमकेश द्विवेदीजी ही हैं। अपने इस नाम का सर्वाधिक प्रयोग उन्होंने विश्वभारती, शान्ति निकेतन में रहकर किया और संभवतः जब तक वे काशी में रहे उन्होंने 'व्योमकेश' से मुँह मोड़ लिया था। काशी के समाज से जब उन्हें अरुचि हुई तो जीवन की संध्या में उन्हें 'व्योमकेश' पुनः याद आया। नारी शरीर को देव मन्दिर समझने वाला 'व्योमकेश' शक्ति का उपासक था, चाहे वह दुर्गा के रूप में हो अथवा राधा के रूप में। द्विवेदी जी राधातत्व के प्रति आस्थावान थे जो उन्हें गंगातट पर नहीं बल्कि यमुनातट पर ही मिल सकती थी। एकाकी गंगा तट पर जाने की जब वे बात करते हैं तो उससे इतना ही समझना चाहिए कि काशी के समाज में रहकर साहित्यिक साधना सम्भव नहीं। लोगों को यह बात अजीब इसलिए लगेगी कि काशी सदैव से विद्वानों एवं साधकों की साधना स्थली रही है, फिर द्विवेदीजी के लिए वह प्रतिकूल क्यों? आदर्श और भावुकता को छोड़कर यथार्थ को स्वीकार कर लेना चाहिए। काशीवासियों ने तुलसीदास के साथ जो कुछ किया वे भला द्विवेदी जी के साथ क्यों न करते? काशी में दुकान पर पान लगानेवाला अपढ़ भी गुरू है तो तथाकथित गुरुओं की बात ही निराली है। फिर भी आप यह कहते हैं कि द्विवेदीजी की काशी अन्तिम दिनों में छूट गयी। उन्हें तो कबीर की भाँति काशी छोड़नी ही थी, भारतीय मनीषा की स्मृति में संचित राधा का

वैभव दिल्ली के तट से द्विवेदीजी को बुला रहा था और वे गंगातट छोड़कर एकाकी यमुना तटपर चले गये। इसी काशी नगरी में मु० प्रेमचन्द, बाबू जयशंकर प्रसाद और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निधन हुआ और उन्हें लगभग एकाकी ही गंगातट पर जाना पड़ा। अतः इस परम्परा की अगली कड़ी न बनकर द्विवेदीजी ने अच्छा किया। दिल्ली ने सम्राटों और राजनेताओं का ही वैभव देखा था, उसने यह कभी नहीं देखा था कि एक कलम का सिपाही भी अपनी कीर्ति से लोगों को पीछे छोड़ सकता है। दिल्ली मुकुटवालों की रही है पर दिल्ली में अपनी मृत्यु से द्विवेदीजी ने उसके मुकुट में एक नगीना जड़ा है। लोगों को पहली बार इसका अनुभव हुआ कि द्विवेदीजी ने अपने साहित्यिक जीवन के द्वारा ही नहीं बल्कि मृत्यु के माध्यम से भी हिन्दी को राष्ट्रीय गरिमा प्रदान की है। मृत्यु के बाद भी जो लोग द्विवेदीजी के इस यश को नहीं झेल पाते, उन्हें कम से कम हिन्दी के नाम पर तो मुँह नहीं खोलना चाहिए। उन्हें इस बात से ही सन्तोष कर लेना चाहिए कि द्विवेदीजी को मृत्यु के बाद भारत की राजधानी दिल्ली में जो अपूर्व सम्मान मिला वह हिन्दी का ही सम्मान है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व का विकास अनेक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में होता रहा है जिसे उनकी कृतियों में सहज ही देखा जा सकता है। एक आलोक शिखर के रूप में आचार्य द्विवेदीजी ने संकट की घड़ी में हिन्दी भाषा और साहित्य का नेतृत्व किया है जिसे हिन्दी जगत् भूल नही सकता। द्विवेदीजी के साहित्य का मूल्यांकन करते समय, यह आवश्यक है कि उनके व्यक्तित्व को सामने रखा जाय। इसके अभाव में तो उनके उपन्यासों का मूल्यांकन हो ही नहीं सकता। इसके लिए उनका एक संक्षिप्त जीवन परिचय दे देना आवश्यक है।

एक परिचय

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म श्रावण शुक्ला एकादशी संवत् १९६४ (सन् १९०७) को बलिया (उ० प्र०) जिले के 'आरत दूबे का छपरा' नामक ग्राम के एक सरयूपारीण ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री अनमोल द्विवेदी और माता का नाम श्रीमती ज्योतिष्मती था। वस्तुतः माता-पिता का नाम ही द्विवेदीजी केरूप में साकार हो उठा। उनकी प्रतिभा जितनी ही ज्योतिष्मती थी उनका व्यक्तित्व उतना ही अनमोल। द्विवेदीजी के बचपन का नाम वैद्यनाथ द्विवेदी था। वैद्यनाथ से हजारी प्रसाद बनने के पीछे एक कथा बतायी जाता है—

एक बार इनके पिता मुकदमा लड़ रहे थे। मुकदमे में रुपयों की बड़ी आवश्यकता थी, द्विवेदीजी के पिता के पास उस समय रुपयों का अभाव था। भाग्यवश उन्हें कहीं से अप्रत्याशित रूप से एक हजार रुपयों की उपलब्धि हुई। उनके पिता अनमोल

द्विवेदी बड़े प्रसन्न हुए, साथ ही सन्तुष्ट भी। इन रुपयों की प्राप्ति के साथ ही वैद्यनाथ द्विवेदी हजारी प्रसाद द्विवेदी हो गये। यही नाम अन्ततः भारतीय संस्कृति का प्रतीक बन गया।

आरत दूबे का छपरा नामक ग्राम द्विवेदीजी के प्रपितामह 'आरत दूबे' के नाम पर बसाया गया था। वस्तुतः वह एक बड़े ग्राम ओझवलिया का ही एक हिस्सा था। द्विवेदीजी का कुल अपने गाँव में ज्योतिष विद्या के लिए विख्यात था। इनके प्रपितामह ने २८ वर्ष तक काशी में रहकर ज्योतिष का अध्ययन किया था। इनके पिता पं० अनमोल द्विवेदी भी बड़े अध्ययनशील व्यक्ति थे। इस प्रकार विद्याध्ययन इन्हें वंश-परम्परा में ही मिला था। सन् १९२७ ई० में द्विवेदीजी का विवाह श्रीमती भगवती देवी के साथ हुआ था जिनसे द्विवेदीजी की सात संतानें हैं—चार पुत्र और तीन पुत्रियाँ।

द्विवेदीजी की प्रारम्भिक शिक्षा इनके चाचा श्री बाँके दूबे की देखरेख में हुई। उनके चाचा बड़े ही साहित्य प्रेमी थे। श्री मैथिलीशरण गुप्त का 'भारत भारती' एवं 'जयद्रथ बध' काव्य उन्होंने द्विवेदीजी को बचपन में ही याद करा दिया था। सन् १९२० बसरियापुर के मिडिल स्कूल से उन्होंने प्रथम श्रेणी में मिडिल स्कूल की परीक्षा पास की। मिडिल स्कूल पास करने के बाद गाँव के निकट ही पराशर ब्रह्मचर्य आश्रम में उन्होंने संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ किया। तुलसी कृत रामचरित मानस का वे नित्य पाठ करते थे। पं० तुलसी राम के दर्शनों का अनुवाद, उपनिषद् की टीकाएँ, महाभारत के कई पाठ वे पढ़ गये थे। द्विवेदीजी का आरम्भिक जीवन बड़ी ही विपन्नता में बीता। आगे ज्ञानार्जन के लिए द्विवेदीजी संवत् १९८० में काशी आये। इस समय तक द्विवेदीजी को 'लघु सिद्धान्त कौमुदी' पूरी तरह कंठस्थ हो गयी थी। उन्हें १५ रुपये महीने की बिरला छात्र-वृत्ति भी मिलती थी। सन् १९२३ में द्विवेदी जी ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १९२९ ई० में उन्होंने संस्कृत साहित्य में शास्त्री और १९३० में ज्योतिष विषय लेकर शास्त्राचार्य की उपाधि पायी। द्विवेदीजी ने शास्त्री एवं आचार्य की परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कीं। आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद संघर्ष करते हुए द्विवेदीजी ने सन् १९२७ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से 'एडमिशन' (हाई स्कूल) एवं सन् १९२९ ई० में इण्टरमिडिएट परीक्षा पास की। इसके बाद बी० ए० करने का प्रयास करते रहे किन्तु आँख की बीमारी के कारण वे आगे न पढ़ सके।

८ नवम्बर सन् १९३० को शान्ति निकेतन में हिन्दी अध्यापक के रूप में द्विवेदी-जी ने कार्य आरम्भ किया। हरिऔधजी ने शान्ति निकेतन की रेक्टर आशा देवी से द्विवेदीजी का परिचय ऐसे प्रभावशाली ढंग से दिया था कि उनको द्विवेदीजी को

शान्तिनिकेतन बुलाना ही पड़ा। शान्तिनिकेतन में ही द्विवेदीजी गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर, आचार्य क्षितिमोहन सेन, आचार्य नन्दलाल वसु, आचार्य गुरुदयाल मल्लिक, आचार्य विधुशेखर शास्त्री आदि के निकट सम्पर्क में आये। शान्तिनिकेतन के ज्ञानमय वातावरण में द्विवेदीजी को अपने पाण्डित्य के संस्कार का सुअवसर मिला। यहीं वे सी० एफ० एण्ड्रूज एवं बनारसी दास चतुर्वेदी से मिले। शान्तिनिकेतन में आचार्य द्विवेदी २० वर्षों तक हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे। यहाँ कार्य करते हुए वे अंग्रेजी, हिन्दी, बंगला आदि के विद्वानों के सम्पर्क में आये और इनसे प्रभावित हुए।

शान्तिनिकेतन में रहते हुए द्विवेदीजी ने 'अभिनव भारती' ग्रन्थमाला का सम्पादन (कलकत्ता १९४०-४६ तक) किया। उन्होंने १९४० ई० में बंगीय हिन्दी परिषद् में दो व्याख्यान तथा हिन्दी विद्यापीठ देवघर में समावर्तन भाषण किया। विश्वभारती पत्रिका का सम्पादन द्विवेदीजी ने सफलतापूर्वक (१९४१-१९४७ तक) किया। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कराची अधिवेशन (१९४६) की साहित्य परिषद के वे अध्यक्ष रहे। द्विवेदीजी अखिल भारतीय ओरि-एण्टल कान्फ्रेन्स दरभंगा अधिवेशन (१९४८) के हिन्दी विभाग के सभापति भी रहे। वे हिन्दी भवन विश्वभारती के १९४५-५० तक संचालक रहे। सन् १९४९ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय ने द्विवेदीजी को सम्मानार्थ 'डाक्टर आफ लिट्रेचर, की उपाधि प्रदान की।

शान्तिनिकेतन में द्विवेदीजी ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। सर्वप्रथम उनका 'सूर साहित्य' प्रकाशित हुआ जिसे इन्दौर साहित्य समिति द्वारा १९४० में स्वर्ण-पदक से सम्मानित किया गया। यहीं रहकर उन्होंने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' लिखी। इसके पश्चात् सन् १९३४ में 'नख दर्पण में हिन्दी कविता' नामक छोटी-सी पुस्तक प्रकाशित हुई। इसके बाद द्विवेदीजी की प्रसिद्ध रचना 'कबीर' लिखी गयी जिसपर हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा मंगलाप्रसाद पुरस्कार प्रदान किया गया। द्विवेदीजी के ३७ निबन्धों का संग्रह 'मध्यकालीन धर्म साधना' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसके बाद उन्होंने 'सूर और उनका काव्य' नामक पुस्तिका लिखी। द्विवेदीजी की अमर कृति 'बाणभट्ट की आत्मकथा' इसके बाद लिखी गयी, जो हिन्दी साहित्य की अनुपम रचना है। यह उपन्यास काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा 'द्विवेदी स्वर्ण-पदक' से सम्मानित किया गया। प्रसिद्ध शोधात्मक ग्रन्थ 'नाथ सम्प्रदाय' भी यहीं लिखा गया। यह ग्रन्थ उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत हुआ। 'मेघदूत—एक पुरानी कहानी' की रचना भी द्विवेदीजी ने की। इन पुस्तकों के अतिरिक्त द्विवेदीजी ने अनेक निबन्ध समय-समय पर लिखे। 'अशोक के फूल', 'विचार और वितर्क', 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ' आदि निबन्ध संग्रह भी क्रमशः प्रकाशित हुए। इन

निबन्ध संग्रहों के अतिरिक्त द्विवेदीजी ने कई ग्रन्थों का अनुवाद भी किया है। 'प्रबन्ध-चिन्तामणि', 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' आदि ग्रन्थों का अनुवाद द्विवेदीजी की प्रतिभा के प्रमाण हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी १९५० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष के पद पर नियुक्त हुए। सन् १९५० में उनकी पुस्तक 'साहित्य का साथी' लिखी गयी। द्विवेदीजी (१९५०–५३ तक) विश्वभारती विश्वविद्यालय की एक्जक्यूटिव कौंसिल के सदस्य रहे। लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित 'साहित्य के मर्म' (१९५०) पर उनके तीन व्याख्यान भी हुए। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के वे १९५२–५३ में अध्यक्ष रहे। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना में हिन्दी साहित्य के आदिकाल पर पाँच व्याख्यान सन् १९५२ ई० में उन्होंने दिया। इन निबन्धों का संग्रह 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' नाम से प्रकाशित हुआ। प्रवासी बंग साहित्य सम्मेलन के पटना अधिवेशन १९५२ के सम्पूर्ण भारतीय साहित्य विभाग के अध्यक्ष रहे। साहित्य अकादमी दिल्ली की साधारण सभा और प्रबन्ध समिति तथा हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद और अनेक विश्वविद्यालयीय एकेडमी कौंसिलों के वे सदस्य रहे। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के हस्तलेखों की खोज उन्होंने १९५२ में की। उन्होंने साहित्य अकादमी से प्रकाशित नेशनल बिबलियोग्राफी (१९५४) का निरीक्षण भी किया। रवीन्द्र भारती वाराणसी, के १९५३ के वे अध्यक्ष रहे। अखिल भारतीय हिन्दी परिषद के १९५५ में अध्यक्ष रहे। सन् १९५५ में ही द्विवेदीजी राज भाषा आयोग के राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत सदस्य बने। इसी वर्ष अलीगढ़ विश्वविद्यालय में उन्होंने कबीर पर व्याख्यान दिया। सन् १९५७ में राष्ट्रपति द्वारा 'पद्मभूषण' उपाधि से वे सम्मानित हुए। उपर्युक्त जिम्मेदारियों को वहन करने के बाद भी आचार्य की साहित्य साधना चलती रही। इन वर्षों में उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। 'हिन्दी साहित्य' की रचना काशी में ही हुई। 'कल्पलता', 'विचार प्रवाह' निबन्ध संग्रह सन् १९५९ में प्रकाशित हुए। इनके अतिरिक्त द्विवेदी-जी ने कई ग्रन्थों का सम्पादन भी किया। 'संक्षिप्त 'पृथ्वीराज रासो' का सम्पादन द्विवेदीजी ने अपने शिष्य डा० नामवर सिंह के साथ किया। संदेशरासक का संपादन उन्होंने डा० विश्वनाथ त्रिपाठी के साथ किया। द्विवेदीजी का तीसरा सम्पादित ग्रन्थ 'नाथ सिद्धों की वाणियाँ' नाम से प्रकाशित हुआ जिसमें २४ नाथ सिद्धों की रचनाएँ संपादित हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आचार्य द्विवेदी को बहुत सम्मान मिला किन्तु वे विश्वविद्यालयीय राजनीति के शिकार हुए। विश्वविद्यालय के एक समुदाय ने उनका जमकर विरोध किया फलत: उन्हें विश्वविद्यालय छोड़ना पड़ा।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय छोड़ने के बाद द्विवेदीजी ने पंजाब विश्वविद्यालय

चण्डीगढ़ के हिन्दी प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष पद को सुशोभित किया। वहाँ वे १९६० से १९६७ तक टैगोर प्रोफेसर के रूप में रहे। सन् १९६२ में उन्हें साहित्य अकादमी द्वारा टैगोर पुरस्कार प्राप्त हुआ। यहीं उनका 'कुटज' निबन्ध प्रकाशित हुआ। 'कालिदास की लालित्य योजना' 'कुटज' के बाद की रचना है। सन् १९६३ में उनका दूसरा उपन्यास 'चारुचन्द्रलेख' प्रकाशित हुआ। इनके अतिरिक्त 'संतों का सूक्ष्म वेद', 'अपभ्रंश का रसात्मक साहित्य' आदि अनेक छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ लिखीं। सन् १९६७ में पुनः द्विवेदीजी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष होकर लौटे। कुछ दिनों बाद उनकी नियुक्ति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रेक्टर पद पर हो गयी।

द्विवेदीजी की नियुक्ति रेक्टर पद पर दिनांक ४।३।६८ को हुई और वे लगभग दो वर्षों तक इस पद पर कार्य करते रहे। जब वे दिनांक २५।२।७० को रेक्टर के पद से मुक्त हुए तो विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति के आग्रह पर उन्होंने कुछ दिनों तक हिन्दी के ऐतिहासिक व्याकरण के अधूरे कार्य को पूरा करने में योगदान दिया। हिन्दी के ऐतिहासिक व्याकरण की योजना काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग को केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय से उस समय मिली थी जब कि द्विवेदीजी चण्डीगढ़ जाने के पूर्व काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष थे। कुछ ही महीनों बाद उन्होंने उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के अध्यक्ष पद का भार सम्हाला और उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान के उसमें अन्तर्भुक्त हो जाने के पश्चात् वे इस संस्थान के उपाध्यक्ष बने। इसी बीच उनकी दो महत्वपूर्ण औपन्यासिक कृतियाँ 'पुनर्नवा' (१९७३ ई०) और 'अनामदास का पोथा' (१९७६ ई०) प्रकाशित हुईं। 'अनामदास का पोथा' को कई खण्डों में प्रकाशित करने की द्विवेदीजी की योजना उनके आकस्मिक निधन के कारण फलीभूत नहीं हुई। साथ ही तुलसीदास पर चल रहा उनका कार्य भी हिन्दी जगत के सामने आने से रह गया। उत्तरोत्तर गिरते हुए स्वास्थ्य के कारण वे एकाधिक बार काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सर सुन्दरलाल चिकित्सालय में भरती हुए और अन्तिम दौर में गंभीर रूप से अस्वस्थ हो जाने के कारण उन्हें चिकित्सार्थ दिल्ली के भारतीय चिकित्सा संस्थान में ले जाया गया, जहाँ प्रयत्न करके भी उन्हें बचाया नहीं जा सका। १८ मई १९७९ ई० को भारत की राजधानी में आचार्य द्विवेदी ने अपने को महाकाल के हवाले कर दिया।

२ | उपन्यासों का सांस्कृतिक परिवेश

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के चार उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९४६), 'चारुचन्द्रलेख' (१९६३), 'पुनर्नवा' (१९७३) और 'अनामदास का पोथा' (१९७६) क्रम से हर्षवर्द्धन कालीन, मध्ययुगीन, गुप्तकालीन एवं प्राग् इतिहास-कालीन भारतीय संस्कृति की सजीव झाँकी प्रस्तुत करते हैं। प्राग् इतिहासकालीन भारतीय संस्कृति से लेकर गहड़वार नरेश, जयतिचन्द्र (जयचन्द) की पराजय के बाद के समय (लगभग ११९५–१२२० ई० तक) की भारतीय संस्कृति की झाँकी प्रस्तुत करना द्विवेदीजी के उपन्यासों का प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है। इस दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो रचनाक्रम में 'अनामदाम का पोथा', 'पुनर्नवा', 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' को आना चाहिए था। द्विवेदीजी ने लगता है रचनाक्रम को दो किस्तों में बाँठ दिया है और उन्होंने लेखन की शुरुआत नीचे से की। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' पहली किस्त में और 'पुनर्नवा' तथा 'अनामदास का पोथा' दूसरी किस्त में सामने आये। पहली किस्त में तो हर्षवर्द्धनकालीन भारत और मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के चित्रण में बाणभट्ट की आत्मकथा और चारुचन्द्रलेख के रूप में इतिहास का क्रम बना रहा, पर दूसरी किस्त में 'अनामदास का पोथा' के साथ 'पुनर्नवा' की रचना पहले हुई और ऐतिहासिक क्रम का निर्वाह सम्भव नहीं हो पाया। लगता है दीर्वकाल तक अतीतकालीन भारतीय संस्कृति को लेकर आचार्य द्विवेदी का अध्ययन-मनन एवं मंथन चलता रहा और वे अपनी औपन्यासिक कृतियों के द्वारा उस संस्कृति को उसकी सम्पूर्णता में प्रस्तुत करना चाहते थे। अतः नीचे की सीढ़ियों से चलकर ही शिखर तक पहुँचना सम्भव होता है।

इतिहास के विकास-क्रम में आरम्भ को मैं शिखर की संज्ञा दे रहा हूँ जिससे मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है कि प्रागैतिहासिक काल की संस्कृति के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी अपेक्षाकृत कम सुलभ है। अतः प्राप्त इतिहास के प्रामाणिक सूत्रों की सहायता से अनजान क्षितिज का उद्घाटन करने का जो प्रयास द्विवेदीजी ने 'अनामदास का पोथा' के रूप में किया उससे उनकी वैज्ञानिक शोध-दृष्टि का परिचय मिलता है। यही कारण है कि उनके ऐतिहासिक अथवा इतिहासाश्रित

उपन्यास शृंखलाबद्ध कालक्रम के अनुसार प्रस्तुत न होकर किंचित् व्यवधान के साथ प्रस्तुत हुए। इस प्रकार आचार्य द्विवदी ने जिस काल को अपने उपन्यासों का उपजीव्य बनाया है उसका सम्बन्ध हमारे अतीतकालीन भारत की सामन्ती संस्कृति से है। उन्होंने अपने व्यापक अध्ययन एवं अद्भुत रचनात्मक मौलिक प्रतिभा के कारण अतीत में बिखरे सूत्रों को जोड़कर एक ऐसी प्रेरणादायिनी दृढ़ भित्ति का निर्माण किया है कि जिसकी टेक लेकर वर्तमान पीढ़ी अपनी भावी जययात्रा का सफल अभियान कर सकती है। इतिहास ही किसी देश अथवा जाति की सम्पत्ति होता है। इतिहास में हुई भूलों एवं सफलताओं को सामने रखकर किसी भी जाति को अपने कर्तव्य की भावी रूप-रेखा निश्चित करने में सहायता मिलती है। द्विवेदीजी आशावादी प्रगतिशील साहित्यकार हैं जिससे मानव के पराभव की आशंका से ही वे विचलित हो जाते हैं। उसके सद्गुणों एवं महती शक्ति पर से उनकी आस्था कहीं भी डिगती नहीं जान पड़ती। वे उसकी हीनावस्था का अनुभव करते हुए भी उसकी अतीत गरिमा का स्मरण दिलाकर उसे जातीय गौरव के अनुकूल बनाने की कामना करते रहते हैं। अपने साहित्य के माध्यम से उन्होंने यह जो महत् कार्य किया है उसमें उनके सांस्कृतिक परिवेश में लिखा ऐतिहासिक उपन्यासों ने सर्वाधिक योगदान किया है।

सांस्कृतिक ऐतिहासिक उपन्यासों के माध्यम से देशीय एवं जातीय संस्कृति तथा परम्परागत मान्यताओं का वर्तमान सामाजिक हित में चित्रण किया जाता है। यों तो यह प्रायः सभी ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रिय विषय है पर इस प्रकार के उपन्यासों में ऐतिहासिक पुरुषों एवं घटनाओं का केवल साक्ष्य भर लिया जाता है। उपन्यासकार के विषय-संग्रह के स्रोत ऐतिहासिक तथ्यात्मक घटनायें ही न होकर तत्कालीन साहित्य तथा लोक-जीवन को अनुप्राणित करती हुई चली आती किंवदन्तियाँ एवं आचार-विचार हुआ करते हैं, जिनका सजीव चित्रण वह अपनी कल्पना-शक्ति के माध्यम से करता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में आये प्रमुख पात्रों में बाणभट्ट सम्राट् हर्षवर्द्धन तथा राजश्री जैसे कुछ पात्रों को छोड़कर शेष पात्र उपन्यासकार की कल्पना की उपज हैं। जिन घटनाओं एवं परिस्थितियों की सहायता से उपन्यास का कलेवर निर्मित है, उनके उपजीव्य ऐतिहासिक घटनाएँ न होकर सामाजिक एवं सांस्कृतिक घटनाएँ हैं जिन्हें प्रस्तुत करने में द्विवेदीजी ने तत्कालीन काव्य में प्राप्त सामग्री से सहायता ली है, जो उस काल की सांस्कृतिक झाँकी प्रस्तुत करने की दिशा में एकमात्र प्रामाणिक सामग्री के रूप में स्वीकार की जा सकती है। 'चारुचन्द्र लेख' के प्रमुख पात्र सातवाहन तथा रानी चन्द्रलेखा की ऐतिहासिकता सन्दिग्ध है। कथा में रंग भरनेवाले विद्याधर तथा जल्हण जैसे एकाध नाम उपन्यास में आये हैं जो उपन्यास की घटनाओं को इतिहास से जोड़ने का असफल प्रयत्न करते हैं, अन्यथा उस काल में प्राप्त धार्मिक विषमता, राजनैतिक विशृंखलता, वज्रयानी सिद्धों तथा नाथपंथी

योगियों की तन्त्र-मन्त्र साधना और अभिचार आदि के चमत्कार के वर्णन में ही उपन्यासकार ने अपनी काल्पनिक प्रतिभा का सर्वाधिक उपयोग किया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से पुनर्नवा के पात्र सर्वाधिक विवादग्रस्त हैं। समुद्रगुप्त को छोड़कर इस उपन्यास का कोई भी ऐसा पात्र नहीं है, जिसे ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिकता प्रदान की जा सके। इसके प्रमुख पात्र गोपाल आर्यक, श्यामरूप, देवरात और मातृगुप्त या तो लोकप्रचलित कथाओं से ले लिये गये हैं अथवा उनकी ऐतिहासिक संगति के साथ मनमानी की गयी है। उपन्यासकार द्विवेदीजी ऐसे सन्दर्भ में उन्हीं पात्रों को अपनी कृतियों में उतारते हैं जिनकी उपस्थिति-काल के सम्बन्ध में इतिहासकार एकमत नहीं हैं। उदाहरण के लिए मातृगुप्त को लिया जा सकता है। मातृगुप्त और कालिदास में द्विवेदीजी ने अभेद स्वीकार किया है और कालिदास के रचनाकाल के सम्बन्ध में आज भी इतिहासकार एकमत नहीं हो सके। इसी प्रकार नारी पात्रों को भी ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक मान पाना कठिन है। मंजुला, मृणाल, चन्द्रा, मदनिका, धूता और वसन्तसेना इतिहास से नहीं बल्कि लोकगाथाओं एवं संस्कृत साहित्य से लिये' गये हैं और देशकाल की सीमाओं का भी उपन्यासकार ने अतिक्रमण किया है। इससे स्पष्ट होता है कि इस उपन्यास में द्विवेदीजी की दृष्टि भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग की संस्कृति की ओर इतिहास की अपेक्षा अधिक रही है और वे कुछ ऐसे सामाजिक प्रश्नों को उठाना चाहते हैं जिनके माध्यम से उस काल की संस्कृति को आधुनिक सन्दर्भों में व्याख्यायित किया जा सके। भारतीय संस्कृति में जड़ीभूत सामाजिक विश्वासों एवं रस्म-रिवाजों के कारण जो गतिहीनता आ गयी थी उसे गतिशीलता प्रदान करने के लिए उन्होंने जनमानस में बिखरे पात्रों को देशकाल की सीमाओं का ध्यान किये बिना समुद्रगुप्त नामक ऐतिहासिक पात्र के साथ ला जोड़ा और अपनी रचना को ऐतिहासिक संगति प्रदान करते हुए प्रस्तुत सांस्कृतिक चेतना के द्वारा वे स्पष्ट करना चाहते हैं कि किसी भी युग को स्वर्णयुग बनाने के लिए किन सांस्कृतिक मूल्यों की अपेक्षा है। यदि ऐसा न होता तो वे सम्राट् समुद्रगुप्त के जीवन की प्रामाणिक घटनाओं को भी अपने उपन्यास का उपजीव्य बनाते। पर वे ऐतिहासिक तथ्यों से जुड़कर अपनी कल्पना को कुण्ठित करने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने इस उपन्यास में ऐतिहासिक काल का आभास मात्र ही देना चाहा है। अन्यथा वे समुद्रगुप्त के जीवन को ऐसी घटना को ही केन्द्र में न रखते जिसकी पुष्टि आज भी इतिहास में नहीं हो सकी है। नारी-शरीर को देव-मन्दिर समझनेवाले आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पतिताओं में भी सद्गुणों का समावेश भलीभाँति करते हैं जिसे उनके सभी उपन्यासों में सहज ही देखा जा सकता है। स्त्रियाँ पतित नहीं होतीं, पतित होता है पुरुष जिसका अभिशाप स्त्रियों को ढोना पड़ता है। इस उपन्यास में तो द्विवेदीजी ने सारे जड़ीभूत सामाजिक एवं जातीय बन्धनों को तोड़ डाला है, उस सामाजिक मान्यता

को निरस्त कर दिया है कि एक पति अथवा प्रेमी के साथ दो पत्नी अथवा प्रेमिकाएँ सौहार्द्रपूर्वक नहीं रह सकतीं। वे रहती हैं और अपने ऐसे औदात्य का परिचय भी देती हैं कि जिससे आदर्श समर्पण का कीर्तिमान बनता है। दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर देना द्विवेदीजी की दृष्टि में भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड रहा है और इस उपन्यास के सभी नारी पात्र अपने को निचोड़कर दे देने में कोई कोर-कसर नहीं रखते। इस प्रकार पुनर्नवा की समूची चेतना उस भारतीय संस्कृति की वाहिका है जो सामाजिक जीवन को व्यवस्थित एवं सुन्दर ढंग से जीवनयापन करने का मार्ग प्रशस्त करती है।

'अनाभदास का पोथा' ऐतिहासिक उपन्यास न होकर एक प्रागऐतिहासिक उपन्यास है। आचार्य द्विवेदीजी भी इसे उपन्यास नहीं मानते थे और इस पोथी को पोथा इसलिए कहा कि अभी इसे वे और कई खण्डों में प्रस्तुत करना चाहते थे। हिन्दी जगत को आनेवाली इस श्रृंखलाबद्ध कृति से वंचित रहना पड़ा क्योंकि वे हमारे बीच नहीं रहे। हम इसे उपन्यास की ही संज्ञा देंगे क्योंकि द्विवेदीजी ने अपने सभी उपन्यासों के द्वारा हिन्दी उपन्यास जगत में एक अपनी अलग पहचान बनायी है।

इस उपन्यास के कुछ पात्र तो उपनिषदों से उठा लिये गये हैं और कुछ उपन्यासकार की कल्पना की उपज हैं। यह नितान्त एक सांस्कृतिक उपन्यास है जिसके माध्यम से प्राग् इतिहासकालीन इतिहास की सांस्कृतिक व्याख्या कर उसे प्राप्त इतिहास की मूलधारा से जोड़ने का प्रयास किया गया है। इसके प्रमुख पात्र रैक्व, जानश्रुति, मामा, जाबाला, ऋतम्भरा आदि को द्विवेदीजी ने जो नया संदर्भ देने का सफल प्रयत्न किया है उससे एक ऐसी संस्कृति उभरकर सामने आती है जो भारतवर्ष के लिए कभी भी अपरिचित नहीं रही। द्विवेदीजी निवृत्ति मार्गी संस्कृति को अपने साहित्य में कहीं महत्व देते नहीं जान पड़ते। प्रवृत्ति मार्गी संस्कृति को कतिपय संशोधनों के साथ वे आदर्श रूप में प्रस्तुत करने के पक्षधर हैं। स्वस्थ गार्हस्थ जीवन का प्रबल समर्थन द्विवेदीजी ने अपने सभी उपन्यासों में किया है। गार्हस्थ जीवन में भी वे भोगवादी संस्कृति का कहीं भी समर्थन करते नहीं दीखते बल्कि गार्हस्थ धर्म के निर्वाह को वे तापस की कठिन साधना से दुष्कर मानते हैं। वे तप को नहीं, बल्कि जीवन को सत्य के रूप में स्वीकृति प्रदान करते हैं पर उसी जीवन को वे सार्थक मानते हैं जो सामाजिक हित में अपना सर्वस्व लुटा सके। स्त्री और पुरुष मिलकर छोटी गृहस्थी में समान इकाई का निर्माण करते हैं। इसी गार्हस्थ जीवन से सामाजिक औदात्य का महल बनता है जिसमें स्त्री और पुरुष समान रूप से अपना योगदान देते हैं। वे जनक संस्कृति के पक्षधर हैं जो भोग में भी योग को अन्तर्भुक्त करने की क्षमता

रखती है। 'अनामदास का पोथा' इसी संस्कृति का पोषक है और अपने समस्त उपन्यासों में नर-नारी के स्वस्थ सहज आकर्षण को चित्रित करनेवाले द्विवेदीजी इस उपन्यास में विवाह के स्थान पर उद्वाह को स्वीकृति प्रदान करते हैं। इस प्रकार नर-नारी के प्रेम को भोग की संकीर्णता से मुक्त कर उन्होंने उसे त्याग की व्यापकता तक पहुँचाने का सफल प्रयास किया है। वैवाहिक जीवन के अभाव में नर-नारी का उदात्त सामाजिक सहयोग आधुनिक संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है जिसकी ओर जयशंकर प्रसाद ने अपने स्कन्दगुप्त नाटक में स्कन्द और देवसेना के माध्यम से तथा मुंशी प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास गोदान में मेहता और मालती के नाम से संकेतित किया है। प्रसाद कृत कामायनी की श्रद्धा के रूप में 'अनामदास का पोथा' की जाबाला मनरूपी रैक्व को दुखी-पीड़ित मानता की सेवा में प्रवृत्त करती है और यह समूचा उपन्यास प्रसाद की इस पंक्ति की व्याख्या करता जान पड़ता है— 'तप नहीं, केवल जीवन सत्य'। इस प्रकार द्विवेदीजी ने इस उपन्यास के माध्यम से जिस प्राक् इतिहासकालीन संस्कृति का स्वरूप निर्मित किया है उससे उनके उपन्यासों के द्वारा अतीतकालीन भारत की शृंखलाबद्ध सांस्कृतिक चेतना का इतिहास प्रस्तुत हुआ है।

द्विवेदीजी ने संस्कृति को संकीर्ण अर्थों में न लेकर उसके व्यापक स्वरूप को ही स्थान दिया है। हिन्दी में 'संस्कृति' अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' का पर्याय हो गया है और उसका प्रयोग कम से कम संकीर्ण एवं व्यापक दो अर्थों में होता है। जिस संस्कृति को द्विवेदीजी ने महत्व प्रदान किया है, वह संकीर्ण नहीं बल्कि व्यापक संस्कृति है। इस प्रकार संस्कृति समस्त सीखे हुए व्यवहार—'उस व्यवहार का नाम है जो सामाजिक परम्परा से प्राप्त होता है। इस अर्थ में संस्कृति को सामाजिक प्रथा 'कस्टम' का पर्याय भी कहा जाता है। संकीर्ण अर्थ में संस्कृति एक वांछनीय वस्तु मानी जाती है और संस्कृत व्यक्ति एक श्लाघ्य व्यक्ति समझा जाता है। इस अर्थ में संस्कृति प्रायः उन गुणों का समुदाय समझी जाती है जो व्यक्तित्व को परिष्कृत एवं समृद्ध बनाते हैं।[1]' वाणभट्ट की आत्म कथा' में हर्षकालीन भारत में प्राप्त सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक गति-विधियों का बड़ा ही सरस वर्णन मिलता है। देश में लोग ब्राह्मणों का कितना अधिक सम्मान करते थे, उसका कुछ न कुछ आधार तो हमें 'वाण' से प्राप्त ही हो जाता है। ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में वह जो कुछ भी कहता है, उससे स्मृतियों के दृष्टिकोण का समर्थन होता है। 'बाणभट्ट'कृत 'हर्षचरित' में एक स्थान पर आता है (असंस्कृतमतयोपि जात्येव द्विजन्मनोमाननीयाहर्षचरित पृ० १८) कि जो केवल जन्म से ब्राह्मण है, परन्तु बुद्धि संस्कार से रहित है, वे भी

१—हिन्दी साहित्यकोश, पृ० ८०१।

माननीय हैं। 'निपुणिका' और 'भट्टिनी' का बार-बार यह कहना कि बाणभट्ट तुम ब्राह्मण हो न ? तथा बाणभट्ट को प्रथम भोजन कराकर ही अन्न ग्रहण करना और उसे एक ब्राह्मणोचित सत्कार देने के लिए सदैव प्रस्तुत रहना आदि उस युग में स्वीकृत ब्राह्मणों को सामाजिक श्रेष्ठता का प्रमाण है। निश्चित ही यह एक सामाजिक शिष्टाचार है, जो भारतीय संस्कृति का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग रहा है। 'चारुचन्द्रलेख' में भी धीरशर्मा और विद्याधर राजा सातवाहन और रानीचन्द्रलेखा द्वारा जिस सम्मान और आदर के अधिकारी माने गये हैं, उससे भी इसी सांस्कृतिक चेतना का परिचय मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय संस्कृति के नियमन में ब्राह्मणों का वर्चस्व रहा है, पर 'द्विवेदीजी' इस वर्चस्व को एक सीमा तक ही स्वीकार करने को प्रस्तुत हैं। कर्म को प्रधानता देने के कारण मात्र जन्म से ही ब्राह्मण को वे आदर का अधिकार देने को प्रस्तुत नहीं। आदर को सामाजिक सुव्यवस्था का एक अंग स्वीकार करते हुए धर्म-कर्मच्युत ब्राह्मण की अपेक्षा वे ऐसे किसी भी पौरुषवान व्यक्ति को आदर देने की बात करते हैं जिसके द्वारा लोकहित और सामाजिक सुव्यवस्था को प्रश्रय मिलता है। अपने 'पुनर्नवा' उपन्यास में 'द्विवेदीजी' ने ब्राह्मण के स्थान पर पौरुष और सद्गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को प्रतिष्ठित किया है। इस प्रकार धार्मिक दुराग्रह से मुक्त संस्कृति को ही वे समीचीन मानते हैं। चाहे ब्राह्मण हो अथवा साधु हो, किसी को भी केवल अपनी सुख-सुविधा के लिए आदरणीय बने रहने की छूट भारतीय संस्कृति में नहीं है। 'पुनर्नवा' में वे स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि 'साधुओं में सब अच्छे नहीं होते। मैंने अनेक मण्ड साधु देखे हैं। उन्हें घायल करने के लिए कटाक्ष-बाण से वेधने की भी जरूरत नहीं होती। स्त्री-शरीर की गन्ध ही उन्हें बेहोश कर देती है'[1]। भारतीय संस्कृति का यह मूल मन्त्र रहा है कि वह स्व की अपेक्षा पर की हित-कामना की पक्षधर रही है। 'अनामदास का पोथा' का यही मूल सांस्कृतिक प्रतिपाद्य है कि 'जो अपने आपकी सुख-सुविधा का ध्यान न रखकर दूसरों के दुःख दूर करने का प्रयत्न करता है, सत्य से च्युत नहीं होता, दूसरों का कष्ट दूर करने के लिए अपना प्राण तक त्याग सकता है, वही धार्मिक है'[2]। धर्म की इस उदार व्याख्या के बल पर जो इतिहास में समय-समय होती रही, भारतीय संस्कृति सतत् प्रवहमान रहा और अनेक झंझावातों को झेलती हुई आगे बढ़ती गयी है।

सामाजिक कुरीतियों का भी विस्तारपूर्वक वर्णन यथास्थान पर द्विवेदी जी के उपन्यासों में मिलता है। मानव-मानव में भेद डालनेवाली संस्कृति देश और समाज को किसी न किसी दिन गर्त में ढकेलकर ही रहती है। जब-जब सामाजिक कुरीतियों ने जोर पकड़ा है, देश कमजोर हुआ है, इतिहास इस बात का साक्षी है। द्विवेदी जी

१—पुनर्नवा, पृ० १८८।
२—अनामदास का पोथा, पृ० ६४।

के उपन्यास देशकाल के चित्रण में जब गतिशील होते हैं तो प्रतिकूल और अनुकूल सामाजिक प्रवृत्तियों और उनके परिणामों को स्पष्ट खोलकर रख देते हैं कि जिस से प्रबुद्ध पाठक को सही निर्णय तक पहुँचने में किसी भी प्रकार की कठिनाई का सामना न करना पड़े। छुआछूत का रोग हर्षकालीन भारत में अपनी पराकाष्ठा पर था। 'ह्वेनसांग' के अनुसार 'कसाई', 'मेहतर', 'जल्लाद' तथा नट आदि के निवास-स्थानों पर पहचान के चिह्न लगा दिये गये थे और वे नगर से बाहर रहने के लिए बाध्य थे तथा गाँवों में जाते समय बायीं ओर दबकर चलना उनके लिए अनिवार्य था। बाण कृत 'कादम्बरी' में जिस समय चाण्डाल कन्या ने सुग्गे को लेकर राजा शूद्रक के दरबार में प्रवेश किया उसने राजा को सचेत करने के लिए कुछ दूर से ही हाथ में लिए हुए जर्जरित वंशखण्ड को पीटा। इस समस्या का प्रवेश द्विवेदीजी ने अपने उपन्यास में कादम्बरीकार के रूप में नहीं कराया है। द्विवेदी जी प्राचीन संस्कृति के उसी रूप को ग्रहण करना चाहते हैं जो वर्तमान सामाजिक जीवन को स्वस्थ रूप प्रदान कर सके। अस्वास्थ्य कर सामाजिक कुरीतियों को संस्कृति के नाम पर स्वीकार कर लेना उनके लिए कठिन है और यहीं आकर हमें द्विवेदी जी की प्रगतिशीलता का परिचय मिल जाता है। समाज विरोधी वैयक्तिक स्वतन्त्रता को भी द्विवेदी जी ने कहीं भी अपना समर्थन नहीं दिया है। यही कारण है कि उन्होंने प्राचीन संस्कृति में प्राप्त अस्वस्थ परम्पराओं को अपने ढंग से स्वीकार कर उसे समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी बना दिया है। भट्टिनी और निपुणिका के आचारनिष्ठ व्यवहारों द्वारा जिस शुचिता की झाँकी मिलती है, वह और कुछ नहीं समाज में व्याप्त अवांछित छुआछूत का वांछित स्वरूप है। छुआछूत की अमानवीय कुप्रथा को द्विवेदी जी भारतीय संस्कृति का अंग नहीं मानते और उन्होंने 'पुनर्नवा' तथा 'अनामदास का-पोथा' नामक अपने उपन्यासों में छुआछूत की कुप्रवृत्ति से मुक्त होने का संकेत किया है।

अन्तर्जातीय विवाहों का उस समय अभाव था, पर कुछ न कुछ होते ही रहते थे। बहुपत्नीत्व की व्यापक प्रथा थी, इसका संकेत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' दोनों ही उपन्यासों में मिलता है जहाँ कहीं भी द्विवेदी जी ने इस प्रकार की दूषित सामाजिक प्रथाओं की चर्चा की है, उनका अभिप्राय केवल इतिवृत्तात्मक वर्णन प्रस्तुत करना नहीं रहा है बल्कि उनके कुपरिणामों से उन्होंने वर्तमान को आगाह करना चाहा है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में वर्णित राजमहल तथा छोटे कुल का जघन्य एवं अश्लील दृश्य तथा 'चारुचन्द्रलेख' में आये हिन्दू शासकों के अन्तःपुरों का उल्लेख इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। न जाने कितनी देवियों के जीवन का सर्वनाश इस दूषित प्रथा द्वारा हुआ है—चाहे वह महामाया रही हों अथवा नाटी माँ। द्विवेदी जी संस्कृति को सरिता को प्रवाह मानते हैं न कि तालाब

का बँधा हुआ जल जो सड़क पर दुर्गन्ध पैदा करता है और अन्ततः सूख जाता है। प्रवहमान संस्कृति समय-समय पर उत्पन्न जड़ीभूत रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों को लाँघती रहती है इसीलिए निर्मल एवं अविच्छिन्न रूप में वह जीवित रह भावी पीढ़ी को सुखी और सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन प्रदान करती है। अतः जहाँ-कहीं भी अवसर मिला है द्विवेदी जी ने अपने उपन्यासो में सामाजिक रूढ़ियों की निस्सारता प्रस्तुत की है। 'अनामदास का पोथा' में रैक्व ऋषि का विवाह, जिसे वे उद्वाह की संज्ञा देते हैं, राजकुमारी जाबाला से कराकर उन्होंने प्रागैतिहासिक काल में भी अन्तर्जातीय विवाह का औचित्य प्रतिपादित किया। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में तो राजकुमारी 'राजश्री' का अन्तर्जातीय विवाह एक ऐतिहासिक सत्य के रूप में प्रस्तुत है ही। 'पुनर्नवा' में नगर श्री गणिका मंजुला की पुत्री मृणाल से वृद्ध गोप के पुत्र गोपाल आर्यक के विवाह से अन्तर्जातीय विवाह को मान्यता मिली है। 'पुनर्नवा' में गोपाल आर्यक की एक साथ दो पत्नियों मृणाल और चन्द्रा का उल्लेख कर द्विवेदीजी ने बहु पत्नीत्व का समर्थन किया है। यह अवश्य है कि पुनर्नवा में प्रस्तुत बहुपत्नीत्व का प्रसंग सामन्ती अन्तःपुरों में प्राप्त बहुपत्नीत्व की अश्लील परम्परा से नितान्त भिन्न है। द्विवेदी जी भोग लिप्सा से प्रेरित हो स्त्रियों की भावनाओं का आदर किये बिना एकाधिक पत्नियों की सामन्ती सुविधा को घृणास्पद मानते हैं, यह संस्कृति के लिए कलंक है। पर परस्पर औदात्य प्रेम के धरातल पर बहुपत्नीत्व का समर्थन इसलिए करते हैं कि वे इसे अवैध यौनाचारों से श्रेष्ठ मानते हैं। द्विवेदी जी का यह दृष्टिकोण रहा है कि यथार्थ की उपेक्षा कर आदर्श की केवल लकीर पीटने से संस्कृति और समाज स्वस्थ नहीं रहेंगे। उसे प्रस्तुत परिस्थितियों के सन्दर्भ में अपने को बदलने के लिए तैयार रहना पड़ेगा। अतः वे बहुपत्नीत्व का समर्थन नारी हृदय के औदात्य को प्रस्तुत करने एवं सामाजिक विचारों से लोगों को विज्ञ होने के लिए ही करते हैं। मृणाल और चन्द्रा के परस्पर सौहार्द को चित्रित कर उन्होंने नारी के उस गरिमामय पक्ष को उजागर किया है जिसके द्वारा उसने यह प्रमाणित कर दिया है कि एक पुरुष के साथ दो पत्नियाँ सद्भावी बहनों की भाँति रह सकती हैं, भोग बुद्धि से नहीं बल्कि सेवा एवं त्याग की भावना से। यह एक ऐसा दृष्टिकोण है जो संस्कृति को निरन्तर पुनर्जीवन देने में सहायक है। पौरुषविहीन क्लीव पुरुष के गले बँधी पत्नी कभी भी सामाजिक मर्यादा को तोड़ सकती है, उसकी स्वाभाविक घुटन कभी भी गार्हस्थ-जीवन की गरिमा में विस्फोट कर सकती है और इससे संस्कृति में विघटन की प्रक्रिया का आरम्भ भी हो सकता है। द्विवेदी जी ने 'पुनर्नवा' की चन्द्रा के उस निर्णय का स्वागत किया है जिसके द्वारा उसने अपने क्लीव पति को त्यागकर गोपाल आर्यक को पति स्वीकारने का अदम्य साहस दिखलाया है। स्त्री-पुरुष के बीच स्वाभाविक उत्पन्न होनेवाले प्रेमाकर्षण को सांस्कृतिक दिशा देने की चेष्टा इस उपन्यास में सर्वत्र दीखती

है, जिसे हम मंजुला, चन्द्रा, मांदी और वसन्तसेना को सामने रखकर देख सकते हैं। प्रेम को भोग-वासना का कारण न मानकर उसे कर्तव्य भावना को प्रेरित करनेवाला एक आवश्यक तत्व स्वीकार करना द्विवेदी जी के उपन्यासों की सांस्कृतिक चेतना की महती उपलब्धि है। 'चारुचन्द्रलेख' की चन्द्रलेखा भी इसी प्रेरणा की वाहिका है, बाणभट्ट की भट्टिनी भी इसी प्रेरणा की स्रोत है और 'अनामदास का पोथा' की जाबाला तो समूची तापस संस्कृति को ही कर्मोन्मुख करने की शक्ति रखती है। भारतीय संस्कृति कभी भी नारी निन्दक नहीं रही है। स्वस्थ दृष्टि के अभाव में ही लोग प्रायः ऐसा आरोप लगाते देखे जाते हैं। द्विवेदी जी की दृष्टि में 'कोई' स्त्री यदि प्रेमपूर्वक निकट आती है तो उसका परित्याग नहीं करना चाहिए। विवाह सूत्र में आबद्ध होकर पवित्र दाम्पत्य व्रत का निर्वाह करना चाहिए। यह मत भूलना कि यह व्रत है। यह व्रत है[1]।'

प्रश्न यह उठता है कि वर्तमान के सन्दर्भ में विगत संस्कृति की चर्चा की उपयोगिता क्या है ? संस्कृति की व्याख्या करते हुए यह कहा जा सकता है कि यह जीवन को जीने योग्य बनाने का प्रमुख माध्यम है। इसी आधार पर हम विगत पीढ़ियों की सभ्यता पर विचार करते हुए यह कहकर उसकी अर्थवत्ता प्रमाणित करते हैं कि अच्छा होता वह संस्कृति बनी रहती। जिस संस्कृति की चर्चा द्विवेदी जी के उपन्यासों में हुई है उसका सम्बन्ध सामन्ती संस्कृति के वैभव और पराभव काल से है। निश्चित ही द्विवेदी जी को उस संस्कृति में कुछ ऐसे तत्व मिले हैं जिससे वर्तमान विषम घुटनशील जीवन को जीने योग्य बनाया जा सकता है। सामन्ती संस्कृति में भौतिक सुखों को महत्वपूर्ण स्थान मिला था, इसके कारण जिस प्रवृत्तिमार्गी भावना का उदय हुआ, उसकी प्रेरणा से मण्डन और अलंकरण की वृत्ति फूट निकली। इस वृत्ति का उद्गम राजन्य वर्ग की अन्तश्चेतना से था जिसने उसके सम्पूर्ण जीवन और परिवेश को अभिभूत कर दिया। बाणभट्ट की आत्मकथा में चित्रित और चारुचन्द्रलेख में आये उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि विवेच्यकाल की संस्कृति मानव जीवन के भौतिक सुख संग्रह की ओर अत्यधिक अग्रसर हो उठी थी और आध्यात्मिकता की उपेक्षा के कारण जो असन्तुलन आने लगा था, उसने समस्त भारतीय जन-जीवन को झकझोर दिया। ऐतिहासिक वास्तविकता को स्वीकार करते हुए द्विवेदी जी ऐसे प्रसंगों को नया अर्थ देने का प्रयत्न करते हैं। 'पुनर्नवा' की नगरश्री मंजुला इसी अलंकरण वृत्ति के कारण सहृदय लोगों के हृदय की रानी है—'सारे नगर में उसके रूप, शील, औदार्य और कलापटुता की धूम थी। बड़े-बड़े श्रेष्ठिकुमार उसकी कृपा कटाक्ष के लिए लालायित रहा करते थे। उनके नृत्य में मादकता थी और

१—अनामदास का पोथा, पृ० १४२।

कण्ठ में अमृत का रस। हलद्वीप में वह अत्यन्त अभिमानिनी गणिका के रूप में विख्यात थी और अपने विशाल शतखण्ड हर्म्य के बाहर बहुत कम जाती थी[1]। मंजुला के जीवन का यह एक मोहक पक्ष है जिसे विलासी आँखों ने देखा है, यह उसका जो दूसरा वास्तविक पक्ष है अन्तर्मन का, उसमें झांककर देखने का समय कम लोगों को मिलता है जिसके आधार पर ही संस्कृति के अलंकरण पक्ष का सर्वस्व निर्भर करता है। 'देवरात' के रूप में द्विवेदी जी ने उसे देखा ही नहीं है, उसकी शक्ति एवं आवश्यकता का अनुभव भी किया है—'मंजुला ने उस दिन बड़ा ही मनोहर नृत्य किया था। स्वयं राजा ने उसे उस नृत्य के लिए साधुवाद दिया था। देवरात भाव गद्गद होकर देर तक उस मादक नृत्य का आनन्द लेते रहे...... महाराज के साथ सम्पूर्ण राजसभा ने उल्लसित स्वर में 'साधु-साधु' की हर्षध्वनि की। देवरात निर्वात-निष्कम्प दीपशिखा की भांति निस्तरङ्ग जलाशय की भांति वृष्टिपूर्वक घन-घुम्मर मेघमाला की भांति स्थिर बने रहे। मंजुला ने गर्वपूर्वक उनकी ओर देखा। वे शान्त बने रहे[2]।'

राजदरबार के सभी लोग मंजुला को हृदय के आसन पर बैठाने के लिए उत्सुक हैं, पर वह उन्हें भुक्कड़ भेड़िये की संज्ञा देती है—'मंजुला सोचने लगी उसने देवरात को क्या गलत समझा था? पूरी राजसभा में वही तो एक सहृदय हैं जो रस का मर्मज्ञ है, बाकी तो भाँड़ हैं। ना, देवरात ही तो सच्चा पुरुष है। बाकी तो माँस के भुक्कड़ भेड़िये हैं? देवरात को परास्त करना होगा, मगर उसी के स्तर पर। उसे पसीना आ गया[3]।' कोमल वृत्तियों का यह स्वाभाविक संघर्ष सामन्ती संस्कृति को गरिमा प्रदान करनेवाला है न कि भुक्कड़ भेड़ियों की मांसल नोच-बकोट। उपन्यासकार बताना चाहता है कि नारी का जीवन किसी एक को सम्पूर्ण रूप से समर्पित होकर ही चरितार्थ होता है जिसे न समझने के कारण ही सामन्तीसंस्कृति में विकार आया और द्विवेदी जी अपने सांस्कृतिक उपन्यासों में ऐसे ही तत्वों को व्याख्यायित करते हैं कि जिससे अतीतकालीन समृद्ध संस्कृति वर्तमान सामाजिक जीवन को भी प्रेरणा देती रहे। सुरुचि एवं सौन्दर्य स्वस्थ संस्कृति का एक अविभाज्य अंग है जिसे सामन्ती संस्कृति ने सर्वाधिक महत्व दिया और यदि किंचित अतिरेक के कारण ही वह सांस्कृतिक विकृति का कारण भी बना जिसकी निस्सारता द्विवेदी जी ने अपने सभी उपन्यासों में स्वीकार की है। पर वे सौन्दर्य की शक्ति से अभिभूत हैं जिसके अभाव में स्वस्थ गार्हस्थ जीवन की परिणति को वे असम्भव मानते हैं। उन्होंने अपने 'अनामदास का पोथा' जैसे चिन्तनप्रधान उपन्यास में भी नारी-सौन्दर्य को एक ऐसी

१—पुनर्नवा, पृ० ११।
२. पुनर्नवा, पृ० १२।
३. वही, पृ० १५।

महती शक्ति के रूप में स्वीकार किया है, जो तापस संस्कृति की जड़ता को विखण्डित कर उसके प्रतीक 'रैक्व' को उदात्त गार्हस्थ जीवन की ओर उन्मुख कर कर्म की प्रेरणा देती है—'अहा हा, कैसा सुन्दर रूप है। सत्य कहता हूँ देवता, मैंने ऐसी सुन्दर आँखें पहले कभी नहीं देखी, तुम जब हँसते हो मुझे लगता है कि फूल बरस रहा है, तुम बोलते हो तो मुझे लगता है कि अमृत की वर्षा हो रही है। कैसा अद्भुत है[1]।' मोक्षकामी ऋषिकुमार रैक्व की अन्तश्चेतना को प्रभावित करनेवाला नारी-सौन्दर्य उसे दीन-दु:खियों की सेवा का व्रती बना गार्हस्थ संस्कृति की ओर उन्मुख करता है जिसकी वकालत द्विवेदी जी ने अपने सभी उपन्यासों में की है।

अनेक धर्मों के दुराग्रह उनकी कट्टरता से उत्पन्न कलह और विविध प्रकार के अन्धविश्वासों का जो चामत्कारिक वर्णन द्विवेदी जी के सभी उपन्यासों में मिलता है उसका एकमात्र कारण यही है कि द्विवेदी जी जीवन को जीने योग्य बनानेवाले उन सभी तत्वों का उल्लेख करना चाहते हैं जिनकी मानव को आवश्यकता है। प्रचलित सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक विकृत स्थिति के जो चित्र उनके उपन्यासों में आये हैं वे इस प्रकार रखे गये हैं कि पाठक सहज ही वांछित-अवांछित का निर्णय कर लेता है। एक ऐतिहासिक परिवेश में रची गयी कृति का यही महत्व है। आज विगत को पुनर्जीवित करने अथवा क्रमशः अदृश्य होनेवाली संस्कृति को आधुनिक परिस्थितियों में बदलने से कतिपय असम्भाव्य बातें प्रस्तुत हो सकती हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' 'चारुचन्द्रलेख', 'पुनर्नवा' और 'अनामदास का पोथा' नामक सभी उपन्यासों में इन बातों का अभाव नहीं है, पर द्विवेदी जी ने भरसक प्रयत्न किया है कि अतीतकालीन स्रोतों का सदुपयोग सम-सामयिक सभ्यता के विकासहित में ही किया जाय।

भारत सदा से धर्मप्राण देश रहा है। आज भी धर्मबुद्धिवाला व्यक्ति चाहे किसी भी सम्प्रदाय का क्यों न हो सभी धर्मों के प्रति आदर भाव रखता है। शैव, वैष्णव मन्दिर के सामने से जब निकलता है तो मस्तक झुका लेता है और ठीक ऐसी ही स्थिति एक वैष्णव की शिवमन्दिर के सामने आने पर होती है। हिन्दू जाति के निर्माण में विविध धर्मों ने समय-समय पर अपना हाथ लगाया है। धर्म, युग की उपज है। जो धर्म युगीनपरिस्थितियों को साथ लेकर नहीं चलता वह निर्जीव हो जाता है। इतिहास पीछे मुड़कर नहीं देखता। उसके पाँव आगे की ओर बढ़ते ही जाते हैं। परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं जो समय-समय पर आवश्यकतानुसार नवीन धर्म को जन्म देती हैं। समयक्रम में आये दोषों को भी धर्म के नाम पर स्वीकार कर लेना आस्तिकता नहीं है, ऐसा द्विवेदी जी भी स्वीकार करते जान पड़ते हैं। उन्होंने 'चारु-

---

१. अनामदास का पोथा, पृ० ३०।

चन्द्रलेख' के अन्तिम पृष्ठ पर अघोरनाथ का जो परिचय दिया है उसमें और कुछ नहीं उनकी स्वयं की मान्यताएँ हैं। अतीत की घटनाओं का उनके लिए क्या महत्व है और उसे उन्होंने अपने कथा साहित्य में क्यों महत्व प्रदान किया है, इससे स्पष्ट हो जाता है। 'अघोरनाथ आधुनिक विचारों के पुरानी परिपाटी में शिक्षित सिद्ध हैं। वे भावुक और कल्पनाप्रवण जीव हैं। कथाओं में ऐसे विचार मिलते हैं जो आधुनिक युग की देन हैं पर सर्वत्र उनपर पुराने ढंग की भाषा का आवरण है[1]।' प्राचीन साहित्य और संस्कृति के द्विवेदी जी कितने पारंगत पण्डित हैं इसे सहज ही उनकी कृतियों से जाना जा सकता है। पर वे समसामयिक परिप्रेक्ष्य में अतीत को सामने रखकर किस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं यह विचारणीय है। सत्य को झुठला जाना न तो द्विवेदी जी के बूते की बात है और न तो वे उसे झुठलाना चाहते हैं। भारत की अतीत हिन्दू संस्कृति का जयघोष करनेवाले द्विवेदी जी हिन्दू विरोधी इस्लामी संस्कृति की शक्ति और सामर्थ्य की जब चर्चा करने लग जाते हैं तो हमें उनको उदारता और करुणा के दर्शन एक साथ होते हैं।' जो महान् इस्लाम आ रहा है, उसे ठीक-ठीक समझो। उसके एक हाथ में अमृत का भाण्ड है, दूसरे में नग्न कृपाण। वह समानता का मन्त्र लेकर आया है, सड़े-गले आचारों को चुनोती देने का अपार साहस लेकर उद्भूत हुआ है और रास्ते में जो बाधक हों उसे साफ कर देने का विकट संकल्प लेकर निकला है। उसने लाखों-करोड़ों को पैरों तले दबाकर उसकी मांस-मज्जा के ढूह पर प्रासाद खड़ा करने की त्रुटि नहीं दिखायी[2]।' सड़े-गले आचारों एवं विषमताओं के जिस विष ने देश और जाति को निर्जीव बना दिया उसके विकल्प को स्वीकार करने में द्विवेदी जी को किसी भी प्रकार की हिचक नहीं, जिससे वे स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि हिन्दू संस्कृति ने मांस-मज्जा के ढूह पर जो प्रासाद खड़ा किया है वह ढहने वाला है। उसमें आसक्ति रखनेवाले समय रहते नहीं चेत जाते तो उनके अस्तित्व पर ही प्रश्नवाची चिह्न लगा है। इसी प्रकार 'पुनर्नवा' में भी द्विवेदी जी ने स्वीकार किया है कि शास्त्रों में जो समाज सन्तुलन की व्यवस्था है उसकी सामयिक व्याख्या आवश्यक है। वह अपरिबर्तनीय नहीं, बल्कि आवश्यकतानुसार परिवर्तितव्य है। संस्कृति, सामाजिक विकास को अवरुद्ध करने के लिए नहीं बल्कि उसे युगानुरूप गतिशोल बनाने के लिए है। 'अनामदास का पोथा" उपन्यास द्विवेदी जी की इसी सांस्कृतिक मान्यता की पुष्टि करता है। 'देख रे, सृष्टि चलती रहेगी। जो लोग अलग बैठकर इसे बन्द कर देने का सपना देखते हैं वे भोले हैं। जिजोविषा है तो जीवन रहेगा, जीवन रहेगा तो अनन्त सम्भावनाएँ भी रहेंगी। सब चलता रहेगा। यही प्रकृति है। इसे

---

१. चारुचन्द्रलेख, पृ० ४३८।

२. वही, पृ० ३४१।

सुनियन्त्रित रूप से चलाने का प्रयास शुभ है। वही संस्कृति है। प्रकृति को सुनियन्त्रित रूप में चलाने का नाम ही संस्कृति है[१]।' अतः प्रकृति की उपेक्षा कर स्वस्थ संस्कृति की कल्पना करना द्विवेदी जी को स्वीकार्य नहीं।

मानवतावादी लेखक होने के नाते द्विवेदी जी ने समाज की रूपरेखा को प्रभावित करनेवाले उन सभी तत्वों पर दृष्टि डाली है जो मानव को मानव बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं। समसामयिक समस्याओं के संदर्भ में ही वे मानव-धर्म की कल्पना करते हैं, न कि जड़ता एवं अन्धविश्वासों से ग्रसित रूढ़िवादिता के आधार पर। उनके अनुसार–'सामाजिक मंगल के लिए जो सहज प्रवृत्ति है उसी का नाम धर्म है[२]।' मानवी शक्ति पर भरोसा करते हुए वे कहते हैं–'स्वर्ग का देवता पृथ्वी पर भाला-तलवार लेकर नहीं आता। जो लोग धर्मबुद्धि सम्पन्न हैं उन्हीं को वे सुबुद्धि और शक्ति देते हैं। यह सुबुद्धि ही देवता है। शक्ति ही देवता[३] है। जिन लोगों ने धर्म का ठेका ले रखा है और अपने कार्यों से सामाजिक हित को हानि पहुँचा रहे हैं वे कितने भी महान और आदरणीय क्यों न हों, द्विवेदी जी उन्हें सम्मान देने को तैयार नहीं। उन्हें कहते देर नहीं लगती कि 'यह जो विरति वज्र है वह किसी समय बौद्ध भिक्षु था–बैंकटेश भट्ट कुछ अजब लफंगा लगता है[४]।' वे किसी भी ऐसे व्यक्ति को लफंगा कहने के लिए प्रस्तुत हैं जो एकांतिक साधना में लिप्त और सामाजिक हितों से विमुख है। वे स्पष्ट घोषणा करते हैं–'एकान्त का तप बड़ा तप नहीं है बेटा। देखो, संसार में कितना कष्ट है, रोग है, शोक है, दरिद्रता है, कुसंस्कार है। लोग दुःख से व्याकुल हैं। उनमें जाना चाहिए। उनके दुःख का भागी बनकर उनका कष्ट दूर करने का प्रयत्न करो। यही वास्तविक तप है। जिसे यह सत्य प्रकट हो गया है कि सर्वत्र एक ही आत्मा विद्यमान है वह दुःख-कष्ट में जर्जर मानवता की कैसे उपेक्षा कर सकता है वत्स? क्या समझते हो, कर सकता है[५]?' किसी भी संस्कृति के लिए यह प्रश्न चुनौती है। द्विवेदी जी के उपन्यासों के सभी पात्र अपने-अपने ढंग से इसी लोकसेवक संस्कृति के निर्माण में सहायक होते हैं।

टी० एस० इलियट ने संस्कृति के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि 'संस्कृति विशिष्ट लोगों के एक निश्चित स्थान पर साथ रहने और जीवनयापन करने का एक निश्चित क्रम है।' विशिष्ट लोगों से उसका तात्पर्य उन्हीं लोगों से हो सकता

---

१. अनामदास का पोथा, पृ० ८८।
२. चारुचन्द्रलेख, पृ० २८९।
३. वही, पृ० २८८।
४. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० २६१।
५. अनामदास का पोथा, पृ० ५९।

है जिसकी सामाजिक स्थिति अन्य दृष्टियों के साथ भौतिक दृष्टि से भी अच्छी हो। तभी वे समसामयिक परिस्थितियों पर नियन्त्रण रखते हुए अपने प्रभाव का उपयोग कर एक सामाजिक अनुशासन की सृष्टि कर सकते हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय जीवन में पारस्परिक सम्बन्धों का बड़ा महत्व होता है जिसके अभाव में राष्ट्र एवं जाति की जीवनीशक्ति अत्यन्त दुर्बल हो जायगी। ऐसी राष्ट्रीय संस्कृति जो स्वेच्छया अनियन्त्रित परिस्थितियों के घात-प्रतिघातों के कारण अपने को अन्य स्रोतों से विच्छिन्न कर लेती है, वह उपेक्षा का विषय बन जाती है। इसके साथ ही वह देश जो अन्य देशों की संस्कृतियों से कुछ प्राप्त तो करता है पर उन्हें बदले में देने के लिए उसके पास कुछ नहीं, और वह देश जो अपनी संस्कृति को दूसरे पर लादना चाहता है पर दूसरे देशों से कुछ ग्रहण नहीं करना चाहता, वह आदान-प्रदान के अभाव से ग्रसित होता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारुचन्द्रलेख', 'पुनर्नवा' और 'अनाम दास का पोथा' के द्वारा द्विवेदी जी ने हमारी संस्कृतियों के कुछ ऐसे गौरवमय पक्षों का उद्घाटन किया है जो कि वर्तमान पीढ़ी को दाय के रूप में मिले हैं। अपनी प्राचीनता के कारण तो हम अन्य संस्कृतियों को प्रभावित करते ही रहे हैं, पर साथ ही आज हमारे पास इतनी पूँजी है कि हम दूसरों को बहुत कुछ दे सकते हैं। जहाँतक हमारी ग्रहणशीलता का प्रश्न है, इतिहास साक्षी है, हमने सद्गुणों को बराबर आत्मसात किया है चाहे वे किसी भी संस्कृति के क्यों न रहे हों। द्विवेदी जी के सभी उपन्यासों में विभिन्न विचार-धाराओं, कलाओं एवं धार्मिक मान्यताओं का उल्लेख हुआ है पर जान-बूझ कर किसी के प्रति पक्षपात का न तो उनमें आग्रह पाया जाता है और न तो किसी के प्रति घृणा उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है और हर्षवर्द्धन की राजसभा का जो रूप बाणभट्ट की आत्मकथा में आया है, विविध धर्म सम्बन्धी जो विचार चारुचन्द्रलेख में व्यक्त किये गये हैं, पुनर्नवा में सम्राट् समुद्रगुप्त के परिवेश का जैसा चित्रण हुआ है और अनामदास का पोथा में परस्पर विरोधी मान्यताओं की जैसी संगति बैठती गयी है उससे द्विवेदी जी की सांस्कृतिक समन्वय की भावना का ही परिचय मिलता है। बाणभट्ट की आत्मकथा के सम्राट हर्षवर्द्धन स्वयं एक संस्कृत व्यक्ति थे जिनके द्वारा हिन्दू संस्कृति का अधिकाधिक विकास हुआ। टी० एस० इलियट का कथन है कि संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण योग देनेवाला व्यक्ति भी सदा संस्कृत व्यक्ति ही नहीं होता।[1] बाणभट्ट की आत्मकथा में संस्कृत और असंस्कृत दोनों प्रकार के व्यक्तियों की चर्चा मिलती है, जो तत्कालीन संस्कृति के

1. The person who contributes to culture, however important his contribution may be, is not always a cultured person.
—Notes towards the definition of culture.
T. S. Eliot.

विकास में समान रूप से अपना योगदान करते हैं। सम्राट हर्षवर्द्धन की शालीनता तो इतिहास प्रसिद्ध ही है, कुमार कृष्णवर्द्धन के जिस उदात्त चरित्र की कल्पना उपन्यासकार ने की है वह आगे आनेवाली सभ्य पीढ़ियों के लिए अनुकरणीय है। छोटे राजकुल से चोर की भाँति घुसकर 'भट्टिनी' को निकाल लाने का कानून की दृष्टि से जो अपराध बाणभट्ट ने किया था उसे क्षमा करने की शक्ति कुमार कृष्णवर्द्धन ऐसे संस्कृत राज-पुरुष में ही हो सकती है जो बाणभट्ट द्वारा कहे गये कटु वचनों को भी नजरअन्दाज कर जाते हैं। विबिध धर्मों के प्रति कुमार की सहिष्णुता और भट्टिनी को बहन के रूप में समादृत करने की उदारता ने उसके व्यक्तित्व को स्पृहणीय बना दिया है। सामंती संस्कृति के विकास में कुमार कृष्णवर्द्धन ऐसे केवल संस्कृत राजपुरुषों का ही योगदान नहीं होता बल्कि छोटे राजकुल जैसे स्थानों पर भी संस्कृति का विकास होता है। भोग-विलास में आकण्ठ डूबे छोटे राजकुल जैसे सामन्तों द्वारा ललित कलाओं को प्रश्रय दिया जाता है। यद्यपि वे सारा समारम्भ अपनी ऐहिक इच्छा की तृप्ति के लिए करते थे, पर अनजाने वे एक बहुत बड़े समुदाय का पोषण करते हुए विभिन्न कलाओं की सेवा कर जाते थे : सुबह से शाम तक सामन्तों की बैठकों का क्रम कलाप्रदर्शन का ही क्रम था। यह दूसरी बात है कि उनकी नारी-विषयक दुर्बलता के कारण पापाचार को भी बढ़ावा मिलता रहा जिसमें भट्टिनी जैसी देवियों को यन्त्रणाएँ सहनी पड़ती थीं। संस्कृति का अर्थ हम यहाँ पर संकीर्ण अर्थों में न लेकर व्यापक अर्थों में ले रहे हैं। चारुचन्द्रलेख के सातवाहन, चन्द्रलेखा, पुनर्नवा के देवरात, सम्राट् समुद्रगुप्त, मृणाल और धूता स्वस्थ सामन्ती संस्कृति के स्पृहणीय चरित्र हैं। पुनर्नवा की मंजुला के नृत्य-प्रसंग को सामन्ती संस्कृति में चलने-वाले कला-प्रदर्शन के क्रम के साथ जोड़ा जा सकता है और अनामदास का पोथा का भोला ऋषिकुमार रैक्व तो अपनी संस्कृति की एक निजी पहचान ही बनाता है।

प्राय: लोग संस्कृति को धर्म से अलग करके नहीं देख पाते और इस प्रकार वे संस्कृति के परिवेश को अत्यन्त सीमित कर देते हैं। जिस प्रकार कलाओं का उदय मानव जीवन को सुखमय बनाने के लिए समय-समय पर होता रहता है, उसी प्रकार समय-समय पर धर्म की रूपरेखा भी निश्चित होती रहती है। 'धर्म मानव निर्मित है, धर्म मानव का निर्माता नहीं[1]।' कभी-कभी तो धर्म का अन्धानुकरण समाज के विकास में घातक सिद्ध होता है। इसीलिए 'कार्ल मार्क्स' ने धर्म को अफीम की संज्ञा दी है, जो लोगों को सही दिशा में सोचने ही नहीं देता। अत: कभी-कभी संकीर्ण अर्थों में स्वीकृत धर्म का बहिष्कार आवश्यक हो जाता है। 'मार्क्स' ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि 'यथार्थ मानवीय सुख की यह माँग है कि उसकी उपलब्धि के

1. Man makes religion, Religion does not make man.

लिए मिथ्या सुख की सृष्टि करनेवाले 'धर्म का बहिष्कार हो[१]।' द्विवेदीजी भी धार्मिक एवं सांस्कृतिक जड़ता को साहसपूर्वक अस्वीकार करते हैं। पुनर्नवा में उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है—'अगर निरन्तर व्यवस्थाओं का संस्कार और परिमार्जन नहीं होता रहेगा तो एक दिन व्यवस्थाएँ तो टूटेंगी ही, अपने साथ धर्म को भी तोड़ देंगी[२]।'

द्विवेदीजी ने सर्वत्र ऐसे आवश्यक धर्म के बहिष्कार को मान्यता प्रदान की है जो युगीन सन्दर्भ में अपना अर्थ खो चुके हैं। तर्क एवं विवेक की सीमा में न समानेवाले धर्म को वे अनावश्यक मानते हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में वे स्पष्ट कहते हैं कि 'देख रे तेरे शास्त्र तुझे धोखा देते हैं। जो मेरे भीतर सत्य है उसे दबाने को कहते हैं, जो तेरे भीतर मोहन है उसे भूलने को कहते हैं, जिसे तू पूजता है उसे छोड़ने को कहते हैं[3]।' इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए चारुचन्द्रलेख में उनका कहना है—'यह सब मिथ्या है। सिद्धियों के पीछे पागल बनने की इस हवा ने वर्णाश्रम धर्म को भ्रष्ट कर दिया। कायरों और भगोड़ों को अपना नेता समझनेवाली जाति की दशा जो होनी चाहिए, वही आज इस जन-समूह की दशा होगी। निरर्थक मन्त्रों की निरर्थक रट देश में प्राणशक्ति का संचार नहीं कर सकती। मनुष्य को देवता बनाने के लिए आत्मविश्वास और दृढ़ संयम की आवश्यकता है[४]।' 'अनामदास का पोथा' में महर्षि औषस्ति के माध्यम से उपन्यासकार का कथन है, 'किसी की बात पर तबतक विश्वास नहीं करना चाहिए जब तक स्वयं उसकी परीक्षा न कर ली जाय। तुम्हारे भीतर जो देवता स्तब्ध रूप से बैठे हैं उनको पहचानो। वे तुम्हारा ठीक मार्गदर्शन करेंगे। वही प्रज्ञा-रूप हैं[५]।' द्विवेदीजी के कथा साहित्य में ऐसे ही धर्म और संस्कृति के प्रति आस्था व्यक्त की गयी है, जो मानव को देवता बना सकें। धर्म और कला का परस्पर सहयोग समाज के लिए परम उपयोगी सिद्ध होता है। कलात्मक संवेदना धार्मिक संवेदना से विच्छिन्न होने पर दुर्बल हो जाती है और धार्मिकता कलात्मक संवेदना से विच्छिन्न होकर इसी स्थिति को प्राप्त होती है। द्विवेदीजी ने वन्ध्या धार्मिक भावनाओं को प्रश्रय नहीं दिया है। वे उसे कल्पना जगत की वस्तु न मानकर उपयोगी कलाओं के साथ जोड़ना चाहते थे। मानवतावादी लेखक के लिए यह आवश्यक भी है। संस्कृति को

1. The removal of religion as the illusory happiness of the people is the demand for their real happiness—Karl Marx
२. पुनर्नवा, पृ० १७३।
३. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० ७४।
४. चारुचन्द्रलेख, पृ० १५७-१५८।
५. अनामदास का पोथा, पृ० १३२।

पूर्ण रूपेण चेतना का ही विषय नहीं बनाया जा सकता। संस्कृति, जिसके विषय में हम पूर्ण रूप से सचेत न हों, चेतना की समग्रता को प्रस्तुत कर भी नहीं सकती। संस्कृति का कार्य उन व्यक्तियों की प्रक्रियाओं को निश्चित दिशा की ओर प्रेरित करना है जो इस बात की व्यवस्था करना चाहते हैं जिसे सभ्यता की संज्ञा दी जा सके। वाणभट्ट की आत्मकथा में वर्णित व्यापक संस्कृति से अनुशासित विशिष्ट जनसमुदाय ही हर्षकालीन सभ्यता का नियामक है। वे अनुशासन की जड़ता को न स्वीकार कर उसकी लोकोपयोगी चेतना को ही महत्व देते हैं और स्पष्ट घोषित करते हैं–'देवता क्या ईंट पत्थरों के जड़ आवरण में बन्दी है ? क्या मनुष्य का भाव ही देवता को महान् नहीं बनाता ? क्या इन भोले लोगों की भक्ति इस प्रकार उपेक्षणीय है[1] ?' इस प्रकार आचार्य द्विवेदी की मानवतावादी संस्कृति में न तो कहीं अन्धविश्वास एवं आडम्बरयुक्त धर्म आड़े आता है और न तो जातिवादी भेदक दृष्टि। वे मानव मात्र के उन्नयन एवं सुख-समृद्धि की कामनाकरने वाले कथाकार हैं।

एक ओर जहाँ द्विवेदीजी धर्म और सामाजिक व्यवस्था की अत्यन्त उदार व्याख्या प्रस्तुत करते हैं वहीं यह प्रश्न उठता है कि उन्होंने विवेचना के लिए सामन्ती संस्कृति को ही क्यों चुना ? ऐसे प्रसंगों की उद्‌भावना उन्होंने क्यों नहीं की कि जिसमें मानव को समान अधिकार दिलाने की हिमायत की जा सकती थी ? बाणभट्ट की आत्मकथा और चारुचन्द्रलेख में द्विवेदीजी ने धर्म, संस्कृति और समाज व्यवस्था की जो लौह-प्राचीर खींच दी है उसमें उनके रोमांटिक कहे जानेवाले कल्पनाप्रवण पात्र छटपटा रहे हैं, उनका दम घुट रहा है। वे बन्धनमुक्त होना चाहते हैं, शक्ति संचित करते हैं पर वेदना की एक टीस छोड़कर मौन रह जाते हैं। एक ओर तो उनके पात्र समसामयिक समाज व्यवस्था के बन्धन से अपने को बँधे पा रहे हैं, दूसरा ओर उन्होंने अपनी व्यक्तिगत संस्कृति का भी विकास कर लिया है जिससे मुक्त होने की इच्छा रखते हुए भी परस्पर सम्बन्धों का विकास उस दिशा में नहीं कर पाते, हाथ बढ़ाते हैं या बढ़ाना चाहते हैं। पर जैसे सामने अग्निपिण्ड हो, जलने के भय से हतप्रभ हो जाते हैं। चाहे बाणभट्ट, भट्टिनी और निपुणिका हो चाहे सातवाहन, चन्द्रलेखा और मैना। यह मसोस स्नेह सम्बन्धों के क्षेत्र में ही प्रायः देखने को मिलती है। पुनर्नवा और अनामदास का पोथा में द्विवेदीजी ने इस स्थिति को नये आयाम में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है और इनके पात्र अपनी सेवावृत्ति एवं औदात्य के कारण घुटन एवं मसोस से मुक्ति पाने की चेष्टा करते हैं। पुनर्नवा की चन्द्रा और वसन्त सेना तथा अनामदास का पोथा की जाबाला में इसे देखा जा सकता है। कहीं न कहीं तो संयम को महत्व देना ही पड़ेगा अन्यथा अराजकता की स्थिति में सामाजिक विशृंखलता समूची जाति को ले डूबेगी। पूर्ण समता की बात कल्पना की वस्तु है। पूर्ण समता

---

१. पुनर्नवा, पृ० २६२।

का अर्थ विश्वजनीन उत्तरदायित्व होता है। समाज में हर व्यक्ति निम्नतम या अधिकतम उत्तरदायित्व को प्राप्त करता है। यही उत्तरदायित्व सामूहिक हित का केन्द्र बिन्दु बनता है। इस उत्तरदायित्व की उपलब्धि में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति विशेष रूप से उल्लेखनीय होती है।

सामाजिक हित की दृष्टि से व्यक्ति के उत्तरदायित्वों में भिन्नता भी हो सकती है। ऐसे प्रजातन्त्र में, जिसमें हर व्यक्ति हर परिस्थिति में समान अधिकार का अधिकारी समझा जाता है, सामूहिक हित के लिए लाभप्रद नहीं सिद्ध हो सकता। यही कारण है कि द्विवेदीजी ने अपने कथा साहित्य में संयम को महत्व देते हुए अधिकार और कर्तव्य के परस्पर उपयोगी सम्बन्धों को महत्वपूर्ण माना है। योग्यतानुसार अवसर प्रदान करनेवाली समाज-व्यवस्था को स्वीकार कर लेने में कोई हर्ज नहीं। चाहे वह वर्णाश्रम की हो, अथवा अन्य किसी धर्म के आलोक में विकसित हुई हो। ऐसा करने के कारण ही द्विवेदीजी अपने उपन्यासों में विकासशील संस्कृति को समाहित कर सके हैं। संस्कृति की कोई खास निश्चित रूपरेखा नहीं है। थोड़ा-बहुत साम्य रखनेवाली विभिन्न गतिविधियों की यह निर्मिति है। इसमें सद्व्यवहार, परम्परा की चेतना, उदार दार्शनिकता, तथा लालित्यबोध सम्बन्धी विषयों की चर्चा के लिए पूर्ण अवकाश रहता है। द्विवेदीजी के सभी उपन्यास ऐसे प्रसंगों से भरे पड़े हैं।

'मैथ्यू आर्नल्ड' ने लिखा है कि 'वह कौन-सा महत्वपूर्ण पहलू है जिसको संस्कृति उद्भासित करती है। इसका उत्तर देते हुए उसने कहा है कि वह महत्ता है, जो ऐसी आध्यात्मिक परिस्थितियों को उद्बोधित करती है जिसमें प्रेम, अभिरुचि और समादर के लिए विशिष्ट भाव होता है। कलाकार सम्पूर्ण सांस्कृतिक परिवेश पर दृष्टिपात करके कलाकृति के लिए इसकी उपयुक्तता या अनुपयुक्तता पर विचार करता है। उसके साथ सार्वजनिक अभिरुचि, उच्चवर्ग और निम्नवर्ग के सम्बन्ध, धर्म के प्रभाव तथा नैतिकता और राजनैतिक विचारों की व्यवस्था किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। चेतना-जगत में पलनेवाले विचारकों को ही संस्कृति का अन्तिम रूप मान बैठना कभी भी समाज के हित में नहीं हो सकता। 'मानव अस्तित्व का आधार मानव-चेतना नहीं है बल्कि मानव का सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना का विधायक है[1]।' द्विवेदीजी ने मानव के सामाजिक अस्तित्व को दृढ़ भित्ति प्रदान करने के लिए ही सहयोगी ललित कलाओं के महत्व को स्वीकार किया है। चित्रकला और संगीत-कला सामन्ती संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग रही है। इन कलाओं का उपयोग

---

1. It is not the consciousness of human beings which determines their existence. It is their social existence which determines their consciousness. —Karl Marx

व्यक्ति को संस्कृत बनाने से लेकर उसे समय-समय पर उपयोगी शिक्षा प्रदान करने तक के लिए होता रहा है। निरंकुश शासकों के स्वभाव-परिवर्तन से लेकर प्रेम-प्रसंगों में आत्मविस्तार तक यह कला सहयोगी सिद्ध होती रही है। चित्रकला की लोकप्रियता के दर्शन हमें 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारुचन्द्र लेख' और 'पुनर्नवा' में होते हैं।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में उज्जयिनी की प्रधान गणिका 'मदनश्री' प्रेमासक्ति के कारण 'बाणभट्ट' का चित्र बनाती है और 'चारुचन्द्रलेख' में मैना 'सातवाहन' का चित्र बनाती है। 'पुनर्नवा' में वर्णित 'मंजुला' द्वारा देवरात को दी गयी पेटी पर अंकित चित्र भी 'मदनश्री' और 'मैना' की भाँति ही बने जान पड़ते हैं। ये सभी चित्र परोक्ष में ही बनाये जाते हैं और तीनों ही चित्र उन नारियों के सम्मुख आते हैं जो चित्र के आधार पर व्यक्ति को किसी न किसी प्रकार प्रेम करती है। चित्र बनाये भी गये हैं ऐसी नारियों-द्वारा जो मौनप्रेम की शिकार बन चुकी हैं। सभी चित्रों के बनने का रहस्योद्घाटन प्रेमिकाओं द्वारा मूल व्यक्ति से समय आने पर किया जाता है पर 'पुनर्नवा' के चित्र की स्थिति कुछ भिन्न है, उसमें पुत्री को विवाह में दिये जानेवाले उपहारों की कल्पना की गयी थी। इस प्रकार उपन्यासकार ने एक तीर से दो शिकार किया है। पुरुष के संयम का आदर्श भी उसके सामने रख दिया और चित्रकला की लोकप्रियता का उल्लेख भी हो गया। 'बाणभट्ट' के सम्मुख 'मदन श्री' की पराजय और 'मैना' के सामने 'सातवाहन' का संयम पुरुष जाति के लिए गौरव का प्रसंग है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में हर्षवर्धन की राजसभा का रोचक वर्णन करते समय भी द्विवेदीजी चित्रकला का उल्लेख करना नहीं भूले 'कुछ तो ऐसे ढीठ थे जो भरी सभा में किसी रमणी के कपोल देश पर तिलक-रचना कर रहे थे[1]।' इस प्रकार कलाओं का अनुचित ढंग से भी उपयोग किया जाता रहा पर यह उच्छृङ्खलता सर्वत्र नहीं बल्कि विलासी सामन्तों की गोष्ठियों में ही देखने को मिलती थी। पुनर्नवा में देवरात ने चित्र बनाया था जो उनकी प्रिया का चित्र था और मंजुला की शक्ल से हूबहू मिलता था, जिसका रहस्य वे मृणाल मंजरी के सम्मुख बहुत बाद में खोलते हैं और एक प्रकार से मंजुला के प्रति उनके मन में पलते प्रेम और उसके कारण का पता लग जाता है। 'देवरात' ने बड़े यत्नपूर्वक छिपाकर रखे हुए चित्र-आवरण को हटाया। यह उनके अपने हाथों बनाया हुआ शर्मिष्ठा का चित्र था। मृणाल मंजरी ने देखा तो उसकी आँखें कानों तक फैल गयीं······तो यह उसकी प्रथम माता है···देख बेटा, यह तेरी जननी है, छन्दों की रानी मंजुला। दोनों को देख बेटा, एक ही जैसी नहीं दिख रही हैं ? मंजुला के दर्शन न हुए होते तो मैं विक्षिप्त

१. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० २४६।

हो गया होता, मर गया होता[1]।' इस प्रकार पुरुष की चित्रकला प्रियता और उसके माध्यम से प्रिया के प्रति किये गये एकनिष्ठ प्रेम को स्पष्ट करते हुए गणिका के प्रति उत्पन्न आकर्षण के औचित्य का प्रतिपादन कर एक सांस्कृतिक आदर्श की सृष्टि की गयी है।

संगीत की लोकप्रियता तो पूरे समाज में ही थी, पर इस क्षेत्र में पारंगत होना नारियों के लिए आवश्यक सा हो गया था। दाम्पत्य जीवन को सुखी बनाने के लिए नारियाँ अपने में जिन-जिन कलाओं का विकास करती थीं, उनमें संगीत प्रमुख था। 'बाणभट्ट' ने भी जब पहली बार छोटे राजकुल में बन्दिनो 'भट्टिनी' को देखा तो वह वीणा बजा रही थी। 'चारुचन्द्रलेख' के नारी पात्र भी समय-समय पर अपनी संगीत-प्रियता का परिचय देते हैं। अभिनय तो इतना लोकप्रिय था कि सम्भ्रान्त नागरिक एवं विद्वत्जन भी स्वयं अभिनय की भूमिका में उतरते थे। बाणभट्ट की सारी भटकान नाटक मण्डली को लेकर ही हुई है और राज-सभा में सम्मानित स्थान प्राप्त कर राजा के हाथों से ताम्बूल ग्रहण करने का गौरव लाभ करने पर भी वह 'निपुणिका' के साथ अभिनय की भूमिका में उतरता है जिसमें 'निपुणिका' की ऐहिक लीला भी समाप्त हो जाती है। कलासेवी नर्तकियों की एक-एक भंगिमाओं तथा उनके सामाजिक सम्मान एवं उपयोग की इतिहाससम्मत व्याख्या करते समय 'द्विवेदी'जी ने उनके स्वरूप की समुचित रक्षा की है। अभिनय के पश्चात् 'भट्ट' के आग्रहभरे स्वर को सुनकर जब निपुणिका खड़ी हो गयी तो 'उसका बायाँ हाथ कटि देश पर न्यस्त था, कंकण कलाई पर सरक आया था, दाहिना हाथ शिथिल श्यामलता के समान झूल पड़ा था। उसकी कमनीय देहलता नृत्यभंगी से जरा झुक गयी थी, मुखमंडल श्रमविन्दुओं से परिपूर्ण था[2]।' एक ओर तो कला के प्रति सामान्यतः नागरिकों के मन में श्रद्धा-भाव लक्षित होता है, दूसरी ओर शासकों द्वारा उनकी इस दुर्बलता से अनुचित लाभ उठाने की भी प्रथा का संकेत मिल जाता है। प्रसिद्ध नर्तकी 'चारुस्मित' के नृत्य के प्रति 'थानेसर' के निवासियों में अपूर्व प्रेम था, पर कवि 'धावक' ने सत्य ही कहा है कि 'चारुस्मिता का नृत्य कान्यकुब्ज की विद्रोही जनता को वश में ले आने का अस्त्र है[3]।' 'पुनर्नवा' में भी मंजुला के नृत्य के प्रति नगर के लोगों में अपार आकर्षण वर्णित है।

जीवन्त संस्कृति में अभिरुचि अथवा लालित्यबोध का महत्वपूर्ण स्थान होता है और द्विवेदीजी के विवेच्यकाल की संस्कृति इस दिशा में अत्यन्त गौरवमयी रही है, ऐसा उनके वर्णनों से मिलता है। 'नागरक' की यह अभिरुचि—व्यक्ति से आरम्भ होकर समाज और देश तक जाती है। 'वात्स्यायन' कृत 'कामसूत्र' में नागरक गृह का

१. पुनर्नवा, पृ० ६३।
२. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० २९।
३. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० ३५२।
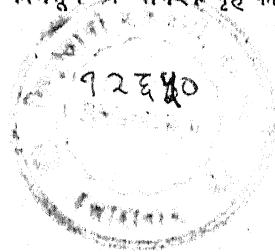
वर्णन जिस प्रकार किया गया है, उपन्यासकार ने 'भट्टिनी' के थानेसार-स्थित गृह का वर्णन भी उसी प्रकार किया है। 'भट्टिनी' जिस घर में बैठी थी, वहाँ पर—'उसकी बगल में एक वेदिका पर माल्य, चन्दन और अनेक प्रकार के उपलेपन रखे हुए थे। एक छोटी सी स्फटिक पीठिका पर सुगन्धित सिक्थ करण्डक (मोमबत्ती की पिटारी) और सौगन्धिक पुटिका (इत्रदान) रखी हुई थी······खूटियों पर लाल कपड़े में लिपटी हुई एक वीणा रखी थी[1]।' प्रसाधनों के वैविध्य और उनके प्रयोग के प्रति अभिरुचि का उल्लेख करने के लिए लेखक ने मदन श्री की प्रसाधनसामग्री की चर्चा की है। भागते समय जो चोर फेंक गये थे उस पटोलिका में आलक्तक (महावर), मन:शिला, हरिताल, हिंगुल और राजावर्तका चूर्ण रखा हुआ था। स्पष्ट ही वह 'मदन श्री' के चित्रकर्म की सामग्री थी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वैयक्तिक प्रसाधनों के प्रति उत्पन्न अभिरुचि का विकास चित्रकला के अनुराग तक होता है। चित्रकला की सेवा 'मदनश्री' के लिए प्रसाधन के प्रयोग की भाँति उसकी संस्कृति का एक अंग बन गयी थी। 'पुनर्नवा' में मंजुला द्वारा देवरात को दी गयी पेटी के चित्र इसी संस्कृति के प्रतीक हैं—चीनांशुक के भीतर दुर्लभ कर्पूर-काष्ठ की एक चौकोर पेटी थी। ऊपर के पाटे पर मनोहर कल्पवल्ली अंकित थी। कदाचित् मंजुला ने स्वयं अपने हाथ से उसे आँका था। उसमें मन:शिला, हिंगुल, हरिताल और गौरोचन से बने रंगों का प्रयोग किया गया था[2]।'

सामाजिक रुचि में परिवर्तन आते ही सौन्दर्य के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हो जाता है। द्विवेदी जी ने अपने उपन्यासों में अनेक रूपवती नारियों का आकर्षक चित्र खींचा है पर कहीं से भी बीसवीं शताब्दी की उस नारी की छाया उनपर नहीं पड़ने पायी है, जो जीवन के हर क्षेत्र में पुरुषों से प्रतिद्वन्द्विता करती हुई समान अधिकार प्राप्त करने के लिए आन्दोलन करने को तैयार है और जो भौतिकवादी आडम्बरपूर्ण प्रसाधनों से सज-धजकर लोगों की आँखों को चौंधिया देने की होड़ लगा रही है। नारियों का सौन्दर्य उनके प्रसाधनों पर नहीं बल्कि उनके गुणों पर आधृत है जो स्वाभाविक लज्जा एवं संकोच के कारण और भी आकर्षक बन जाता है। द्विवेदी जी जब नारी-सौन्दर्य का चित्रण करने बैठते हैं तो उनके सम्मुख अतीतकालीन भारत की वे महिमामयी नारियाँ आकर उपस्थित हो जाती हैं जिन्हें चित्रित कर संस्कृत-काव्य के स्रष्टा अमर हो गए। वह सौन्दर्य ऐसा सौन्दर्य है कि जिसे देखकर पतित व्यक्ति के हृदय में भी भक्ति की भावना उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की 'भट्टिनी' का सौन्दर्य इसीं प्रकार का है। 'पुनर्नवा' की मृणाल मंजरी भी इसी प्रकार के भाव की सृष्टि करती है—'आर्यक ने देखा मृणाल मंजरी इन

---

१. वही, पृ० ३९।

२. पुनर्नवा, पृ० ५३।

तीन वर्षों में काफी बढ़ गयी है। उसके अंग-अंग से लावण्य की छटा छलक रही थी। आर्यक को देखकर उसके मुरझाये हुए मुख पर आनन्द की आभा दमक आयी थी। उसकी दुग्ध-मुग्ध मुखश्री में इस प्रकार का उफान आया था जैसे अचानक दुग्ध भाण्ड को अप्रत्याशित ताप मिल गया हो। परन्तु उसकी आँखों से आँसू झरते रहे।''[1]। इस प्रकार के सौन्दर्य को आकर्षक बनाने के लिए जिन ललित कलाओं को लोकप्रियता मिल रही थी, वे सभी संस्कृति की अंग हैं, द्विवेदी जी ने अपने उपन्यासों में जिनका जमकर वर्णन किया है।

कला मानव-जीवन का अद्भुत प्रतिमान है। इसके अन्तर्गत अन्तर्दृष्टि और अनुभूति के अभूतपूर्व स्वरूप सन्निहित रहते हैं। जिस किसी भी समाज की निश्चित संस्कृति होती है वही उपर्युक्त प्रकार की कला का उद्भावक होता है। प्रश्न यह उठता है कि कला का क्या महत्व है और उसका मानव के विकास-क्रम से क्या सम्बन्ध है? उत्तर स्वरूप यही कहा जा सकता है कि यह मात्र बौद्धिक अनुवर्तन नहीं, अपितु बौद्धिक जीवन की अपरिहार्य आवश्यकता है। यह मात्र धर्म नहीं, अपितु धर्म के साथ विकसित होकर उसे संवर्द्धित करते हुए, उसकी प्रमुख निर्णायिका है। वाणभट्ट की आत्मकथा, चारुचन्द्रलेख, पुनर्नवा और अनामदास का पोथा, चारो ही उपन्यासों में राजा-प्रजा के सम्बन्धों की चर्चा दार्शनिक चिन्तन के स्वरूप, तत्व चिन्तन, नारी-पुरुष के स्वस्थ सामाजिक सम्बन्धों, वास्तविक धर्म-रक्षण के प्रति आग्रह, ग्रह नक्षत्रों के प्रति अनास्था, स्त्री के वास्तविक स्वरूप की चर्चा, सात्विक प्रेम के महत्व, सामाजिक सन्दर्भ में सच-झूठ की वास्तविक स्थिति से लेकर लोकजीवन में रानी को दिये जानेवाले सम्मान की विशद व्याख्या हुई है। इस प्रकार द्विवेदी जी ने संस्कृति का एकांगी चित्र ही न प्रस्तुत कर उसका समन्वित रूप ही समाज के हित को सामने रखते हुए प्रस्तुत किया है।

जीवन में संतुलन का होना आवश्यक है। संस्कृति इस बात को प्रतिपादित करती है कि पूर्णता के मानदण्ड मात्र भौतिक नहीं अपितु अंश रूप में आध्यात्मिक भी हैं। अतएव इसकी दृष्टि में वैभव का सापेक्ष महत्व होता है। अगर संस्कृति में इस प्रकार के आध्यात्मिक स्वरूपों के लिए आग्रह न हो तो सम्पूर्ण सभ्यता के विनष्ट हो जाने का भय बना रहता है। संस्कृति सर्वप्रथम व्यक्ति पर दृष्टिपात करती है। द्विवेदी जी ने पात्रों के व्यक्तित्व पर विशेष बल दिया है और उनके जितने प्रमुख पात्र हैं, उनकी अपनी एक अलग संस्कृति है। पर अपनी वैयक्तिक विशेषताओं के साथ वे आदर्श समाज के अविच्छिन्न अंग भी बने हुए हैं। यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। जिन पात्रों का मेल समाज से नहीं खाता, वे तान्त्रिक अथवा सिद्ध हैं, जो किसी-न-किसी अभाव के कारण कुंठित जीवन व्यतीत करने के लिए विवश हुए हैं। संस्कृति व्यक्ति-स्वभाव,

१. वही, पृ० ५०

वाणी और अभिव्यक्ति-क्षमता, रहन-सहन पर दृष्टिपात करती हुई उनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करती है। इस विचार की परिधि पर्याप्त व्यापक होती है। संस्कृति मात्र मर्शीनी सभ्यता का अतिक्रमण करती है। यह घृणा से घृणा करती है। इसकी एक विशिष्ट चाह होती है और चाह का सम्बन्ध आदर्श और प्रकाश से होता है।

यह अपनी इस अभिलाषा को प्रचारित करने का उपक्रम करती है और यह क्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक व्यक्ति पूर्णता को नहीं प्राप्त कर लेता। द्रष्टव्य है कि द्विवेदी जी के अधिकांश उपन्यासों की कथा भी अधूरी रह गयी है और उनकी कथा के विधायक प्रमुख पात्रों का जीवन भी अधूरा रह गया है। पर ऐसा नहीं है कि वे अपूर्ण हैं। पूर्णता के चित्र उनके मस्तिष्क में हैं जिन्हें जीवन में उतारने के लिए वे बेचैन हैं, उतारने का वे प्रयत्न भी करते हैं और पूर्ण होते-होते उनके सामने कुछ ऐसे महत्वपूर्ण कार्य आ जाते हैं कि वे वैयक्तिक पूर्णताप्राप्ति के प्रयत्न से विमुख हो वृहत्तर हित के सामाजिक कार्यों में संलग्न हो अपनी निजी वेदना में पाठक को डुबोकर एक स्थायी स्मृति छोड़कर चले जाते हैं। यहीं पर हमें द्विवेदी जी के कुशल साहित्य-शिल्पी होने का परिचय भी मिल जाता है और अपनी उदात्त प्रगतिशील संस्कृति का बोध भी हो जाता है।

'भारतवर्ष की धर्म व्यवस्था में बहुत से छिद्र हो गये हैं।'[१]

'आर्यावर्त के विनाश का हेतु व्यर्थ का कुलाभिमान है।'[२]

'हमें कुछ ऐसा करना चाहिए कि सारी प्रजा दुर्भेद्य चट्टान की तरह हो जाय। किसी को उसकी ओर आँख उठाने का साहस न हो।'[३]

'मैं स्पष्ट देख रहा हूँ आर्यावर्त नाश के कगार पर खड़ा है—इस देश को वही बचायेगा जिसके पास सहज जीवन का कवच होगा, सत्य की तलवार होगी, धैर्य का रथ होगा, साहस की ढाल होगी, मैत्री का पाश होगा, धर्म का नेतृत्व होगा।'[४]

'अमृत के पुत्रों, नगाधिराज हिमालय की शीतल छाती में हलचल दिखाई दे रही है।······जवानो, प्रत्यन्त दस्यु आ रहे हैं।'[५]

'आर्यावर्त के तरुणो, जीना सीखो मरना सीखो, इतिहास से सीखना सीखो। आर्यावर्त नाश के कगार पर खड़ा है। जवानो, प्रत्यन्त दस्यु आ रहे हैं।'[६]

---

१. चारुचन्द्र लेख।
२. वही।
३. वही।
४. चारुचन्द्र लेख।
५. बाणभट्ट की आत्मकथा।
६. वही।

'शास्त्रों में जो समाज सन्तुलन की व्यवस्था है वह मनुष्य की बनायी है, विधाता के इंगित पर नहीं बनी है। सारा अपौरुषेय समझा जानेवाला ज्ञान, विधि-विधान का अंग नहीं है। मनुष्य के बनाये घर-द्वार और ईंट-पत्थर के समान वह भी आलोच्य और परिवर्तितव्य है। ठीक कह रहा हूँ आयुष्मान ?'[१]

'रूढ़ियाँ इसीलिए तो बनी हैं कि वे लोग भी सही रास्ते पर चल सकें जिनको बहुत सोचने की शक्ति विधाता ने नहीं दी है।'[२]

'लोक-ताप से तप्त होना सबसे बड़ा तप है, क्योंकि वह अखिलात्मा पुरुष की परमाराधना है। यही वैश्वानर-उपासना भी है।'[3]

'जिस कार्य से किसी को शारीरिक या मानसिक कष्ट होता है, वह पाप कार्य है। पर किसी का दुःख दूर हो उसका इहलोक सुधर जाये, रोगी नीरोग हो जाये, दुखिया सुखी हो जाय, भूखा अन्न पाये, प्यासा जल पावे, कमजोर लोग आश्वासन पावें, वे सब पुण्य हैं, क्योंकि इनसे अन्तःकरण में विराजमान परमदेवता प्रसन्न होते हैं।[४]

ऐसे सम्बोधनों में आचार्य द्विवेदी जी का भविष्यद्रष्टा साहित्यकार अतीत संस्कृति के आलोक में वर्तमान की झाँकी प्रस्तुत करता हुआ कर्तव्य के प्रति हमें जागरूक बनाता है। प्रतीकों तक के प्रयोग में द्विवेदी जी ने समसामयिक सन्दर्भों का ध्यान रखा है। हमारी संस्कृति कभी भी जड़ और संकीर्ण नहीं रही है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में वाराह की मूर्ति का प्रतीकात्मक प्रयोग हमारी जिस सांस्कृतिक उदारता को व्यक्त करता है उसी प्रकार की व्यंजना 'चारुचन्द्रलेख' में द्विवेदी जी ने नाटी माँ—द्वारा बार-बार गाये जाने वाले श्लोक में की है। 'पुनर्नवा' का तो शीर्षक ही ऐसा है जो जड़ता को अस्वीकार करने वाला है। इस प्रकार मानव के सामाजिक अस्तित्व को दृढ़ करनेवाली विकासमान संस्कृति के परिवेश में लिखे गये आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास साहित्य की अनुपम देन हैं।

●

१. पुनर्नवा, पृ० १३६।
२. वही, पृ० १७८।
३. अनामदास का पोथा, पृ० ७५।
४. वही, पृ० ६५।

३ | ऐतिहासिक उपन्यासकार की सीमा

आचार्य द्विवेदी के सांस्कृतिक उपन्यासों का परिवेश ऐतिहासिक है। पौराणिक सन्दर्भों को भी उन्होंने ऐतिहासिकता प्रदान करने की चेष्टा की है। अतः उनके उपन्यासों का मूल्यांकन करते समय ऐतिहासिक उपन्यासों के प्रतिमानों को सामने रखना पड़ेगा।

कहानी अथवा कथा-तत्व उपन्यास का मूलाधार है। कहानी के अधिकांश पात्र मानव प्राणी ही होते हैं। यद्यपि मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य जीवों को भी कहानी का विषय बनाया गया है, पर उनकी मनोवैज्ञानिक गति-विधि के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी प्राप्त होने के कारण लेखकों को उनमें सफलता अधिक नहीं मिल पायी है। उपन्यासकार स्वयं मनुष्य होता है और उसके द्वारा निर्मित पात्र भी मानव होते हैं जिससे उनके साथ लेखक की आत्मीयता आसानी से बढ़ जाती है। ऐसी आत्मीयता अन्य कलाओं में कठिनाई से ही प्राप्त हो सकती है। उपन्यास-लेखन-कला की सभी विशेषताएँ अन्य कलाओं की अपेक्षा इतिहास-लेखन-कला में अधिक पायी जाती हैं, पर हम देखेंगे कि उपन्यासकार की अपेक्षा अपने पात्रों से इतिहासकार का परिचय कम होता है। देश-काल तथा चरित्र-निर्माण में एक श्रेष्ठ उपन्यासकार का जितना बड़ा दायित्व होता है उससे कहीं अधिक दायित्व ऐतिहासिक उपन्यासकार का होता है क्योंकि पाठक और आलोचक की जितनी कड़ी निगाह ऐतिहासिक उपन्यासों की ओर रहती है उतनी अन्य उपन्यासों की ओर नहीं। मानव कृत सभी कलाओं एवं कलाकारों की अपनी-अपनी सीमाएँ होती हैं और अपने-अपने ढंग से वे सभी मानव-समाज का विश्वसनीय चित्र उतारते हैं, पर इतिहासकार तथा ऐतिहासिक उपन्यासकार की शक्ति और सीमा अपेक्षाकृत महान् होती है। चित्रकार और मूर्तिकार भी अनुकृति तैयार करते हैं, पर इनकी चर्चा इस प्रसंग में वांछनीय नहीं, क्योंकि उनका उद्देश्य तब तक मानव भावनाओं का प्रतिनिधित्व करना नहीं रहता जब तक कि वे वैसा करने का संकल्प न कर लें। चित्रकार एवं मूर्तिकार की अपनी व्यक्तिगत सीमाएँ हैं। कवि की भी अनुभूतियाँ व्यक्तिगत अधिक होती हैं और संगीतज्ञ यदि चाहे भी तो मानव भावनाओं का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता, जब तक कि उसे उस प्रकार का संगीत न दे दिया जाय।

अपने अन्य समानधर्मी सहयोगियों के प्रतिकूल ऐतिहासिक उपन्यासकार अनेक लोगों का समूह निर्मित करता है, उनका नामकरण करता है, उन्हें स्त्री और पुरुष वर्गों में विभाजित करता है, उनकी यथासम्भव प्रामाणिक रूप-रेखा तैयार करता है और ऐसी परिस्थितियों की योजना करता है जिनमें वे परस्पर वार्तालाप अथवा सामाजिक व्यवहार करते जान पड़ते हैं। शब्द-रूप यह जन-समूह ऐतिहासिक उपन्यासकार के चरित्रों का समूह होता है। ये चरित्र अनायास ही उपन्यासकार के मस्तिष्क में नहीं आ जाते, बल्कि अनुभूति की तीव्रता के माध्यम से उत्तेजना के क्षणों में ऐतिहासिक उपन्यासकार उनका निर्माण करता है। समसामयिक समाज के लोगों के सम्बन्ध में उपन्यासकार जो अनुमान लगाता है तथा अपने व्यक्तिगत जीवन के आधार पर वह जो कुछ अनुभव करता है उसे पूर्णतः सँवार-बनाकर अपनी शक्ति द्वारा अतीतकालीन वातावरण का रंग देकर इतिहास की पीठिका पर ही वह अपने चरित्रों को अत्यन्त विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत करता है। ऐतिहासिक उपन्यासकार चरित्रों के स्वभावों का निर्माण उपर्युक्त विधि से सफलतापूर्वक कर पाता है। उपन्यास के अन्य प्रसंगों से भी चरित्रों का अभिन्न सम्बन्ध होता है और उन प्रसंगों के निर्माण में भी ऐतिहासिक उपन्यासकार को उतनी ही सावधानी बरतनी पड़ती है जितनी कि वह चरित्र निर्माण में बरतता है। अतः उपन्यास के अन्य प्रसंगों के साथ चरित्रों के सम्बन्ध किस प्रकार के हों, उसकी जानकारी के लिए इस प्रसंग को अन्य प्रकार से सोचना पड़ेगा। सर्वप्रथम हमें इस पर विचार करना पड़ेगा कि ऐतिहासिक उपन्यासों में आये चरित्रों का मानव के वास्तविक जीवन से क्या सम्बन्ध है, जिनका प्रतिनिधित्व करने के लिए वे प्रस्तुत किये गये हैं। उपन्यास में आये व्यक्ति तथा उपन्यासकार अथवा साधारण व्यक्ति में क्या अन्तर है, या एक विशिष्ट व्यक्ति जैसे सम्राट में क्या भेद है आदि ऐसे प्रश्न हैं जो निराकरण की अपेक्षा रखते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि सभी व्यक्ति एक जैसे नहीं होते, उनमें अन्तर का रहना अनिवार्य है। यदि उपन्यास का कोई पात्र हूबहू 'महारानी लक्ष्मीबाई' की तरह है अर्थात् 'लक्ष्मीबाई' जैसा नहीं बल्कि लक्ष्मीबाई ही है तो वह उपन्यास का पात्र नहीं, बल्कि 'महारानी लक्ष्मीबाई' ही है। ऐसी स्थिति में उपन्यास अथवा उसके पात्र जिन स्थलों का स्पर्श करते हैं, वे स्थल उपन्यासकार की मौलिक सृष्टि न रहकर ऐतिहासिक तथ्य बनकर रह जाते हैं। दर्पण की भाँति यह एक ऐसी चरित्र-रचना है जो साक्ष्य के आधार पर अस्तित्व ग्रहण करती है और साक्ष्य पर आधारित चरित्र-रचना ही इतिहास है। इतिहासकारों का विषय कार्य है (action) और वे मानव-चरित्रों की वहीं तक चर्चा करते हैं जहाँ तक कि उनके कार्यों का सम्बन्ध है। इतिहासकार का सम्बन्ध उसके चरित्रों से उतना ही है जितना कि उपन्यासकार का पर इतिहासकार उसके सम्बन्ध में प्राप्त तथ्यों अथवा प्रमाणों के अभाव में कोई भी सूचना नहीं दे सकता

जब कि ऐतिहासिक उपन्यासकार भाव-भंगियों एवं परिस्थितियों के आधार पर चरित्रों के अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर गोप्य तथ्यों की भी सम्भावित सूचना प्राप्त करता है ।

उदाहरण के लिए—यदि महारानी विक्टोरिया ने प्रत्यक्ष रूप में यह न कहा होता कि मेरा विनोद अथवा मन बहलाव नहीं हुआ तो उसके साथ बैठे टेबुल पर के पड़ोसी यह कभी भी न जानते कि साम्राज्ञी प्रसन्न नहीं हुई और न तो उसकी सूचना ही प्रसारित की जा सकती जो इतिहास का विषय है । मुखाकृति तथा भाव-भंगिमाओं के साक्ष्य भी इतिहास मानता है पर यदि वे व्यक्त न हों तो इतिहासकार उनकी सूचना नहीं दे सकता क्योंकि वह वाह्य प्रमाण खोजता है । परोक्ष जीवन तभी प्रत्यक्ष होता है जब वह कार्य-रूप में परिणत हो जाता है । ऐतिहासिक उपन्यासकार की सीमा इतिहासकार की सीमा नहीं है, बल्कि वह उससे आगे बढ़कर गुप्त अथवा परोक्ष जीवन का भी उद्घाटन करता है और हमें बताता है कि इतिहास की महारानी विक्टोरिया ही वास्तविक 'विक्टोरिया' नहीं हैं बल्कि वह उससे कुछ और अधिक हैं । इतिहास केवल वाह्य कारणों को ही महत्व देता है, जब कि ऐतिहासिक उपन्यास का विषय आन्तरिक कारण भी है । इतिहासकार केवल तथ्यों का ही संग्रह करता है जब कि ऐतिहासिक उपन्यासकार उनका निर्माण भी करता है । इससे इतना अन्तर तो स्पष्ट हो ही जाता है कि व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में पुस्तकीय जीवन से कुछ भिन्न अवश्य है । दैनिक जीवन में हर-एक को समझ पाना सम्भव नहीं है क्योंकि न तो व्यक्ति पूर्णतः अपनी वास्तविकता को स्वीकार करता है और न तो समझने अथवा परखनेवाले में इतनी अन्तर्दृष्टि ही है कि उसके भीतर की छिपी हुई दूर की घटनाओं को देखकर उसके सच्चे रूप को प्रस्तुत कर सके । हम हरएक को अनुमान से वास्तविकता के समीप तक ही जान पाते हैं, जिसमें बाह्य लक्षणों को ही साधन मानना पड़ता है ।

उपन्यासकार की स्थिति साधारण व्यक्ति से सर्वथा भिन्न हुआ करती है । यदि वह चाहे तो अपने चरित्रों को पाठकों के सम्मुख पूर्णतः यथार्थ रूप में प्रस्तुत कर सकता है क्योंकि उसमें ऐसी शक्ति होती है कि वह उनके वाह्य और आन्तरिक जीवन को समान रूप से प्रकट कर सकता है । यही कारण है कि ऐतिहासिक उपन्यासों के चरित्र इतिहास के चरित्रों से अधिक पूर्ण जान पड़ते हैं । ऐतिहासिक उपन्यासकार जितना कह सकता है अथवा जानता है वह अपने चरित्रों के सम्बन्ध में कह देता है । ऐतिहासिक उपन्यासों के चरित्र अपूर्ण एवं अस्वाभाविक भले ही हों, फिर भी वे अपना कुछ छिपाते तो नहीं जब कि हमारे मित्र पात्र निश्चित रूप से कुछ न कुछ छिपाते हैं क्योंकि इस भूमि-तल पर पारस्परिक दुराव-छिपाव मानव जीवन की एक प्रमुख विशेषता है ।

सत्य मुख्यतः दो प्रकार के हुआ करते हैं—एक तो कठोर सत्य, जो आँखों देखा सत्य है और दूसरा सम्भावित सत्य, जो आँखों देखा न भी हो तो भी उस पर

विश्वास किया जा सकता है। इन सम्भावित सत्यों को भी ऐतिहासिक उपन्यासकार स्वीकार कर सकता है, यदि वे तर्क एवं सम्भावना से परे नहीं हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में हमें ऐसे समाज और उसके व्यक्तियों का चित्रण करना पड़ता है जो सदा के लिए विलुप्त तो हो चुके हैं किन्तु उसने पद-चिन्ह कुछ जरूर छोड़े हैं, जो उनके साथ मनमानी करने की इजाजत नहीं दे सकते।"[१] ऐतिहासिक वातावरण, घटनाओं एवं पात्रों का चित्रण तत्कालीन ऐतिहासिक संगति का ध्यान रखते हुए करना ही श्रेयस्कर है। ऐतिहासिकता का रंग चढ़ाकर पात्रों एवं कथानक की कल्पना करने की उपन्यासकार को वहीं तक छूट है जहाँ तक ऐतिहासिक संगति का निर्वाह होता रहे। "किसी ऐतिहासिक उपन्यास में यदि बाबर के सामने हुक्का रखा जायगा, गुप्त काल में गुलाबी और फिरोजी रंग की साड़ियाँ, इत्र, मेज पर सजे गुलदस्ते; झाड़-फानूस लाये जायँगे, सभा के बीच खड़े होकर व्याख्यान दिये जायँगे और उन पर करतल ध्वनि होगी, बात-बात में धन्यवाद, सहानुभूति ऐसे शब्द तथा सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना ऐसे फिकरे पाये जायँगे तो काफी हँसनेवाले और नाक-भौं सिकोड़नेवाले मिलेंगे।[२] इस दृष्टि से उपन्यासकार को ऐतिहासिक यथार्थ की ओर चलने के लिए अत्यन्त सावधानी के साथ चरण रखने होंगे। किसी भी युग की वास्तविकता को समझ लेना ही ऐतिहासिक उपन्यासकार की सबसे बड़ी सफलता है।

ऐतिहासिक तथ्यों के आकलन में, यदि वर्ग का इतिहास है, तो निश्चित ही वह वर्गपरक साहित्य होगा। एक स्वस्थ साहित्यकार वर्ग आदि के पचड़े में कभी भी नहीं पड़ता। वह निष्पक्ष भाव से समाज के हित में तत्कालीन परिस्थितियों का यथार्थ चित्र उपस्थित करता है। इसके अन्दर केवल तद्वत् चित्र नहीं उतार दिया जाता, बल्कि वर्गभेद के कारणों को भी समझने का प्रयत्न किया जाता है तथा वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों की भी विवेचना की जाती है। वर्ग-भेद का यह विकास अपने द्वन्द्वात्मक रूप में रहा है और द्वन्द्वों के भीतर भी विरोध रहे हैं, जो पास्परिक विरोधों के कारण द्वन्द्वात्मकता में मनुष्य को निरन्तर विकास की ओर बढ़ाते रहे हैं। 'मार्क्स' ने इतिहास का गहन अध्ययन करके यही तथ्य निकाला था कि समाज का भी द्वन्द्वात्मक विकास होता है। दो के संघर्ष से परिणाम में गुण बदलता है और तीसरा जन्म लेता है। इसीलिए 'मार्क्स' ने मनुष्य समाज को प्रकृति से संघर्ष करने को कहा है। जिस साहित्य के अन्दर प्रगति का बीज रहता है, वही युग का महान साहित्य होता है। "कला मनुष्य की सामूहिक क्रियाओं की अनुभूति है, जो अपने सुख-दुःख तथा श्रम को

१—राहुल सांकृत्यायन, आलोचना, उपन्यास अंक पृ० १७०।

२—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५३७-३८।

हल्का करने के लिए बनायी गयी थी। प्रत्येक युग में उसकी अनुभूति का स्वरूप बदलता है और कला भी बदलती रही है।"[1]

विगत युग का सामाजिक यथार्थ ही, वर्तमान युग का ऐतिहासिक यथार्थ है। इस प्रकार जो प्रचार साहित्य के माध्यम से किया जाता है, उसका तात्पर्य यह है कि असलियत को खोलकर सामने रख दिया जाय। साहित्य में यह कार्य बहुत सरल है। वास्तविकता के हम जितने निकट होंगे, उतनी ही सरलता से हम वर्गों की परिस्थिति पर प्रकाश डाल सकते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासकार अपनी कृति के लिए ऐसा युग ले सकता है, जिसकी कुछ प्रामाणिक समकालीन लिखित सामग्री प्राप्त है। भारतवर्ष का कुल लिखित इतिहास लगभग तीन-चार हजार वर्षों का है जिसके भीतर ही लेखक को ऐतिहासिक उपन्यासों की सामग्री ढूँढ़नी होगी। उपन्यासकार के लिए ऐतिहासिक उपन्यास लिखते समय यह आवश्यक नहीं है कि वह काल की सम्पूर्ण प्राप्त सामग्री का समावगाहन करे, क्योंकि यह कभी भी सम्भव नहीं हो सकता। पर ऐतिहासिक सामग्री का सामान्य अध्ययन भी पर्याप्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सामान्य अध्ययन के आधार पर जो कल्पनाएँ उपन्यासकार करेगा उनमें हास्यास्पद बातों का भी आ जाना सम्भव है। उपन्यासकार को सर्वदा ध्यान रखना चाहिये कि उसकी एक-एक पंक्ति पर एक बड़ा निष्ठुर मर्मज्ञ-समूह पैनी दृष्टि से देख रहा है जो उसकी जरा-सी भी गलती को सहने के लिए तैयार नहीं है। कृतिकार को स्वतन्त्रता है कि वह जिस ऐतिहासिक चरित्र को चाहे, आकर्षक रूप में रख सकता है, परन्तु उसके लिए तत्कालीन देश-काल के बारे में जितनी भी ज्ञातव्य बातें हैं, उन सबका समन्वय चरित्र के विकास में दिखलाना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

ऐतिहासिक उपन्यासों के माध्यम से अतीत काल की सामाजिक एवं राष्ट्रीय परिस्थितियों का वास्तविक चित्र उपस्थित किया जाता है और अपने ढंग से यही कार्य इतिहास भी करता है। पर ऐतिहासिक उपन्यास और इतिहास एक दूसरे के लिए प्रयुक्त किये गये शब्द नहीं हैं बल्कि दोनों में महान अन्तर है। इतिहास तिथियों, घटनाओं तथा परिणामों का ठीक-ठीक वर्णन उपस्थित करता है, परन्तु ऐतिहासिक उपन्यास के अन्दर तिथियों तथा घटनाओं आदि की सत्यता पर उतना अधिक बल नहीं दिया जाता, जितना कि उस समय की सामाजिक एवं राष्ट्रीय तथा धार्मिक परिस्थितियों को उभारकर रखने के प्रति आग्रह दिखलाया जाता है।

इसका एक मात्र कारण यही है कि ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना साभिप्राय होती है। इसके द्वारा साहित्यकार को ऐसे चरित्रों का निर्माण करना रहता है, जो कि वर्तमान समाज को प्रेरणा प्रदान कर सकें तथा वह उस काल की परिस्थितियों को इस प्रकार उभारकर सजीव रूप में रखना चाहता है कि जिसके परिणामों के आधार पर हम वर्तमान समाज को उसके दोषों तथा दुर्बलताओं से बचा सकें।

१—डा० रांगेय राघव, आलोचना अप्रैल १९५२।

सभी ऐतिहासिक उपन्यासकारों को सचाई के साथ राष्ट्रीय जीवन के महान् आन्दोलनों का सजीव चित्र उपस्थित करना चाहिये। इस प्रकार साहित्यकार को यह प्रयत्न करना चाहिये कि वह इतिहास के माध्यम से वर्तमान समस्याओं का हल प्रस्तुत कर सके। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह प्राचीनता का अन्धानुकरण करने लग जाय। यदि इस प्रकार का साहित्य ऐतिहासिक उपन्यासों द्वारा निर्मित होने लगे कि उसमें समाज के केवल एक ही पक्ष का ज्ञान हो और उसमें आदर्श की प्रतिष्ठापना करने के लिए कल्पना का ही योग अधिक हो, तो वह कभी भी स्वस्थ साहित्य का रूप नहीं ग्रहण कर सकता। स्वस्थ साहित्य तो वही होगा जो तत्कालीन समाज एवं राष्ट्र का सजीव चित्र उपस्थित करने के साथ-साथ अपनी कला तथा कल्पनात्मक गुणों के द्वारा समस्याओं का हल प्रस्तुत करता चले। प्रत्येक युग की वास्तविकता को ढूँढ़ना ऐतिहासिक उपन्यासकार का मुख्य कर्तव्य है। इतिहास साक्षी है कि साहित्य में अपने युग का जो सर्वश्रेष्ठ वास्तविक चित्रण हुआ है वही सर्वश्रेष्ठ साहित्य बनकर आज तक जीवित रह सका है। वेद की ऋचाओं में तत्कालीन समाज का चित्र है, रामायण और महाभारत में तत्कालीन व्यापक से व्यापक और जटिल से जटिल समस्याएँ अधिक से अधिक सुलझे रूप में रखी गयी हैं, जिससे उनका स्वर आज भी मन्द नहीं पड़ पाया है और इसीलिए उनकी ताजगी अब भी वैसी ही है।

कला के क्षेत्र में अविकृत और विकृत चित्रण का ऐतिहासिक उपन्यासों में बड़ा महत्व है। वास्तविक चित्रण विकृत और अयथार्थ तब कहा जाता है जब उसमें तत्कालीन समाज के सम्बन्ध में आधुनिक दृष्टि को ही एक मात्र पैमाना बना लिया जाता है और पुराने पात्रों के मुख से आधुनिक लेखक बोलने लगते हैं। उदाहरण के लिए हम राहुल सांस्कृत्यायन के उपन्यासों को ले सकते हैं। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में दिशा-काल को भेदकर प्रायः एकाध मार्क्सवादी पात्र अवश्य दिखलाई पड़ जायगा। इतिहास का आधार जितना ही ठोस होता है उतना ही कलापक्ष में निखार लाने का भी अवसर मिलता है। इतिहास-शैली में लिखी 'यशपाल' कृत 'दिव्या' भगवतीचरण वर्मा कृत 'चित्रलेखा' तथा आत्मकथात्मक शैली में लिखी हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' इस प्रकार की सफल रचनाएँ कही जा सकती हैं। जहाँ तक पूर्ण ऐतिहासिक संगति का प्रश्न है 'वृन्दावनलाल वर्मा' के ऐतिहासिक उपन्यास सफल कहे जा सकते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों की सफलता की एक मात्र कसौटी-है, उपन्यासकार की निष्पक्ष एवं तटस्थ दृष्टि का होना। यदि ऐतिहासिक उपन्यासकार अपनी सृष्टि में अपने वैयक्तिक आग्रहों से ऊपर नहीं उठ पाया तो उसकी रचना में विकार का आ जाना स्वाभाविक है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार को इतिहासकार से कम विवेक की आवश्यकता नहीं है। उसके लिए यह जानना परम आवश्यक है कि किस वस्तु को सबसे अधिक महत्व

देना चाहिये और किसको कम। उपन्यासकार ऐतिहासिक अनौचित्य से तभी बच सकता है जबकि उसका ऐतिहासिक ज्ञान पूर्ण हो। कभी-कभी उपन्यासकार घटनाओं को चित्रित करते समय ऐसी भयंकर भौगोलिक भूल कर बैठते हैं कि उनकी सारी ऐतिहासिक कल्पना पर पानी फिर जाता है। यदि कहीं उसने राजपूताने में गंगा बहा दी और कश्मीर को मरुभूमि के रूप में चित्रित कर दिया तो उसके सारे किये-कराये कृतित्व पर पानी फिर जायगा। ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए अनौचित्य से बचने हेतु जिस तरह तत्कालीन ऐतिहासिक सामग्री और इतिहास का अच्छी तरह अध्ययन आवश्यक है, उसी तरह उसके लिए भौगोलिक अध्ययन की भी आवश्यकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बहुत सी छूटों के मिलने पर भी ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए अन्य कृतिकारों की अपेक्षा अधिक कड़े बन्धनों का पालन करना पड़ता है। उसकी कथा की कोई भी कल्पना विगत अथवा इतिहास से उसी प्रकार अपने को सर्वथा मुक्त नहीं कर सकती, जिस प्रकार इतिहास अपने को कल्पना से पृथक् नहीं कर सकता।

प्रत्येक युग में कैसे-कैसे परिवर्तन होते हैं और उनमें परिवर्तन लानेवाली कौन-कौन सी शक्तियाँ हुआ करती हैं तथा प्रत्येक युग की सामाजिक रूपरेखा क्या थी, आदि सभी ऐतिहासिक उपन्यास के विषय हैं। मानव-विकास के आरम्भ में स्त्री समाज की अप्सरा थी जो स्वेच्छाचारिणी थी। उस समय स्त्री पर किसी प्रकार का यौन प्रतिबन्ध नहीं था, परन्तु आज की परिस्थिति में पहले की अपेक्षा महान अन्तर हो गया है। इन सभी समस्याओं को ऐतिहासिक उपन्यासों के माध्यम से सजीव रूप में चित्रित किया जाता है। साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासों की सृष्टि सोद्देश्य की जाती है। वर्तमान से अतीत को सुन्दर समझने की भावना तथा प्रस्तुत परिस्थितियों से असंतुष्ट अथवा वर्तमान से पराजित होने के कारण अतीत की शरण में जाने की प्रवृत्ति ऐतिहासिक उपन्यासों को जन्म देती है। वर्तमान की दुर्बलताओं को अतीत के वैभवों से शक्तिशाली बनाने, कुछ ऐतिहासिक पात्रों के प्रति (जिनके प्रति इतिहासकार न्याय नहीं कर सके हैं), न्याय करने, इतिहास के प्रति सहज आकर्षण होने, जाति-गौरव, राष्ट्र-प्रेम तथा वीर-पूजा की भावना रखने तथा जीवन की किसी नवीन व्याख्या को प्रस्तुत करने की सबल प्रेरणा उपन्यासकार को ऐतिहासिक उपन्यास की सृष्टि के लिए बाध्य करती है। इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास की मूल प्रेरणा में ही अन्तर है। इस प्रकार यदि हम चाहें तो इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास की भेदकता को कतिपय शब्दों में प्रकट कर सकते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास के साथ-साथ कल्पना, अनुभूति तथा इतिहास-संगत सौंदर्य-सामग्रियों का भी उपयोग होता है पर इतिहास में केवल तिथि-क्रम तथा बाह्य घटनाओं का ही सीधा-सादा वर्णन किया जाता है।[1] व्यक्ति को प्रधानता देकर उससे सम्बन्धित देश-काल, परिस्थिति तथा

1. History with its emphasis on exterrnal causes is dominated by the notion of fatality whereas there is no fatality in the

सुख-दुःख पर ही उपन्यासकार का ध्यान केन्द्रित रहता है, पर इतिहासकार राष्ट्र अथवा समाज में घटनेवाली घटनाओं को ही महत्व देकर तत्कालीन देश-काल का सामूहिक दृष्टि से विचार करता है। ऐतिहासिक उपन्यास के सभी पात्र प्रायः लेखक की सृष्टि होते हैं। यही कारण है कि एक ही काल के उपन्यासों में हम चरित्रों को सदा एक-से नहीं वल्कि भिन्न-भिन्न रूपों में पाते हैं। इतिहास के पात्र इतिहासकार की सृष्टि नहीं होते बल्कि उनके अपने आंख-कान होते हैं। उपन्यास की गिनती कला में होती है, जिससे ऐतिहासिक उपन्यासों में कुछ लचीलापन भी होता है, पर इतिहास वैज्ञानिक तथ्य होने के कारण एक शास्त्र है। फलस्वरूप इनमें कठोरता अधिक होती है। उपन्यासकार बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही शृंखलाओं का तारतम्य बैठाकर अपना चित्र बनाता है, जबकि इतिहासकार बाह्य शृंखलाओं से ही संतोष कर लेता है। इतिहास एक शुष्क नीरस तालिका मात्र है जबकि ऐतिहासिक उपन्यास एक जीवन्त मनोहर चित्र है।

हिन्दी में सफल ऐतिहासिक उपन्यासों का नितान्त अभाव है। बंगला में लिखे गये श्री राखालदास बन्द्योपाध्याय के ऐतिहासिक उपन्यास उत्कृष्ट कोटि के हैं। इनके उपन्यासों में तत्कालीन युग की सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का जैसा जीता-जागता चित्र मिलता है, वैसा हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा रचित 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारुचन्द्रलेख' और 'पुनर्नवा' को छोड़कर, हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में कम ही आ पाया है। राष्ट्रीयता और आत्म-बलिदान की भावना जितनी तीव्र होकर 'बंकिम चन्द्र' के 'आनन्द-मठ' जैसे उपन्यास में व्यक्त हुई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

---

novel; there everything is founded on human Nature and the dominating feeling is of an existance where every thing is intentional even passions and crimes, even misery.

(Aspect of the novel by E. M. Forsters)

४ आत्मकथात्मक उपन्यास की शैलीगत विशेषता

शैली के आधार पर हिन्दी उपन्यास-साहित्य को वर्णनात्मक अथवा ऐतिहासिक आत्मकथात्मक, पत्रात्मक तथा डायरी आदि प्रमुख वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। पत्रात्मक और डायरी शैली का प्रचार अथवा उसकी लोकप्रियता जितनी हिन्दी कहानियों के क्षेत्र में हुई है उतनी हिन्दी उपन्यासों के क्षेत्र में नहीं। वर्णनात्मक अथवा ऐतिहासिक और आत्मकथात्मक शैली में ही हिन्दी के अधिकांश श्रेष्ठ उपन्यास लिखे गये हैं। आत्मकथात्मक शैली की अपेक्षा ऐतिहासिक शैली के उपन्यासकार को विषय-विस्तार के लिए अधिक भूमि मिलती है और उसे कलात्मकता का भी अपेक्षाकृत कम ध्यान रखना पड़ता है, जिससे आत्मकथात्मक शैली में लिखे श्रेष्ठ हिन्दी उपन्यासों का नितान्त अभाव-सा है। ऐतिहासिक शैलीकार, इतिहासकार की भाँति उपन्यास के चरित्रों तथा उससे सम्बन्धित घटनाओं का इतिवृत्तात्मक वर्णन अपनी कल्पना, अनुभूति एवं जानकारी के आधार पर लिख देता है और अन्त में कभी-कभी वह तटस्थ द्रष्टा की भाँति अपना कोई न कोई निर्णय भी घोषित करता है अथवा अपनी किसी मान्यता की स्थापना करने की भी चेष्टा करता है। विविध वर्णनों की जितनी सम्भावनाएँ ऐतिहासिक शैली में होती है उतनी अन्य किसी में नहीं। विषय की दृष्टि से आत्मकथात्मक और ऐतिहासिक शैली के उपन्यासों में पूर्ण साम्य होते हुए भी विस्तार एवं प्रभाव की दृष्टि से कुछ अन्तर अवश्य है। आत्मकथात्मक उपन्यासों के विषय-विस्तार की अपनी सीमाएँ हैं, जिसमें कल्पना का उपयोग एक सीमा तक ही और विशेष पद्धति से ही हो सकता है। सम्पूर्ण उपन्यास में उपन्यासकार अपने मुख से प्रकट कुछ भी नहीं बोल सकता और उसे जो भी कुछ कहना रहता है, वह उसे चरित्रों के माध्यम से हो नहीं, बल्कि चरित्रों के रूप में ही कहता है। इस प्रकार लेखक उपन्यास के पात्रों का स्थान स्वयं ग्रहण करता है और एक-एक घटना का विवरण, अत्यन्त विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत करता है। ऐसी स्थिति में उपन्यासकार उन्हीं घटनाओं, परिस्थितियों तथा मनोदशाओं का वर्णन उपन्यास में कर पाता है जितना कि उसने स्वयं देखा, सुना अथवा अनुभव किया है। जहाँ कहीं वह अपना छद्मवेश भूलकर शैलीगत अभिनय में असफल हुआ नहीं कि, आत्मकथात्मक उपन्यास की सारी मर्यादा समाप्त हुई। इस प्रकार जितने भी कल्पित एवं वास्तविक वर्णन आत्मकथात्मक उपन्यासकार की लेखनी से अस्तित्व में आते हैं, वे सभी यथार्थ एवं

वास्तविकता का पूर्ण भ्रम उत्पन्न करते हैं। अतः एक ओर जहाँ आत्मकथात्मक उपन्यासों में विषय का संकोच लक्षित होता है, वहीं दूसरी ओर प्रभाव का गाम्भीर्य भी।

उपन्यास, उपन्यासकार की सृष्टि है। स्रष्टा अपनी सृष्टि में विश्वास उत्पन्न कराना चाहता है। अतः उपन्यासकार भी स्वनिर्मित घटनाओं तथा चरित्रों के प्रति पाठकों का विश्वास आकर्षित करना चाहता है। कुशल उपन्यासकार अपनी कलात्मकता के द्वारा अपने उपन्यास में वर्णित घटनाओं, परिस्थितियों तथा पात्रों की मनोदशाओं के प्रति पाठकों के बीच सत्य एवं वास्तविकता का ऐसा भ्रम उत्पन्न कर देता है कि वे उन्हें उपन्यासकार की सृष्टि न समझकर सत्य समझने लग जाते हैं और जब तक कृतिकार का प्रभाव उन पर रहता है वे उस भ्रम से विरत नहीं हो पाते। ऐसे प्रभाव की सृष्टि में आत्मकथात्मक उपन्यासकार अपेक्षाकृत अधिक प्रमाणित होता है, क्योंकि ऐसे उपन्यासों में घटनाओं की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्व दिया जाता है, जिससे सम्बन्धित होने के कारण उपन्यास के अन्य आवश्यक तत्व गौण रूप में अपने आप चले आते हैं। आत्मकथात्मक उपन्यास का प्रधान उद्देश्य होता है चरित्र-निर्माण अथवा व्यक्ति या समूह की कहानी कहना। सभी उपन्यासकार किसी न किसी प्रकार व्यक्ति या समूह की कहानी ही कहते हैं। किसी व्यक्ति द्वारा जब किसी अन्य व्यक्ति की जीवन-सम्बन्धी घटनाएँ लिखी जाती हैं तो उसे जीवनी और जब व्यक्ति स्वयं अपनी जानकारी के आधार पर अपनी जीवनी लिखता है तो उसे आत्मकथा कहते हैं। जीवनी अथवा जीवन-चरित्र प्रायः ऐतिहासिक अथवा वास्तविक व्यक्तियों से सम्बन्धित कथाओं को ही कहते हैं। कल्पित अथवा अवास्तविक व्यक्तियों के जीवन-सम्बन्धी घटनाओं की संघटना जब लेखक अपनी अनुभूतियों एवं कल्पना के आधार पर प्रस्तुत करता हैं तो उसे हम ऐतिहासिक अथवा वर्णनात्मक शैली में लिखित उपन्यास की संज्ञा दे सकते हैं। ऐतिहासिक अथवा वास्तविक व्यक्ति जब अपना जीवन-चरित्र स्वयं लिखता है तो उसे आत्मकथा और जब किसी कल्पित की जीवनी आत्मकथा के रूप में लिखी जाता है तो उसे आत्मकथात्मक उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है। आत्मकथात्मक उपन्यास के भी नायक ऐतिहासिक और कल्पित दो प्रकार के हो सकते हैं, जैसे हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का 'बाणभट्ट' और 'अज्ञेय' कृत 'शेखर एक जीवनी' का 'शेखर'। जिस आत्म-कथात्मक उपन्यास का नायक ऐतिहासिक व्यक्ति होता है उसे यदि हम आत्मकथात्मक शैली में लिखा ऐतिहासिक उपन्यास कहें तो अनुचित न होगा, यदि उनमें ऐतिहासिक उपन्यासों की विशेषताएँ मिल जाती हों। इस प्रकार के उपन्यासों के लिए यह नितान्त आवश्यक नहीं है कि उनके सभी पात्र ऐतिहासिक हों, नायक को छोड़कर वे सभी कल्पित हो सकते हैं यदि वे देश-काल तथा तत्कालीन परिस्थितियों की संगति के अनुकूल हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' इसी प्रकार का ऐतिहासिक उपन्यास है। बाणभट्ट को छोड़कर

जिसके प्रायः सभी प्रमुख चरित्र कल्पित हैं शेष कल्पित पात्रों के चरित्र उतने ही वास्तविक जान पड़ते हैं जितना कि प्रमुख पात्र का; क्योंकि उनके सम्बन्ध में जितनी भी बातें कही जाती हैं वे सभी प्रमुख पात्र द्वारा ही कही जाती हैं और यदि प्रमुख पात्र में हमारा विश्वास है तो उसके कथन में अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। आत्मकथात्मक शैली की यही सबसे बड़ी विशेषता है कि उसके चरित्र अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय होते हैं क्योंकि उनमें उपन्यासकार की अपनी जानकारी एवं अनुभूति की तीव्रता निहित रहती है। सामान्य आत्मकथात्मक उपन्यासकारों की अपेक्षा ऐतिहासिक आत्मकथात्मक उपन्यासकार का सर्जन-कर्म थोड़ा कठिन होता है क्योंकि उसे अपने ज्ञान एवं अनुभूतियों को अध्ययन एवं कल्पना के द्वारा एक ऐसे व्यक्ति के ऊपर आरोपित करना पड़ता है, जो न तो उसका जाना-पहचाना है और न उसका समसामयिक ही है। इस प्रकार उसे एक ऐसे व्यक्ति अथवा समूह का निर्माण करना पड़ता है जो उसका प्रतिनिधि तो है, पर देखने में बिल्कुल भिन्न है। इस प्रकार ऐतिहासिक उपन्यासकार से भी अधिक आत्मकथात्मक ऐतिहासिक उपन्यासकार को अग्नि-परीक्षा देनी पड़ती है क्योंकि ऐतिहासिक उपन्यासकार को तो बाह्य आचार-विचार एवं परिस्थितियों का ही वर्णन कल्पना के माध्यम से करना पड़ता है जिसके लिए इतिहास प्रभूत आधार प्रस्तुत कर देता है, पर आत्मकथात्मक ऐतिहासिक उपन्यासकार को तो उनसे भी एक कदम आगे बढ़कर अपनी वर्तमानकालिक अनुभूतियों एवं मनोदशाओं को अतीतकालीन व्यक्ति पर आरोपित करना पड़ता है जिसमें न तो वह रहा है और न उन परिस्थितियों का उसे किसी प्रकार का अनुभव ही है।

कहानी के अभाव में उपन्यास की सृष्टि सम्भव नहीं है। आत्मकथात्मक उपन्यासकार जब लिखने बैठता है तो कहानी के रूप में उसके सम्मुख जो पहली चीज उपस्थित होती है, वह है किसी व्यक्ति की सूरत अथवा व्यक्तियों का एक समूह जिन्हें वह गतिमान देखना चाहता है और जिनके प्रति वह विश्वस्त हो जाता है कि वे अवश्य ही उसके उद्देश्य की सिद्धि कर सकेंगे। अभिप्रेत व्यक्ति उसके सम्मुख निश्चित, पूर्ण एवं स्पष्ट रूप में आकर खड़े हो जाते हैं जिन्हें वह समझने का प्रयत्न करता है, जिससे उनके स्वभाव को प्रकट करने में वह सफल हो सके। किसी भी उपन्यासकार के लिए किसी भी चरित्र का निर्माण करना तब तक सम्भव नहीं होता जब तक कि वह अपनी कल्पना के सम्मुख किसी भी जीवित व्यक्ति को लाकर खड़ा नहीं कर लेता क्योंकि बिना किसी एक व्यक्ति को मस्तिष्क में लाये यह कभी भी सम्भव नहीं हैं कि चरित्रों में जीवन-प्रेरणादायिनी शक्ति का संचार किया जा सके। उपर्युक्त जीवित व्यक्ति समाज का कोई भी प्रतिष्ठित व्यक्ति हो सकता है जिसके प्रति लेखक की आस्था हो अथवा वह स्वयं लेखक भी हो सकता है। प्रायः आत्मकथात्मक उपन्यासों में वह जीवित व्यक्ति उपन्यासकार ही

हुआ करता है और यही कारण है कि आत्मकथात्मक उपन्यासों की घटनाओं, प्रसंगों एवं चरित्रों में पाठकों को सच्चाई का अंश अधिक परिलक्षित होता है। यह लेखकों की सामान्य प्रवृत्ति होती है कि वे कम से कम श्रम करना चाहते हैं और आत्मकथात्मक उपन्यास लिखने में पर्याप्त श्रम करना पड़ जाता है जिससे अपेक्षाकृत हिन्दी में आत्म-कथात्मक उपन्यासों की संख्या अत्यल्प ही है।

इसमें सन्देह नहीं कि आत्मकथात्मक उपन्यास लिखे गये हैं और ऐसे श्रेष्ठ आत्मकथात्मक उपन्यास लिखे गये हैं जिनका हिन्दी उपन्याससाहित्य में प्रमुख स्थान ही नहीं है बल्कि उन्होंने श्लाघनीय सफलता भी प्राप्त की है। इस प्रसंग में हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'अज्ञेय' कृत 'शेखर—एक जीवनी' का नाम लिया जा सकता है। अन्य उपन्यासों की भाँति ही इन उपन्यासों में निश्चित व्यक्तियों को ही चरित्र के रूप में अंकित किया गया है, जिनकी वास्तविकता में पाठक सन्देह नहीं कर सकता। व्यक्ति का अविकल चित्रांकन ही आत्मकथात्मक उपन्यासकार की सफलता है, जिसे विद्वानों ने स्वीकार किया है।[1]

आत्मकथात्मक उपन्यासकारों को भी चरित्रों को दृश्यों में ही प्रस्तुत करना पड़ता है। इन दृश्यों का आविष्कार अथवा संघटन कल्पना द्वारा उपन्यासकार को ही करना पड़ता है। आत्मकथा-लेखक को विषय-संग्रह हेतु किसी प्रकार की कलात्मकता की आवश्यकता नहीं पड़ती और वह काल-क्रमानुसार अपने जीवन में घटनेवाली घटनाओं एवं उनके प्रभावों को अपनी स्मृति के आधार पर लिपिबद्ध कर देता है जिससे यहीं आकर आत्मकथा और आत्मकथात्मक उपन्यास में कला की दृष्टि में अन्तर पड़ जाता है। उपन्यासकार को अपनी सारी सामग्री कल्पना के माध्यम से ही लाना और दृश्यों में प्रस्तुत करना तथा साथ ही साथ उनका पुनः स्वयं अनुभव भी करना पड़ता है। इस प्रकार किसी न किसी पात्र के साथ उपन्यासकार की पूर्ण आत्मीयता हो जाती है जिसमें वह अपने व्यक्तित्व को आत्मसात् करके व्यक्त करता है, जब कि उस पात्र के जीवन-काल में वह उस रूप में कभी भी नहीं रहा।

उपन्यासकार अपने अनुभवों को सोद्देश्य ही पात्रों के माध्यम से व्यक्त करता है। अतः सभी उद्देश्यों की पूर्ति एक पात्र के माध्यम से ही सम्भव नहीं; जिससे कम ही ऐसे पात्र होते हैं जो सीधे व्यक्ति अथवा लेखक के जीवन से उतार लिये जाते हैं। अतः एक ही व्यक्ति में किसी पात्र का उत्स देखना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार लेखक का व्यक्तित्व अनेक पात्रों में बिखरा रहता है, उसी प्रकार एक पात्र में भी एकाधिक

1. I always have the greatest difficulty in making up the truth. Even to change the colour of the hair seems to me a fraud which for me makes the truth less life like.—M. Gide
from A Treatise on the Novel by Robert Liddell (1955)

व्यक्तियों के अनुभव उपलब्ध हो सकते हैं। पर यह निर्विवाद सत्य है कि चरित्र निर्माण का प्रधान स्रोत उपन्यासकार का अपना जीवन ही है। उपन्यासकार के व्यक्तित्व की छाया कहीं न कहीं उप- न्यास में अवश्य*अपनी झलक मार जाती है। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उपन्यासकार सर्वत्र अपना ही चित्रण करता रहता है क्योंकि उपन्यासों में एक ही प्रकार के न तो पात्र होते हैं और न तो एक ही प्रकार की घटनाएँ। ऐसी स्थिति में जब व्यक्ति को केन्द्र मानकर उपन्यासकार चलता है, तो केवल उसके सम्बन्ध की सूचनाओं से ही उसका काम नहीं चल सकता, जब कि वह उसके सम्बन्ध में जानकारी अपने ही ज्ञान के आधार पर प्राप्त करता है। किसी भी चरित्र के लिए सामग्री जब अन्य व्यक्तियों के जीवन से एकत्र करनी हो तो उपन्यास-कार को चाहिये कि वह चित्र उतारने के पहले अपने मस्तिष्क की गहराइयों में जाकर पूर्ण चिंतन कर ले। अपने को पूर्णतः पहचानना उपन्यासकार का प्रथम और प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। उपन्यासकार के सम्मुख रचना का विस्तृत क्षेत्र रहता है जिससे चरित्रनिर्माता के रूप में उसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह अपने में विभिन्न प्रकार की रचनात्मक प्रतिभा को समन्वित शक्ति अर्जित करे, तभी वह एक पूर्ण चरित्र का निर्माण करने में समर्थ हो सकेगा।

आत्मकथात्मक उपन्यासकार के मस्तिष्क और चरित्रों में आनेवाले मोड़ों में जिसमें कि उसका मस्तिष्क ही क्रियाशील रहता है, बराबर संघर्ष चलता रहता है कि वह पात्रों में आनेवाले स्वाभाविक परिवर्तनों को अपनी रुचि के अनुसार उपस्थित कर जीवन की झांकी देख सकने में समर्थ हो सके। ऐसा करने से ही उपन्यासकार का यह दावा है कि उसने अपने व्यक्तित्व को अलग रखकर ही चरित्रों का निर्माण किया है, तो इसका केवल इतना ही अर्थ समझना चाहिए कि वह पात्रों के स्वाभाविक विकास का भी समर्थक है और उसके पात्र लेखक के विचारों एवं पूर्वाग्रहों के केवल गट्ठर मात्र नहीं हैं। उदाहरण-स्वरूप यदि लेखक किसी ईर्ष्यालु पात्र का निर्माण करना चाहता है तो ऐसी स्थिति में निश्चित ही उसके निर्माण में उपन्यासकार अपनी हृद्गत ईर्ष्या का सहारा नहीं लेगा बल्कि उस पात्र पर उसकी छाया ही पड़ सकती है क्योंकि उसमें वह थोड़ा परिष्कार एवं संस्कार कर लेता है। ऐसा करने से पात्र के माध्यम से उपन्यासकार की अपनी ईर्ष्यालु प्रकृति नहीं व्यक्त होती बल्कि वह उसे ईर्ष्यालु पात्र तक ही सीमित रखना चाहता है। मानव स्वभाव है कि वह बुराइयों को दबाकर रखना चाहता है और अपने गुणों का ही ढिंढोरा पीटना चाहता है। उपन्यासकार भी मनुष्य होता है जिससे वह अपने गुणों को ही सत्पात्र के माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टा करता है और अन्य पात्र उसके अध्ययन-अनुभव की ही सृष्टि हुआ करते हैं, प्रतिनिधि नहीं।

'फ्लावेयर का कहना है कि उपन्यासकार को मानसिक प्रयत्नों द्वारा ही अपने व्यक्तित्व को अपने उपन्यास के चरित्रों में ढालना चाहिये और चरित्रों को अपने

व्यक्तित्व की ओर उपन्यासकार को खींचना नहीं चाहिये ।' इसका तात्पर्य यही हुआ कि लेखक अपने व्यक्तित्व को चरित्रों में वहीं तक ढालने का प्रयत्न कर सकता है, जहाँ तक कि उनके स्वतन्त्र विकास में बाधा न पहुंचे क्योंकि इसे ध्यान में रखना चाहिये कि चरित्रों का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी होता है । 'फ्लावेयर' ने अपने एक मित्र को राय भी दी थी कि वह तटस्थ हाकर स्वतन्त्र चरित्रों का निर्माण करने का प्रयत्न करे और देखे कि ज्योंही वह अपने पात्रों के मुँह से बोलना बन्द कर देता है, उसके पात्र कितनी प्रभावशालिनी भाषा में बोलने लग जाते हैं ।[1] ऐसी स्थिति में हमें लेखक के दृष्टिकोण पर ही निर्भर करना पड़ेगा । यदि लेखक 'फ्लावेयर' के मत का है तो वह अपने व्यक्तित्व को अपने किसी न किसी पात्र में अवश्य ढाल देगा जिसे उसने गतिशील रूप में अपने उपन्यास में प्रस्तुत किया है । ध्यान रहे कि व्यक्तित्व को ढाल देना और बात है तथा पात्रों के मुँह से बोलना और बात । यदि लेखक एम० गोदे (M. Gide) के विचारों का पोषक है तो उसे तटस्थ भाव से बैठकर अपने चरित्रों को देखना, सुनना अथवा निरीक्षण करना होगा जब कि वे गतिशील हों अथवा वार्तालाप करते हों । प्रायः उपन्यासकार अपने चरित्रों में उपर्युक्त दोनों अनुभवों को भ्रमवश समन्वित कर देते हैं । वे उसी प्रकार ऐसा करते हैं जैसा कि हम कभी-कभी अपनी स्वप्निल अवस्था में किसी नाटक के अभिनेता भी बन जाते हैं और उसके अभिनय का दर्शक के रूप में आनन्द भी लेते रहते हैं । आत्मकथात्मक उपन्यासकार को लेखकों की ऐसी दुर्बलताओं से अपने को सदैव दूर रखना चाहिये ।

एक ओर विद्वानों ने जहाँ आत्मकथात्मक शैली की विशेषताओं को स्वीकार करते हुए उसके आत्मीयतापूर्ण कथन, प्रभावपूर्णता एवं भावमयता की सराहना की है वहीं उसके सीमा-संकोच एवं अपूर्ण चरित्र-चित्रण की दुर्बलता का भी उल्लेख किया है । वास्तव में यह दुर्बलता आत्मकथात्मक शैली की दुर्बलता नहीं बल्कि विभिन्न लेखकों की दुर्बलता हो सकती है । जो उपन्यासकार कल्पना, अनुभूति एवं प्रतिभा का सहारा न लेकर केवल अपने जोवन को ही आधार मानकर रचना करने लग जाता है, उसमें तथाकथित दुर्बलता का आ जाना स्वाभाविक है क्योंकि उपन्यासकार का जोवन उसकी कृतियों से कम महत्वपूर्ण होता है । उपन्यासकार चरित्रों का निर्माण अपने से बहुत अच्छा और बहुत बुरा कर सकता है पर एक सोमा तक ऐसा करने में उसका स्वभाव बाधक अवश्य होगा और उसका निर्माण-क्षेत्र उसके स्वभाव द्वारा ही सीमित रहेगा । ऐसो स्थिति में लेखक अपने चरित्रों को तब तक अपने से बहुत अधिक प्रत्युत्पन्नमति वाला और प्रतिभसम्पन्न नहीं बना सकता जब तक कि वह अध्ययनशीलता के द्वारा उत्पन्न कल्पना, अनुभव एवं वैयक्तिक अनुभूति का समन्वय स्थापित करने में सफल नहीं हो जाता ।

---

1. How well your characters talk the moment you stop talking through their mouths. (Flaubert)

आत्मकथात्मक उपन्यासों को वर्णन-विधि के आधार पर प्रमुख तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। एक प्रकार के उपन्यास तो ऐसे होते हैं जिनमें सम्पूर्ण कथा उनके प्रधान नायकों के मुख से कहलायी जाती है अर्थात् कथा कहनेवाला एक व्यक्ति होता है। दूसरे प्रकार के उपन्यासों में सभी पात्र अपनी कहानी अपने-अपने मुख से सुनाते हैं अर्थात् कहानी कहनेवाले एक से अधिक व्यक्ति होते हैं और तीसरे प्रकार के उपन्यास ऐसे होते हैं जिनमें अधिकांश कथा तो प्रधान नायक द्वारा ही कही जाती है, पर अन्य पात्रों के जीवन की वे घटनाएँ जो नायक की जानकारी से परे हैं, उन्हीं पात्रों द्वारा वर्णित होती हैं, अर्थात् कथा कहनेवाला प्रधान व्यक्ति एक से अधिक व्यक्तियों के सहयोग से कथा को विस्तार एवं पूर्णता प्रदान करता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' वर्णन-विधि की दृष्टि से तीसरी कोटि का उपन्यास है, जिसमें सम्पूर्ण तत्कालीन घटनाओं, आचार-विचार, कला, संस्कृति तथा देश-काल आदि का वर्णन कथा के माध्यम से 'बाणभट्ट' द्वारा ही किया गया है। निपुणिका, भट्टिनी, कुमार कृष्णवर्द्धन तथा लोरिक देव आदि जिन पात्रों के सहयोग से उपन्यास की कथा का निर्माण हुआ है, उन सब की सूचना बाणभट्ट उसी सीमा तक देता है जहाँ तक कि वह उन्हें जान पाया है अन्यथा वे स्वयं अपने सम्बन्ध में बाणभट्ट को परिचित कराते हैं अथवा अपनी शेष कथा स्वयं कहते हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना कि आत्मकथात्मक उपन्यास में नायक के अतिरिक्त अन्य चरित्रों का सुन्दर चित्रण नहीं हो पाता, समीचीन नहीं जान पड़ता। यदि यह दोष आ सकता है तो केवल प्रथम और द्वितीय कोटि के आत्मकथात्मक उपन्यासों में ही, पर हम इसे सम्पूर्ण आत्मकथात्मक उपन्यासों के दोष-रूप में नहीं स्वीकार कर सकते। जहाँ तक विषयसंकोच का प्रश्न है, वह भी तीसरी श्रेणी के आत्मकथात्मक उपन्यासों में नहीं पाया जा सकता। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में वर्णनात्मक अथवा ऐतिहासिक शैली के उपन्यासों की भाँति ही मनोवैज्ञानिक चित्रण तथा प्रकृति के सुन्दर चित्र देखे जा सकते हैं। प्रधान चरित्र बाणभट्ट के अतिरिक्त निपुणिका तथा भट्टिनी आदि चरित्रों को भी विकसित होने का उपन्यास में पूर्ण अवकाश मिला है और वे अत्यन्त स्वाभाविक बन पड़े हैं। आत्मीयता की सृष्टि करने तथा प्रभावपूर्ण भावमय-चित्रों के निर्माण के लिए उपन्यास साहित्य के क्षेत्र में आत्मकथात्मक शैली सर्वोत्तम कही जा सकती है।

५ | बाणभट्ट की आत्मकथा

'बाणभट्ट की आत्मकथा' हर्षकालीन भारत के आधार पर लिखी एक ऐतिहासिक रोमांस की सृष्टि है। उपन्यास की कथा-भूमि का आधार 'कादम्बरी' के अमर स्रष्टा बाणभट्ट का जीवन-वृत्त है जिसे उपन्यासकार ने अपनी महती कल्पना के द्वारा प्राप्त कतिपय सूत्रों के आधार पर संगठित किया है। उपन्यास के कथामुख भाग में उपन्यासकार ने आस्ट्रियन महिला मिस केथराइन (दीदी) का प्रवेश इस ढङ्ग से कराया है कि साधारण पाठकों को उपन्यास की मौलिकता में भी सन्देह होने लग जाता है। वे इसे लेखक की मौलिक कृति न समझकर 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का हिन्दी अनुवाद समझने लग जाते हैं क्योंकि दीदी द्वारा शोणनद के दोनों किनारों की पैदल यात्रा तथा इस दो सौ मील की पैदल यात्रा में पाण्डुलिपि के रूप में प्राप्त कागज के एक बड़े पुलिन्दे की चर्चा व्योमकेश शास्त्री (द्विवेदी जी) ने अत्यन्त विश्वसनीय ढंग से की है। भारत छोड़ते समय दीदी की स्वीकृति भी लेखक (व्योमकेश शास्त्री) को प्रकाशनार्थ मिल जाती है और वह उपन्यास के अन्त में दीदी के स्वदेश से भेजे हुए पत्र का भी उल्लेख करना नहीं भूलता जिससे पाठकों के मन में सन्देह के लिए पर्याप्त भूमि मिल जाती है। उपन्यास के जिस प्रसंग से पाठकों के मन में सन्देह की पुष्टि होती है, वही कुछ बातें ऐसी भी हैं जिन्हें ध्यानपूर्वक समझ लेने पर भ्रम का निवारण भी हो जाता है। इधर जब से प्राचीन पुस्तकों की खोज अथवा किसी भी ग्रन्थ की प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता को विशेष महत्व दिया जाने लगा है, तभी से पुस्तकों की जाली पाण्डुलिपियों को प्रकाश में लाकर पांडित्य का ढिंढोरा पीटने का भी प्रचलन खूब हुआ है, स्पष्टतः लेखक ने इस ओर एक करारा व्यंग्य किया है। राजगृह में एक सियार का मिलना और उसके ठिठक-ठिठककर देखने मात्र से दीदी का यह विश्वास कर लेना कि वह अवश्य ही बुद्धदेव का समसामयिक था, एक ऐसा प्रसंग है जो दीदी के कल्पना-कुशल मस्तिष्क की झलक उपस्थित करता है और जागरूक पाठकों के लिए इतना ही पर्याप्त है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यास को अत्यधिक स्वाभाविक एवं विश्वसनीय बनाने के लिए ही लेखक ने कथामुख भाग को जोड़कर अपने अपूर्व कौशल का परिचय दिया है जिससे आत्मकथात्मक शैली में लिखे इस उपन्यास की स्वाभाविकता बढ़ी ही है।

उपन्यास के अन्त में आये प्रसंग से तो भ्रम का और भी निवारण हो जाता है। 'दीदी' के शब्दों में लेखक का पाठकों से स्वयं निवेदन है—'आत्मकथा के बारे में

तूने एक बड़ी गलती की है। तूने उसे अपने कथामुख में इस प्रकार प्रदर्शित किया है मानों वह 'आटो बायोग्राफी' हो।' बाणभट्ट केवल भारत में ही नहीं पैदा होते 'आस्ट्रिया में जिस बाणभट्ट का अविर्भाव हुआ था वह कौन था। हाय दीदी ने क्या हम लोगों के अज्ञात अपने उसी कवि प्रेमी की आँखों से अपने को देखने का प्रयत्न किया था।' आदि ऐसे प्रसंग हैं जिससे सन्देह के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह जाता।

भारतीय संस्कृति तथा प्राचीन परम्पराओं का अत्यन्त गम्भीर विवेचन द्विवेदी जी ने अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण ढङ्ग से किया है। उन्होंने कथानक के निर्माण में इतिहास और कल्पना का ऐसा अपूर्व योग उपस्थित किया है कि उपन्यास की सारी बातें सोलहो आने सच्ची जान पड़ती हैं। वस्तुतः इस उपन्यास में इतिहास की चर्चा नहीं, बल्कि ऐतिहासिक सामाजिक रोमांस की ही चर्चा हुई है। ऐतिहासिक उपन्यासकार अपने दायित्वों को भूलकर प्रायः ऐतिहासिक तथ्यों की ही चर्चा में लगे रहते हैं जिसकी निस्सारता को द्विवेदी जी ने भली भाँति परखा है और यही कारण है कि उनका यह उपन्यास उपर्युक्त दोषों से मुक्त रह पाया है। उपन्यासकार ने इविहास का केवल सहारा भर लिया है पर उसने कल्पित घटनाओं को इस ढङ्ग से प्रस्तुत किया है कि उनका इतिहास से कहीं विरोध नहीं होने पाया है। उपन्यासकार की कल्पना भी निराधार नहीं है क्योंकि उसने तत्कालीन काव्य-ग्रन्थों एवं नाटकों की साक्षी देकर उसे अत्यन्त तर्कसंगत बना दिया है। कथा का अधिकाश भाग 'हर्षचरित सार' और 'कादम्बरी' से लिया गया है। कुछ विषय रत्नावली नाटिका, कुमारसम्भव, मेघदूत, नागानन्द विक्रमोर्वशीय, महाभारत, मृच्छकटिक, रघुवंश, नाट्यशास्त्र, अभिलषितार्थ चिन्तामणि, कामसूत्र, मालती माधव, चतःशतक, वृहत्-संहिता और मिलिन्द प्रश्न नामक ग्रन्थों से लिए गये हैं। इन ग्रन्थों की सहायता से प्राप्त विषयों का उपयोग प्रायः सामाजिक आचार-विचार, आनन्दोत्सव तथा प्राकृतिक चित्रण आदि वर्णित प्रसंगों को सजीव बनाने के लिए किया गया है। उक्त ग्रन्थों में भारतीय संस्कृति तथा परम्पराओं का जो आदर्श देखने को मिलता है, उसका पूर्ण जीवन्त चित्र हमें 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में मिल जायगा।

उपन्यास की शैली और 'कादम्बरी' की शैली में बहुत साम्य दिखलाई पड़ता है क्योंकि अनेक ऐसे स्थल आये हैं जिनमें आँखों को लुभा लेनेवाले मनोरम दृश्यों का वर्णन लेखक ने बड़ी ही रुचिपूर्वक किया है जबकि आँखो को बचाकर भीतर चलने वाले अन्तर्द्वन्द्वों के चित्रण में उसने अपनी उस सुरुचि का परिचय नहीं दिया है। संस्कृत साहित्य की यह शैलीगत विशेषता है कि लेखकों की दृष्टि कथा-विस्तार की ओर कम और बाह्य वर्णनों की ओर अधिक रही है जिससे एक छोटे से कथानक में सामाजिक आचार-विचार, त्योहार तथा प्राकृतिक दृश्य आदि के लम्बे-लम्बे मनोरम वर्णन सर्वत्र देखने को मिल जायंगे। उपन्यासकार जब कभी सरस एवं मार्मिक प्रसंगों की चर्चा करने बैठता है तो उसकी भावुकता प्रबुद्ध हो जाती है। 'प्रभात होने में अब

ज्यादा देर नहीं थी।' इतना ही कह देने मात्र से उपन्यासकार को सन्तोष नहीं हो पाता और वह प्रभात के दृश्य-वर्णन में तत्पर हो जाता है—'देखते-देखते चन्द्रमा पद्म-मधु से रंगे हुए वृद्ध कलहंस की भाँति आकाश-गंगा के पुलिन से उदास भाव से पश्चिम जलधि के तट पर उतर गया। समस्त दिगंत मंडल वृद्ध रंकुमृग की रामराजि के समान पांडुर हो उठा। हाथी के रक्त से रंजित सिंह के सटाभार की भाँति या लोहित वर्ण लाक्षारम....पुष्प सौरभ से भ्रमरों को सन्तुष्ट करके मन्द-मन्द संचारी प्रभात वायु बहने लगा।' प्रस्थान के लिए भट्टिनी की शिविका जब गंगा के तट के लिए निकली तो विलम्ब के कारण गोधूलि वेला का आगमन हो चुका था। इस अवसर से उपन्यासकार चूकता नहीं और गोधूलि वेला का ललित वर्णन करने लग जाता है—सूर्य-मंडल परिणत प्रियंगु मंजरी के केसर के समान पिंजरिमा से रंगा हुआ पश्चिम समुद्र की ओर लटक चुका था। अस्तकालीन धूप दिग्वधुओं के मुख पर पड़ी हुई एक ऐसे महीन चादर के समान...सारी सन्ध्या मोहन-वेशा गैरिक धारिणी किसी भैरवी के समान चण्डी मण्डप में उतर रही थी।' चारुस्मिता के मयूर और पद्म नृत्य-वर्णन से तो लेखक किसी प्रकार बच निकला पर बाणभट्ट के रूप में वह गंगा-तट की रमणीयता में आकर फंस गया। 'दूर से शीकर-सिक्त बोची-वायु मेरे चित्त को परितृप्त कर रहा था और श्वेत पंकजों की माला''''''''''शरद्‌कालीन मेघमाला ही मानों ठिठक गयी है, सरस्वती को कर्पूर-धवल कान्ति ही मानों द्रवित हुई है।'' सुचरिता अपने सास के साथ कान्यकुब्ज की ओर लौटने को कथा सुना ही रही थी कि बीच ही में चैत्र का महीना आ टपका "सरोवरों में नये पद्म-फूल खिले थे। आम की कोमल कलिकाएँ''''''वासन्ती दुकुल की भाँति वनस्थली रूपी अरण्य सुन्दरी की शोभा शतगुण विवृद्ध कर रहा था।'' इसी प्रकार के अनेक ऐसे प्रसंगों की चर्चा उपन्यास में हुई है जिस पर स्पष्टतः संस्कृत काव्य-शैली का प्रभाव है।

लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि उपन्यास बहुत कुछ 'डायरी' शैली पर लिखा गया है। जैसे-जैसे घटनाएँ अग्रसर होती गयी हैं, वैसे-वैसे लेखक उन्हें लिपिबद्ध करता गया है। 'जहाँ उसके भावावेग की गति तीव्र होती है, वहाँ वह जमकर लिखता है परन्तु जहाँ दुःख का आवेग बढ़ जाता है वहाँ उसकी लेखनी गम्भीरता के साथ मर्म को छूती भी जाती है। अन्तिम उच्छ्वासों में तो वह जैसे अपने में ही धीरे-धीरे डूब रहा है।' इस प्रकार की वर्णन-शैली का संस्कृत साहित्य में नितान्त अभाव है और यही इस उपन्यास के प्रणेता की मौलिक कल्पना है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'कादम्बरी' की प्रेम-व्यंजना में यही स्पष्ट अन्तर दिखलाई पड़ने लग जाता है। कादम्बरी में वर्णित प्रेम अत्यन्त मुखर है क्योंकि पुण्डरीक महाश्वेता अथवा चन्द्रापीड़ के बीच एक दूसरे के प्रति प्रेम प्रथम दर्शन में ही प्रगट हो जाता है और उन्हें अपनी कामुक चेष्टाओं को न तो प्रकट करते देर लगती है और न तो उन्हें किसी प्रकार का संकोच ही होता है। इस प्रकार प्रेमीजनों के बीच होनेवाली सभी शास्त्रीय

अवस्थाओं का चित्रण कादम्बरीकार ने कर डाला है जिससे परम्परित शृङ्गार का सुन्दर वर्णन हमें कादम्बरी में मिल जाता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की प्रेम-व्यंजना अत्यन्त गूढ़ एवं अप्रकट भावों के आधार पर होने के कारण 'कादम्बरी' से भिन्न है। भट्टिनी और निपुणिका के प्रेम में न तो बाहरी उछलकूद ही है और न तो बाह्य आंगिक चेष्टाओं का भोंड़ा प्रदर्शन ही। उनका प्रेम उस अन्तःसलिला प्रवहमान धारा के समान है जिसके छींटे भी ऊपर नहीं दिखलाई पड़ते। वह हृदय की गहराइयों में उत्तरोत्तर ऐसा उतरता गया है कि जहाँ वासना पहुँच भी नहीं पाती और वह अपना लक्ष्य अपने में आप बनकर रह गया है। ऐसा जान पड़ता है कि एक स्त्रीजनोचित लज्जा सर्वत्र उस अभिव्यक्ति में बाधा दे रही है। सारी कथा में स्त्री-महिमा का बड़ा तर्कपूर्ण और जोरदार समर्थन है। भारतीय नारी की शालीनता, स्वाभाविक लज्जा, उसका गूढ़ संयत प्रेम, उसकी दया-क्षमा और धर्मशीलता, गुरुजनों के प्रति उसकी श्रद्धा-भक्ति तथा उसकी महिमामयी मर्यादा हमें इस उपन्यास के छोटे से छोटे नारी पात्रों में भी संकलित मिलती है। उपन्यासकार ने प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन को अपनी रचना का विषय अवश्य बनाया है, पर उसने आधुनिक मूल्यों पर अपनी आस्था प्रकट की है। कालिदास के विलासमय हास-उल्लास से युक्त चित्रों तक ही लेखक अपने को सीमित नहीं रखना चाहता क्योंकि उसने आधुनिक समाज में पलनेवाली 'भट्टिनी' जैसी रमणियों को देखा है, जिन्हें दुःख और वेदना में ही मुरझा जाना पड़ता है—'हाय महाकवि तुमने हंसी-खुशी में जिन्दगी काट दी। तुमने ऐसा करुणा मोहक स्मित देखा होता तो दुनियाँ को बता सकते कि वह कैसा था। पार्वती के लीला-स्मित को तुमने अमर कर दिया, किसलय-विनिहित पुष्प में जो पवित्रता है और निर्मल विद्रुम पात्र में रखे हुए मुक्ताफल में जो आभिजात्य है, वह तुमने लक्ष्य किया था, पर इनको स्वर्मन्दाकिनी की धारा में लुढ़कते-पुढ़कते, बहते-उतराते, तुमने नहीं देखा। यह वह पुष्प था, जिसके विकास के क्षणभर बाद ही धारासार वर्षा हो गयी, यह वह तारिका थी, जिसके उदय होते ही कुज्झटिका से दिगन्त धूसर हो गया, यह वह इन्द्रधनुष था, जिसके उठते ही झंझा ने आकाश धूलिच्छन्न बना दिया।' इस प्रकार देश-काल तथा ऐतिहासिक वातावरण की रक्षा करते हुए उपन्यासकार ने अपने मौलिक अनुभवों से उपन्यास के कथासूत्र में एक जीवन डाल दिया है जो अतीतकालीन भारत का सजीव चित्र मात्र ही प्रस्तुत नहीं करता, बल्कि मानवता को विकास-पथ पर ले चलने की प्रेरणा भी प्रदान करता है।

बाणभट्ट की आत्मकथा का वैशिष्ट्य

कथा और कथावस्तु

कथा या 'कथानक' और कथावस्तु शब्द का प्रयोग विद्वानों द्वारा प्रायः एक दूसरे के पर्याय अथवा समानार्थी शब्दों के रूप में हो जाया करता है और सामान्यतः

ऊपरी दृष्टि से उनमें अन्तर का देखना कठिन भी जान पड़ता है, पर सूक्ष्म दृष्टि से यदि उन पर विचार किया जाय तो स्पष्टतः उनमें भेद दिखलाई पड़ने लगता है। कथानक और कथावस्तु दोनों ही शब्दों का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में उपन्यास के उस महत्वपूर्ण अंग से है जिसे कहानी कहते हैं। कहानी से हमारा यहाँ तात्पर्य उस कहानी से नहीं है जो साहित्य का एक विशिष्ट स्वतन्त्र साहित्यिक रूप है, बल्कि उस कहानी से है जो उपन्यासों के माध्यम से कही जाती है। सभी विद्वानों को किसी न किसी रूप में इस पर सहमत होना ही पड़ता है कि कहानी अथवा कथातत्व उपन्यास का मूलाधर है। कहानी कहना उपन्यास का प्रधान गुण है जिसके अभाव में उपन्यास का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। यह उपन्यास की सर्वप्रमुख विशेषता है जो सभी प्रकार के उपन्यासों में किसी न किसी रूप में अनिवार्यतः पायी जाती है और कोई कभी भी नहीं चाहेगा कि उपन्यास अपनी इस विशेषता का परित्याग कर दे। इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि उपन्यासों के माध्यम से कही जानेवाली कहानी पाठकों के स्तर के आधार पर विभिन्न रूपों में ही स्वीकार्य हो सकती है, फिर भी अनेकता में उसकी एकता असंदिग्ध है। उपन्यास के इस प्रमुख तत्व को हम कथा के रूप में स्वीकार कर सकते हैं जो अत्यन्त व्यापक होते हुए भी वस्तुतः अत्यन्त लघु होती है और जिसे अनेक प्रसंगों के साथ जोड़कर ही उपन्यासकार बृहत्तर रूप प्रदान करता है।

कथा और कथानक शब्दों से प्रायः एक ही प्रकार के अर्थ का बोध होता है पर यदि हम चाहें तो क्रमशः उनका प्रयोग सामान्य और विशिष्ट अर्थों में कर सकते हैं। सभी प्रकार की कहानियों के लिए हम कथा शब्द का व्यवहार कर सकते हैं पर जब **कथानक शब्द** का प्रयोग करते हैं तो हमें ऐसा लगता है कि उसमें कोई ऐसा प्रसंग अप्रत्यक्ष रूप में विद्यमान है जिसे या तो बतलाना है अथवा पाठक के मन में उसकी जानकारी प्राप्त करने को जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी है। कथा के सम्बन्ध में इस प्रकार की जिज्ञासा का कोई कारण नहीं क्योंकि इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के कथानक आ जाते हैं। कथाएँ ऐतिहासिक, पौराणिक तथा सामाजिक आदि अनेक प्रकार की होती हैं। इस प्रकार कथा की आधार-भूमि क्या है अथवा किस काल या विषय को कहानी के लिये चुना गया है आदि का उत्तर ही कथानक शब्द में निहित वह प्रसंग है जिसे पाठकों को बताना रहता है और उसे जानने की उनके मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती रहती है। जब किसी कहानी अथवा कथा के माध्यम से किसी ऐतिहासिक अथवा पौराणिक विषय की चर्चा की जाती है तो हम कह सकते हैं कि इसका कथानक ऐतिहासिक अथवा पौराणिक है। इस प्रकार कथा और कथानक के बीच कोई स्थूल भेदक रेखा है, ऐसा कहना कठिन तो अवश्य है, पर दोनों शब्दों के माध्यम से जिन भावों की सृष्टि होती है उनमें स्पष्ट रूप से अन्तर दिखलाई पड़ता है। पर यदि हम चाहें तो कथा और कथानक शब्दों का प्रयोग कहानी के लिए कर सकते हैं।

कथावस्तु और कथा अथवा कहानी का अन्तर स्पष्ट है। कहानी, कथावस्तु अथवा प्लाट (plot) का आधार अवश्य प्रस्तुत करती है पर कथावस्तु, कहानी की अपेक्षा एक उच्चस्तरीय साहित्यिक संगठन है। उपन्यासों के माध्यम से कही जाने वाली कहानी अन्य कहानियों की भाँति सीधे-सादे ढंग से लेखक द्वारा ही नहीं कह दी जाती बल्कि उपन्यासकार को उसकी समुचित व्यवस्था करनी पड़ती है, उसका क्रम-निर्धारण करना पड़ता है तथा आये हुए अन्य प्रसंगों के साथ उसकी संगति बैठानी पड़ती है। उपन्यास के माध्यम से कही जानेवाली कहानी का कहनेवाला कौन होगा, उपन्यास के स्वरूप के आधार पर लेखक को इसका भी निश्चय करना पड़ता है। उपन्यास की कहानी और सामान्य कहानी में जो अंतर दिखलाई पड़ता है उसका मुख्य कारण है कथावस्तु के रूप में उसका परिवर्तित हो जाना। अतः कथावस्तु और कथा अथवा कहानी को हम पर्यायवाची शब्दों के रूप में कभी भी नहीं स्वीकार कर सकते। कथावस्तु के द्वारा घटनाओं का ही सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित विवरण प्रस्तुत किया जाता है जिसमें कारण और उससे उत्पन्न परिणाम पर ही विशेष जोर दिया जाता है। कथा अथवा कहानी में समय का महत्व अधिक रहता है परन्तु कथावस्तु में कारणों पर विशेष बल देने के कारण समय का उतना महत्व नहीं रह जाता। कथावस्तु का यही एकमात्र रहस्य है जिसके कारण इसका पर्याप्त विस्तार संभव हो पाता है। समय में विस्तार करना कदापि संभव नहीं होता पर कारणों के विस्तार की कोई सीमा नहीं होती।

कहानी की सहायता से ही उपन्यासकार कथानक के आधार पर कथावस्तु का निर्माण करता है। उपन्यास लिखने के पूर्व लेखक कथानक का चुनाव करता है जिसमें कहानी बीजरूप में वर्तमान रहती है। तत्पश्चात् वह उसे एक ऐसे ढांचे में ढालता है कि जिससे उसके उद्देश्य की सिद्धि हो सके। जिस प्रकार कुम्हार गीली मिट्टी के लोंदे को चाक पर रखकर सुन्दर एवं आकर्षक खिलौनों अथवा बर्तनों में बदलकर उसे उपयोगी बना देता है अथवा जैसे लोहार कच्चे लोहे को गलाकर उन्हें साँचे में ढालकर विभिन्न औजारों तथा सामान के रूप में बदलकर प्रस्तुत कर देता है उसी प्रकार उपन्यासकार कथानक को काट-छाँटकर तथा उसको सँवार-सुधारकर कथावस्तु का रूप प्रदान करता है। कुशल माली बाटिका में घूम-घूम कर क्यारियों की मेड़ें ठीक करता है, फुनगियाँ सीधी करता है, पौधे के पास लगी हुई घास को उखाड़ फेंकता है, गुलाब में कलमें लगाता है और जाते-जाते बाटिका को नया रूप तथा रंग दे देता है[1], उसी प्रकार उपन्यासकार अपने कथानक रूपी उद्यान की क्यारियाँ, पौधे, कलमें, काट-छांटकर कथावस्तु का निर्माण करता है। कुछ लेखकों और पाठकों के मन में कथानक और कथावस्तु के अन्तर का अनुभव कठिन जान पड़ता है, वे कथानक और

१—डा० एस० पी० खत्री—नाटक की परख, प्र० सं०, पृ० २७५।

वस्तु को एक ही चीज समझने लगते हैं। यह धारणा भ्रममूलक है। कथानक, वस्तु का जन्मदाता है। वह उसकी नींव है। गमले रूपी कथानक का वस्तु प्रस्फुटित पुष्प है।[1] सौन्दर्य किसी भी श्रेष्ठ कला का अनिवार्य अंग है। उपन्यासों में सौन्दर्य वह तत्त्व है जो उपन्यासकार का लक्ष्य तो नहीं होता और होना भी नहीं चाहिये पर अपनी कृति के माध्यमसे यदि लेखक वह सौन्दर्य नहीं ला पाता तो उसकी रचना असफल कही जा सकती है और यह सौन्दर्य उपन्यासकार कथावस्तु के सुन्दर गठन के द्वारा ही ला सकता है अथवा लाता है।

कथातत्त्व

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लगभग चार सौ पृष्ठों में समाप्त हुआ है जब कि अपेक्षाकृत मुख्य कथाभाग अल्प ही है। इसमें लेखक ने 'दक्षभट्ट', जिसे आवारा होने के कारण लोग 'बण्ड' कहने लग गये थे, के घर से भाग जाने से लेकर महाराज हर्षवर्द्धन के सभा-पंडित बन जाने तक की कथा कही है। बाणभट्ट का जन्म प्रसिद्ध कुलीन वात्स्यायन ब्राह्मण वंश में हुआ था जिसके पिता चित्रभानु भट्ट प्रख्यात विद्याभ्यासी प्रकाण्ड पंणित ग्यारह भाई थे जिनमें से अधिकांश बाण के जन्म के पूर्व ही दिवंगत हो चुके थे। चित्रभानु की पत्नी का नाम राज्यदेवी था और वे सोन नदी के तट पर स्थित प्रीतिकूट नामक गाँव रहते थे जो आधुनिक-शाहाबाद जिले में स्थित था। बचपन में ही माँ और उसके कुछ वर्षों बाद ही पिता भी बाण को निस्सहाय छोड़कर चल बसे जिससे चचेरे भाई उडुपति को छोड़कर परिवार का दूसरा कोई ऐसा व्यक्ति नहीं रहा जिसका कि दुलार-प्यार बचपन में बाणभट्ट को मिला हो। उडुपति अपने समय के प्रसिद्ध तार्किक पंडित थे जिन्होंने शास्त्रार्थ में वसुभूति नामक बौद्ध भिक्षु को पराजित किया था। हर्षचरित में उल्लिखित 'पितृव्य पुत्र' तारापति' सम्भवतः यही उडुपति भट्ट ही हैं। आवारों की भाँति बाणभट्ट इस नगर से उस नगर, इस जनपद से उस जनपद में बरसों मारा-मारा फिरता रहा। इस भटकान में वह कभी नट बना, कभी पुतलियों का नाच दिखलाता रहा, कभी नाट्य-मंडली का संगठन किया और कभी पुराण बांचकर जनपदों में लोगों की आँखों में धूल झोंकता रहा। वह एक दिन घूमता-घामता स्थाण्वीश्वर (थानेसर) नगर में पहुंच गया। उस समय यह नगर महाराज हर्षवर्द्धन की राजधानी बना हुआ था। संयोग से उस दिन हर्षवर्द्धन के छोटे भाई कुमार कृष्ण के नवजात पुत्र का जन्मोत्सव नगर में मनाया जा रहा था। अच्छा अवसर जानकर बाणभट्ट कुमार को बधाई देकर उचित पुरस्कारप्राप्ति की आशा से कुमार महल की ओर चल पड़ा कि रास्ते में ही पान की दुकान पर उसे निपुणिका अर्थात् निउनिया मिल गयी जिसका उसकी नाटक-मण्डली से पूर्व का सम्बन्ध रह चुका था। नाटक-मंडली से भाग आने

१—वही, पृ० २७६।

के पश्चात् कुछ भटकान के बाद से वह यहीं पान की दुकान पर बैठती और मौखरी वंश के छोटे महाराज (जो उस समय आश्रय पाये हुये थे) के यहाँ महल में भी काम करने चली जाया करती थी। अपनी पिछली कहानी सुना लेने के पश्चात् निपुणिका ने बाणभट्ट को बतलाया कि मौखरी वंश के छोटे महाराज के घर में एक महीने से एक राजकुमारी अपनी इच्छा के विरुद्ध बंदिनी है जिसे उसको मुक्त कराना है। नारी शरीर को देव-मंदिर समझनेवाला बाणभट्ट निपुणिका की सहायता से वैसा ही करता है।

जिस राजकुमारी का बाणभट्ट ने उद्धार किया वह विषम समरविजयी वाल्हीक विमर्दन प्रत्यन्त बाड़वदेव पुत्र तुवर मिलिन्द की एक मात्र पुत्री थी जिसका दस्युओं ने हरण किया था और किसी प्रकार से वह लम्पट मौखरी वंश के छोटे महाराज के हाथ लग गयी थी। उसे स्थाण्वीश्वर के राजकुल से घृणा हो गयी थी जिससे उसके इच्छानुसार आचार्य सुगतभद्र की कृपा से कुमार कृष्णबर्द्धन की सहायता प्राप्त कर बाणभट्ट ने देवपुत्रनन्दनी अर्थात् भट्टिनी को मगध की ओर ले जाने की सफल योजना तैयार की और चुने हुए मौखरी वीरों के संरक्षण में गंगा में पड़ी एक बड़ी नौका द्वारा जलमार्ग से प्रस्थान किया। चरणाद्रि दुर्ग से आगे बढ़ते ही आभीर ईश्वरसेन के सैनिकों ने व्यवधान उपस्थित किया और परिणामस्वरूप युद्ध हो ही रहा था कि भट्टिनी अपने आराध्य देव वाराह भगवान की मूर्ति के साथ गंगा में कूद पड़ी जिन्हें बचाने के लिए निउनियां तदनन्तर बाणभट्ट भी कूद पड़े। 'भट्ट' ने तो भट्टिनी को किसी न किसी प्रकार बचा लिया पर वाराह भगवान की मूर्ति और निपुणिका से वे विछुड़ गये। भट्टिनी को आश्वस्त कर वह निपुणिका की खोज में निकल पड़ा जहाँ उसके सामने एक नयी विपत्ति उपस्थित हो गयी। इस अवसर पर भैरवी महामाया ने बाणभट्ट की बहुत बड़ी सहायता की। भैरवी महामाया और अघोर भैरव से 'भट्ट' का परिचय थानेसर में ही हुआ था। आभीर टोली के एक युवक ने, जिससे वह मार्ग में ही मिल गया था, यद्यपि मना किया कि वह रात्रि में 'वज्रतीर्थ' की देवी का दर्शन करने न जाय पर न जाने किस अज्ञात शक्ति से खिंचा हुआ युवक के आग्रह की उपेक्षा करता बाणभट्ट निपुणिका को खोजता-खोजता उस स्थान तक पहुँच ही गया। वज्रतीर्थ गंगा और महासरयू के संगम पर स्थित देवी का वह स्थान था जहाँ रात्रि में साधक लोग अपनी साधना के हेतु आया करते थे। अघोरघण्ट और चण्डमण्डना द्वारा बाणभट्ट देवी के समक्ष बलि होनेवाला ही था कि भट्टिनी तथा निपुणिका के साथ महामाया ने पहुँचकर उसकी प्राणरक्षा की और उसे अघोर भैरव की शरण में ले गयी। तांत्रिक अभिचारके कारण निपुणिका कई दिनों तक और बाणभट्ट तीन दिनों तक 'संज्ञाहीन' रहे और होश में आने पर सबों ने अपने को भद्रेश्वर दुर्ग के आभीर सामंत लोरिक देव के घर में पाया। कुमार कृष्ण के निमंत्रण पर भट्टिनी और निपुणिका को लोरिक देव के घर छोड़कर

'भट्ट' अकेला ही पुनः स्थाण्वीश्वर गया जहाँ राजसभा में प्रथम दिन तो सम्राट द्वारा उसकी थोड़ी उपेक्षा अवश्य हुई पर कुमार के प्रयत्न से वह महाराज हर्ष का राजकवि नियुक्त हो गया। वहाँ उसकी भेंट कवि 'धावक' तथा निपुणिका की सखी सुचरिता से हुई जो स्थाण्वीश्वर में निंद्य एवं उपेक्षित जीवन बिताती हुई बैंकटेश भट्ट के नये धर्म में दीक्षित हो पुनः अपने संन्यासी पति विरति वज्र को पति रूप में प्राप्त करके गृहस्थाश्रम में लौट आने के कारण ढोंगी पंडित वसुमति के संकेत पर उसके चेले नगर-श्रेष्ठी धनदत्त द्वारा लगाये गये ऋण के आरोपों के कारण राज्य द्वारा बन्दिनी बना ली गयी थी। जिससे वह गृहस्थाश्रम में आने के पूर्व मुक्त समझी गयी थी। अपनी इस यात्रा से बाणभट्ट इस बन्दी दम्पति को मुक्त कराने का भी श्रेय प्राप्त करने में समर्थ हो सका। आचार्य भर्वु शर्मा द्वारा प्रचारित उस पत्र से देश की आंतरिक स्थिति अत्यन्त चिन्तनीय हो गयी थी जिसमें उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि प्रत्यन्त दस्यु पुत्र आ रहे हैं जिन्हें रोकने के लिए देवपुत्र मिलिन्द का युद्धभूमि में आना परमावश्यक है जबकि वे कन्या के विरह से उदासीन हो उठे हैं। उन्हें पुनः युद्ध भूमि में आने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए उनकी पुत्री का पता लगाया जाय। कुमार कृष्ण ने देवपुत्र मिलिन्द की सहानुभूति प्राप्त करने तथा उनसे मित्रता स्थापित करने के हेतु उनकी पुत्री भट्टिनी को बहन का स्थान देकर स्थाण्वीश्वर में ही साम्राज्ञी राज्यश्री के के साथ ससम्मान अतिथि के रूप में रखना उपयुक्त समझा और उसके लिए उन्होंने बाणभट्ट से आग्रह किया कि वह जिस प्रकार भी हो भट्टिनी को प्रस्तुत कर ले। कुमार ने सामंत लोरिक देव को भी भट्टिनी की रक्षा हेतु अपने राजकीय सामंती पद से समादृत किया। यह ज्ञात होते ही कि भट्टिनी देवपुत्र तुवरमिलिन्द की नयन तारा राजनन्दिनी एक मात्र कन्या है, लोरिक देव ने एक समारोह कर उसे समादृत किया। बाणभट्ट के प्रस्ताव को सुनकर निपुणिका तो अत्यधिक उत्तेजित हो उठी पर भट्टिनी ने संयम से काम लिया और किसी प्रकार यह तय हो पाया कि लोरिक देव के एक सहस्र सैनिकों में साथ भट्टिनी स्वतंत्र साम्राज्ञी के समान स्थाण्वीश्वर से लगभग एक कोस की दूरी पर अपने स्कन्धावार में रहेगी। इस प्रकार पुनः बाणभट्ट निपुणिका और भट्टिनी के साथ स्थाण्वीश्वर को लौट आया जहाँ उन्हें राज्योचित सम्मान मिला जिससे भट्टिनी के मन का सारा मैल दूर हो गया और उसके प्रोत्साहन पर ही बाणभट्ट ने महाराज हर्षवर्द्धन और भर्वुशर्मा के स्कन्धावार में आने के उपलक्ष्य में महाराजा हर्ष द्वारा ही लिखित रत्नावली नाटिका के अभिनय की व्यवस्था की। प्रसिद्ध नर्तकी चारुस्मिता ने रत्नावली और निपुणिका ने वासवदत्ता का अभिनय किया तथा राजा की भूमिका में बाणभट्ट स्वयं उतरा। इस अभिनय के साथ ही निपुणिका के जीवन का सचमुच अभिनय समाप्त हो गया और ज्यों ही भरत-वाक्य समाप्त हुआ त्यों ही दूसरी ओर निपुणिका की ऐहिक लीला भी समाप्त हो गयी। जीवन का यह वास्तविक अभिनय देखकर तो भट्टिनी निश्चेष्ट हो

गयी, पर भट्ट ने हृदय पर पत्थर रखकर स्वयं उसकी अंत्येष्टि क्रिया का सम्पादन किया। इस प्रकार निपुणिका के इस अनन्तकालीन वियोग ग्रहण के पश्चात् ही बाणभट्ट को भट्टिनी से भी अलग होना पड़ा क्योंकि आचार्य भर्वु पाद ने भट्टिनी को स्थाण्वीश्वर में ही छोड़कर उसे पुरुषपुर जाने की आज्ञा दे दी। भट्टिनी के यह कहने पर कि 'ज़ल्दी ही लौटना।' बाण ने कातर कण्ठ से कहा—'फिर क्या मिलना होगा ?', इसी स्थान पर अपने समस्त प्रभावों के साथ उपन्यास की कथा समाप्त हो जाती है जो अपेक्षाकृत उपन्यास में आये हुए कार्य-व्यापारों के वर्णन से बहुत छोटी है पर उपन्यासकार ने अनेक प्रसंगों की सहायता से कथावस्तु का निर्माण इतने कौशलपूर्वक किया है उसने हमें एक ऐसी प्रशस्त भूमि दे दी है जिसमें हर्षकालीन भारत के समस्त सामाजिक आचार-विचार, राजनैतिक उलट-फेर, धार्मिक आन्दोलन, जनता में व्याप्त अनेक मत-मतान्तर एवं विश्वास तथा कला और संस्कृति आदि सिमिटकर आ गयी है।

कथावस्तु

उपन्यास का मुख्य कथा भाग देखने में जितना सीधा और सपाट जान पड़ता है, वस्तुतः उपन्यास में वह वैसा नहीं है, बल्कि वह अनेक प्रसंगों के साथ इस प्रकार गुंथा हुआ है कि साधारण पाठक के लिए उसे अलग करके देख पाना सरल कार्य नहीं। यही इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है कि प्राठक इसमें आयी हुई एक भी घटना का समाधान तब तक नहीं ढूँढ़ सकता जबतक कि वह सम्पूर्ण उपन्यास को समाप्त न कर ले। सभी कथाएँ, सभी घटनाएँ और सभी पात्र संयुक्त रूप से एक ऐसे रहस्य को छिपाये रहते हैं जिसे वे बीच में कहीं भी प्रकट नहीं करते और पुस्तक की समाप्ति पर पाठक को सभी रहस्य उद्घाटित होते दिखलाई पड़ते हैं जहाँ पहुँचकर उसकी सारी जिज्ञासाएं शान्त हो जाती हैं। आचार्य द्विवेदी ने अपनी विद्वत्ता, अध्ययन एवं कल्पना के सहारे हर्षकालीन भारत का जो प्रासाद 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में निर्मित किया है उसका आधार तो उपर्युक्त मूल कथा ही है, पर प्रासंगिक कथाओं के माध्यम से लेखक ने जिन अन्तःप्रासादों की सृष्टि की है वे भी अपने में पूर्ण एवं मनोरम हैं परन्तु समन्वित प्रभाव उत्पन्न करने के कारण पाठक की आँखें इतनी चौंधिया जाती हैं कि वह उन्हें अलग-अलग से न देखकर एक अद्भुत एवं अनुपम संयोग के रूप में ही देखता है। देखने में तो सारे उपन्यास पर बाणभट्ट का ही व्यक्तित्व छाया हुआ दिखलाई पड़ता है, पर जिन घटनाओं एवं वर्णनों के द्वारा उपन्यास की कथावस्तु का निर्माण हुआ है उनको आगे बढ़ानेवाली स्त्रियाँ हैं, जिनके हाथ में बाणभट्ट अथवा अन्य पुरुष मात्र मुग्ध भाव से खेलते हुए जान पड़ते हैं। यह इसलिए भी आवश्यक था कि लेखक ने सम्पूर्ण उपन्यास में नारी आदर्शों पर विशेष बल देने का प्रयत्न किया है। प्रमुख कथा को लेकर तीन ऐसी कथाएँ हैं जिनका सम्बन्ध सम्पूर्ण उपन्यास से है, जो स्वतन्त्र होते हुए भी एक दूसरे पर इस प्रकार आश्रित रखी गयी हैं कि उन्हें अलग करके देख पाना

असम्भव-सा जान पड़ता है जब कि वे अलग-अलग उपन्यास के लिए स्वतन्त्र विषय बन सकती हैं। मुख्य कथा के प्रमुख पात्र हैं बाणभट्ट, निपुणिका और भट्टिनी, दूसरी कथा के मुख्य पात्र अघोरभैरव, महामाया भैरवी और मौखरी सम्राट ग्रहवर्मा तथा तीसरी कथा के मुख्य पात्र विरतिवज्र, सुचरिता और बिरति-बज्र की वृद्धा माँ है। ये तीनों कथाएँ इस प्रकार मुख्य कथा में घोल दी गयी हैं कि यदि वाभ्रव्य, बाणभट्ट और निपुणिका की साक्षी हटा ली जाय तो इनका अलग करना तो कठिन है ही, समझ पाना भी असम्भव हो जाय। यहीं पर हमें उपन्यासकार की कला का चमत्कार दिखलाई पड़ता है, जिसके द्वारा उसने अद्भुत कथावस्तु का संगठन किया है।

कुतूहल और जिज्ञासा (Suspense) कहानी और उपन्यास का प्राण है। अच्छी कहानी में पाठक आगे आनेवाली घटनाओं को जानने के लिए उतावला हो जाता है और वह जानना चाहता है कि उसके आगे क्या हुआ। ऐसी ही जिज्ञासा उपन्यासों में आनेवाली घटनाओं के सम्बन्ध में भी होती है, पर अच्छी कथावस्तु में संगठित होने के कारण उपन्यास की जिज्ञासा और कहानी के कुतूहल में थोड़ा अन्तर पड़ जाता है।

उपन्यासकार के पाठक के सामने यह प्रमुख समस्या नहीं रहती कि आगे क्या हुआ बल्कि वह यह जानने के लिए सचेष्ट रहता है कि ऐसा क्यों हुआ ? उपन्यास के दो तत्त्व कहानी और कथावस्तु में प्रमुख अन्तर है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में बीच-बीच में न जाने कितने ऐसे प्रसंग और पात्र आते रहते हैं जो पाठक को अजीब-से लगते हैं, जिनसे कभी तो वह घबड़ाता है, कभी चकराता है और कभी तो उनकी संगति पर अविश्वास भी करने लग जाता है और उसे ऐसा लगता है कि लेखक अपनी कल्पना के बल पर ऐसे तिलस्म की सृष्टि कर रहा है जिसका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं। उपन्यास में महामाया भैरवी के आकस्मिक प्रवेश तथा बाणभट्ट के सम्पर्क में आयी हुई अघोरभैरव तथा बज्रतीर्थ की घटनाएँ इसी प्रकार की हैं और ये घटनाएँ भी ऐसी हैं जो समय-क्रम में व्यवधान उपस्थित होने पर ही घटती हैं। विद्वान एवं जागरूक पाठक के मन में तो ऐसी रहस्यात्मक घटनाओं से एक जिज्ञासा ही उत्पन्न होती है जिसे तुष्टि प्रदान करने के लिए वह इतने बड़े उपन्यास को एक ही बैठक में समाप्त कर देने का प्रयत्न करता है जिससे ऐसे पाठकों के बीच में अविश्वास नाम की कोई वस्तु आती ही नहीं क्योंकि लेखक की विषय प्रस्तुत करने का ढंग ऐसा निराला है और शैली ऐसी विश्वसनीय है कि किसी भी घटना पर अविश्वास किया ही नहीं जा सकता। जिन घटनाओं को हम तर्क की कसौटी पर नहीं कस पाते उनके लिए इतना ही पर्याप्त है कि वे अतीत काल की घटनाएँ हैं और आधुनिक दृष्टि से उनके सम्बन्ध में तर्क करना संगत नहीं। ऐसे जितने भी प्रसंग इस उपन्यास में आये हैं उनका सम्बन्ध प्रायः तांत्रिकों से है और

तांत्रिकों के चमत्कार सम्बन्धी गाथाओं से हमारे देश का इतिहास भरा पड़ा है जिनपर सहसा अविश्वास कर लेना कठिन है। जहाँ तक सामान्य पाठक का प्रश्न है, जो कहानी पढ़ने के लिए उपन्यास पढ़ता है, उसके लिए विश्वास और अविश्वास का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। नवीन-नवीन उद्भावनाएँ प्रतिक्षण बढ़ती ही जाती हैं जिससे उसके लिए उपन्यास का आकर्षण अन्त तक बना रहता है। उपन्यास के समाप्त होने के पूर्व तक ठीक तौर से न तो हम यह जान पाते हैं कि महामाया भैरवी कौन हैं तथा अघोर भैरव से उनका क्या सम्बन्ध है और न तो यही स्पष्ट हो पाता है कि मूल कथा के साथ इन्हें लाकर जोड़ देने का रहस्य क्या है जो बाद में ही प्रकट होता है। लेखक के इस कौशल का यह परिणाम रहा है कि उपन्यास की युवावस्था अथवा प्रौढ़ता अन्त तक बनी रही है। जिस प्रकार अपनी सहायक नदियों एवं झरनों का प्रभूत जल लेकर समुद्र तक पहुँचते-पहुँचते गंगा की धार में इतना अधिक जल आ जाता है कि उसकी गहराई का पता लगाना कठिन है उसी प्रकार उपन्यास में आये विभिन्न प्रसंगों का संयुक्त प्रभाव 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के अन्त को इतना प्रभावोत्पादक बना देता है कि पाठक अभिभूत हो अनुभूति की गहराइयों में डूब जाता है। सागर की तरंगों पर लहराते हुए संगीत की मूर्छना की भाँति बाणभट्ट की करुणा सहृदय पाठक के अन्तःकरण में गूंजती रहती है। पाठक सब कुछ भूल सकता है पर उसके ऊपर पड़ा उपन्यास का का समन्वित प्रभाव उसे सदा स्मरण रहेगा। यही 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास के कथावस्तु की सफल सिद्धि है।

कथावस्तु और चरित्र स्रष्टा की सृष्टि के दो ऐसे महत्वपूर्ण तत्त्व हैं जिनका परस्पर द्वन्द्व उसकी (लेखक) सृष्टि में चलता रहता है। एक की पराजय पर ही दूसरे की श्रेष्ठता निर्भर करती है। साधारण उपन्यासकार कथावस्तु और चरित्र-निर्माण के संतुलन को प्रायः नष्ट कर देते हैं और अनेक ऐसे प्रमाण मिल जाते हैं कि वे कथावस्तु के निर्माण में कभी-कभी चरित्रों का गला घोंट देते हैं। परिणामतः ऐसे उपन्यासकारों की कृतियाँ अन्त तक जाते-जाते, मनगढ़ंत कहानी के रूप में बदल जाती हैं क्योंकि कथावस्तु के सभी अंगों को पूर्णता प्रदान करना लेखक के लिए अनिवार्य है और बीच में लाये गये सभी सूत्रों की संगति भी उसे बैठानी पड़ती है। इस दिशा में द्विवेदी जी का यह उपन्यास अपवादस्वरूप है क्योंकि इसमें कथावस्तु और चरित्र की प्रौढ़ता का मणिकांचन योग हुआ है। सम्पूर्ण उपन्यास में एक भी ऐसा प्रसंग, पात्र, प्रश्न अथवा शब्द नहीं आया है जो निरर्थक कहा जा सकता हो अथवा जिसका समुचित उपयोग उपन्यासकार ने अन्त तक न कर लिया हो। भले ही हमें समाधान एवं सार्थकता के लिए पर्याप्त प्रतीक्षा का मधुर अवसाद सहन करना पड़ता है, पर संयम की सीमा के अन्दर ही हमें फल की प्राप्ति हो जाती है। भैरवी महामाया, सन्यासी विरति-वज्र, अघोर भैरव, वाभ्रव्य तान्त्रिक, साधना से लेकर बाणभट्ट के काशीवाले पुराण वाचक तथा भविष्य

वक्ता का स्वरूप आदि एक भी ऐसा प्रसंग नहीं है जो उपन्यास में साभिप्राय न लाया गया हो और लेखक ने अन्त तक उसका तर्क-संगत उचित उपयोग न किया हो। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि इन प्रसंगों के कारण ही इस उपन्यास की कल्पना प्रवण कथा तर्क-संगत एवं विश्वसनीय बन पायी है। उपरोक्त सभी प्रसंग अपनी नई-नई समस्या लेकर पाठक के मन में जिज्ञासा उत्पन्न करते हुए उपन्यास में प्रस्तुत होते हैं जिससे पाठक को उपन्यास की शैली का गाम्भीर्य एवं विषय की दुरूहता कभी भी खटक नहीं पाती और लेखक उसकी जिज्ञासा अन्त तक बनाये रह जाता है। एक ही प्रसंग उपन्यास भर में ऐसा आया है जिसके सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि उपन्यास के प्रति प्रतिपाद्य से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है और उसे आसानी से हटा कर भी उपन्यास के स्वरूप की रक्षा की जा सकती है। यहाँ पर हमारा तात्पर्य उस प्रसंग से है जहाँ पर लेखक ने वृद्ध द्रविड़ पुजारी की अतिरिक्त सरसता का अत्यन्त विनोदी एवं हास्यपूर्ण जीवंत चित्र खींचा है। भट्टिनी को छोटे राजकुल से मुक्त करके भट्टिनी, निपुणिका और बाणभट्ट ने जिस स्थान में शरण लिये थे वह एक देवी मन्दिर से संलग्न छोटा सा जीर्ण गृह था और वृद्ध द्रविण पुजारी ही इस स्थान के प्रधान अधिकारी थे। कंचन और कामिनी को छोड़कर पुजारी को प्रभावित करने वाली और कोई शक्ति नहीं थी जिसे निपुणिका जानती थी और उसने अपनी कमनीय कला द्वारा ही पुजारी की सरसता को उकसाकर उन्हें अपने वश में करने में सफल हुई थी। पुजारी का सम्पूर्ण स्वरूप ही विरोधाभास का समुच्चय था जिसका परिचय एक वृद्ध द्वारा द्विवेदी जी ने बाणभट्ट से अपनी अद्भुत लाक्षणिक शैली में कराया है—'पुजारी कोई वृद्ध द्रविड़ साधु है। उनके काले-काले शरीर में शिरायें इस प्रकार फटी दिखाई देती हैं, मानो उन्हें जला हुआ खम्भा समझकर गिर-गिट चढ़े हुये हैं।....वे काफी शौकीन भी हैं। यद्यपि वृद्ध हैं तो भी कानों में ओराड्-पुष्प का लटकाना नहीं भूलते।....वे तान्त्रिक भी हैं, प्रायः ही वृद्धा तीर्थ-यात्रिणियों पर वशीकरण चूर्ण फेंका करते हैं। वे प्रयोग कुशल भी हैं। क्योंकि एक बार गुप्त स्थानों की निधि दिखाने वाला कज्जल लगा कर एक आँख खो चुके हैं।...माया-वशीकरण के ऊपर भी उनका विश्वास है। इस कार्य के लिए उन्होंने तालपत्र की एक पोथी पर महावर के रंग से एक लाख बार 'हुँफट्' लिख रखा है और उसे गुग्गुलु धूम से धूपित किया है। उनका विश्वास है कि इस पोथी को देखकर रमणियाँ उनकी चेरी रहेंगी। इस प्रकार के चित्र को उपस्थित कर उपन्यासकार ने एक सुन्दर हास्य की व्यवस्था की है जिससे उपन्यास का सौंदर्य उसी प्रकार बढ़ गया है जिस प्रकार घने बादलों में चपला की चमक से गगन-मण्डल का सौन्दर्य बढ़ जाता है। वृद्धावस्था में जब मनुष्य की समस्त कर्मेन्द्रियाँ दुर्बल पड़ जाती हैं तो वे उपहास्य होकर लज्जास्पद इच्छाओं के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं, वृद्ध द्रविड़ पुजारी को लेखक ने प्रमाण स्वरूप अपनी कृति में उपस्थित किया है। युवकोचित आभूषणों की चर्चा

पुजारी के माध्यम से करके लेखक ने एक ओर तो सुन्दर हास्य की सृष्टि की है दूसरी ओर उसने इसकी भी सूचना दे दी है कि बाणभट्ट के समकालीन युवकों के वस्त्राभूषण कैसे होते थे ? यह तो हुई हास्य और विनोद की बात जिसके द्वारा हम उपरोक्त प्रसंग के औचित्य का समर्थन कर सकते हैं पर इससे महत्वपूर्ण दूसरा पक्ष भी है, जिस पर दृष्टि जाते ही स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रसंग की अलग कोई सत्ता नहीं है बल्कि यह मूल कथा का अनिवार्य अंग है जिसके अभाव में कथा के स्वाभाविक विकास में भी सन्देह किया जा सकता है। निपुणिका और बाणभट्ट की एकाएक बनी योजना तो समझ में आ सकती है पर राजधानी में ही अन्तःपुर से भट्टिनी को निकालकर छिपा रखने की बात समझ में नहीं आती जहाँ कि सर्वत्र राजकीय रक्षक एवं जासूसों का जाल बिछा हुआ है। लेखक ने नष्ट प्राय मन्दिर और उसके पुजारी की व्यवस्था करके उपरोक्त असम्भव कार्य को सम्भव बनां दिया है और कहीं से भी उसमें अयथार्थता नहीं आने पायी है। साथ ही साथ राजभवन से पूर्ण एवं मर्यादा की रक्षा का भी प्रश्न था, जिसका हल पुजारी ऐसे पात्र के अभाव में सम्भव भी नहीं हो सकता था। कामिनी के प्रति सहज स्वाभाविक आकर्षण का होना पुरुषों के लिये स्वाभाविक है, भट्टिनी एवं निपुणिका ऐसी अनिंद्य सुन्दरियों के लिये तो अनिवार्य ही है। यदि वे किसी युवा पुरुष के आश्रय में पड़ जाती तो सम्भवतः बाणभट्ट भी उन्हें न बचा पाता क्योंकि वह राजद्रोही के रूप में था। बाणभट्ट ने वृद्ध पुजारी की धन-लोलुप वृत्ति का भरपूर लाभ उठाया जिससे निपुणिका और भट्टिनी की मर्यादा की रक्षा हो सकी है। निपुणिका के संकेतों से लगता है कि उसने शरणार्थी बनने के पूर्व पुजारी से कुछ वायदे किये थे जिनका पूरा करना समाज-विरुद्ध था। उसने अवश्य ही उसे आश्वासन दिया था कि वह उसके लिए एक सुन्दरी की व्यवस्था करने जा रही है नहीं तो वह क्यों खाद्यान्नों की व्यवस्था में तत्पर हो जाता। इसका प्रमाण उस समय और मिल जाता है जब वह प्रांगण गृह के द्वार पर जाकर चूर्ण निक्षेप करता है तथा अपनी तालपत्र की पोथी सँभालकर द्वार पर जोर-जोर से धक्के मारता है और निपुणिका बाणभट्ट की ओर इशारा करके अपने सिर की बला टाल ले जाती है। क्रोधातुर पुजारी की स्तुति कर तथा नगर के धनदत्त श्रेष्ठी के धनार्पण की कल्पना करके बाण-भट्ट उसे मन्दिर से कम से कम छः घण्टे के लिए दूर भेजकर निश्चिन्त हो जाता है क्योंकि उतने समय में वे तीनों सरलतापूर्वक वहाँ से दूर चले जाने की युक्ति में सफलता प्राप्त कर लेंगे। अतः जिस प्रसंग को साधारणतः हम अनावश्यक समझते हैं, वह इतना महत्वपूर्ण प्रसंग है कि जिसके अभाव में उपन्यास की कला अवश्य ही अपनी श्रेष्ठता से नीचे गिर जाती। सम्पूर्ण उपन्यास को यदि हम महाकाव्य मान लें तो द्रविड़ पुजारी का प्रसंग एक ऐसा सुन्दर मुक्तक है जो अपने आप में पूर्ण होते हुए भी सम्पूर्ण काव्य का अविभाज्य अङ्ग है।

जहाँ कहीं भी लेखक को उपन्यास में नयी बात पूर्वापर प्रसंगों के अभाव में कहनी पड़ी है, वहाँ उसने या तो किसी नये पात्र की अवतारणा कर ली है अथवा किसी पात्र की पूर्व स्मृतियों को जगाकर उसके स्वगत कथन द्वारा कार्य सम्पादित कर लिया है। वस्तु-निर्माण की इस कुशल कला ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को सदोष होने से इसलिए बचा लिया है कि कहीं भी उपन्यासकार को प्रकट होकर स्वयं लम्बे भाषण नहीं देने पड़े हैं जैसा कि साधारणतः उपन्यासकार करते हैं। आत्मकथात्मक शैली में लिखी होने के कारण जितनी भी घटनाएँ एवं प्रसंग लाये गये हैं वे सभी बाणभट्ट द्वारा ही प्रस्तुत किये गये हैं। पुस्तक आत्मकथा के रूप में लिखी जा रही है लेखक को इसका सदैव ध्यान रहा है।

निपुणिका की सखी सुचरिता को वास्तविक रूप में प्रस्तुत करने के लिये आवश्यक था कि उसके सम्बन्ध में पाठकों को पूर्णतः अवगत कराया जाय। बाणभट्ट सुचरिता के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से पाठकों को उतना ही बतला सकता है जितना कि सुचरिता से वह जान सका है। शेष के लिए उसे दूसरे किसी जानकार व्यक्ति का सहारा लेना ही पड़ेगा और द्विवेदी जी ने ऐसे ही एक जानकार काशीवासी वृद्ध की अवतारणा कर भी दी है जो बाणभट्ट को सुचरिता के सम्बन्ध में फैली हुई चर्चाओं से अवगत कराता है। उपन्यास की कला इतनी प्रौढ़ है कि इसमें आई हुई किसी भी एक घटना से एकाधिक उद्देश्यों की सिद्धि हो जाती है। यह काशीवासी कल्पित वृद्ध पात्र सूचनार्थ तो उपस्थित होता ही है इसके अतिरिक्त अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से उपन्यास की गंभीरता में सरसता एवं हास्य का संचार करता हुआ वह वृद्धावस्था की कतिपय रूढ़िगत विशेषताओं का जीवंत चित्र भी उपस्थित कर जाता है। बाणभट्ट के यह पूछने पर कि यह सुचरिता पहले क्या करती थी आर्य? वृद्ध का यह उत्तर देना कि अपनी उम्र के लोगों से यथार्थ समाचार पा सकते हो भद्र! मैं पक्व केशवृद्ध हूँ।'— से एक सरस विनोद की सृष्टि तो होती ही है साथ ही साथ ऐसे स्थलों पर लेखक की शैलीगत विशेषताओं का चरम परिपाक भी दिखलाई पड़ जाता है। वृद्ध ने सुचरिता के सम्बन्ध में कुछ न कहते हुए सब कुछ कह दिया और उपन्यासकार ने इस अवांछित प्रसंग की चर्चा करके भी संयम और मर्यादा का जो अद्भुत परिचय दिया है वह समस्त हिन्दी उपन्यास-साहित्य के लिए अनुकरणीय है। वृद्धजन समाज में उभड़ती हुई नवीन मान्यताओं को स्वीकार करने में प्रायः हिचकते हैं। वे अतीत को वर्तमान से सदैव श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न किया करते हैं। अपने विचार, अपने धर्म, अपनी मान्यताओं, अपने निवास-स्थान से नीचे वे दुनियाँ की समस्त विभूतियों को रखना चाहते हैं तथा अपने प्रशंसकों को अपनी समस्त सहानुभूति प्रदान करना उनकी सबसे बड़ी दुर्बलता हुआ करती है जिसका मूर्तिमान रूप काशीवासी वृद्ध में लेखक ने दिखला दिया है। बाणभट्ट उसकी कमजोरियों से शीघ्र परिचित हो उपन्यास के कथा भाग को आगे बढ़ाने में पूर्ण समर्थ हो जाता है।

कथा-वस्तु की निर्माण-कुशलता पर ही कथा के स्वाभाविक विस्तार की सफलता निर्भर करती है। कथावस्तु के ढाँचे मे ही उपन्यासकार घटनाओं के विभिन्न रंग भर कर अपने उपन्यास रूपी सुन्दरतम चित्र का निर्माण करता है। चित्र-निर्माण में जिस प्रकार चित्रकार अनेक रंगों का प्रयोग करता है उसी प्रकार उपन्यास-लेखन में भी उपन्यासकार एकाधिक घटनाओं का यथाक्रम एक ही स्थान पर संकलन करताहै। एक कुशल चित्रकार यह भलीभाँति जानता है कि कौन-सा रंग किस स्थान पर कितनो मात्रा में लगा देने से उसके चित्र से सौन्दर्य एवं जीवन फूट पड़ेगा जिसके लिए वह विभिन्न प्यालों में अलग-अलग अनेक रंगों को पहले ही से तैयार रखता है और आवश्यकता पड़ने पर उसे उन्हें प्रयुक्त करते देर नहीं लगती। कुशल चित्रकार की ही भांति श्रेष्ठ उपन्यासकार के मस्तिष्क में अनेक घटनायें वर्तमान रहतीहैं और यथावसर वह उनका प्रयोग उपन्यास में इस क्रम से करता है कि उपन्यास की कला और उसके वर्ण्य-विषय का प्रभाव अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ मुखर हो उठता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास का स्रष्टा अपने इस कौशल में पूर्ण सिद्धहस्त है क्योंकि उसने कथा-नायक के जीवन की अनेक बिखरी घटनाओं को ऐसे ढंग से सजाया है कि वे सभी उपन्यास के सौन्दर्य एवं प्रभाववर्द्धन में अपना पूर्णयोग प्रदान करती हैं।

इस उपन्यास की सारी कथा डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी की भाषा में कथानायक बाणभट्ट द्वारा ही कही गयी है। वह आरम्भ में थोड़ा अपना वंश-परिचय देकर आगे बढ़ जाता है और अपनी कहानी क्रम पूर्वक नहीं सुनाता और सुनाना भी नहीं चाहता क्योंकि हो सकता है उसे याद भी न रही हो, पर वह अपनी अज्ञता पर यह कह कर बड़ी सफाई से पर्दा डाल देता है—'इस कहानी को अपने दुर्भाग्य के रोने से नहीं शुरू करूँगा। इसे अपने सौभाग्य के उदय के साथ ही आरम्भ करूँगा'। 'जीवनी लिखने वाले के लिये यह सर्वथा सम्भव है कि वह प्राप्त सूचनाओं को कालानुसार क्रम-पूर्वक प्रस्तुत कर दे पर आत्मकथाकार के लिये यह इसलिये सम्भव नहीं है कि स्मृतियों को छोड़कर उसके लिये जीवन की पीछे छूटी घटनाओं की जानकारी का दूसरा कोई प्रामाणिक आधार नहीं रहता और स्मृतियां कभी भी क्रमपूर्वक नहीं आ सकतीं बल्कि वे समय-समय पर तदनुकूल घटने वाली घटनाओं के घटने अथवा प्रसंगों के आ जाने पर ही जगती हैं। यही कारण है कि बाणभट्ट के जीवन से सम्बन्धित घटनायें समय-समय पर कालक्रम की उपेक्षा करके लेखक द्वारा उपन्यास में वर्णित हैं जिससे इस आत्मकथात्मक उपन्यास की स्वाभाविकता तो बढ़ी ही है, साथ ही उपन्यास की शैली अत्यन्त विश्वसनीय भी बन गयी है। बाणभट्ट की कथा एक प्रकार से उसके सौभाग्य के साथ आरम्भ होती है जिसका उदय स्थाण्वीश्वर में ही हुआ। स्थाण्वीश्वर में जब बाणभट्ट कुमार कृष्णवर्धन को उसके पुत्रोत्सव पर बधाई देने जा रहा था, उसकी भेंट पान की दुकान पर बैठी निपुणिका और उसकी सहायता से देव पुत्र तुवरमिलिन्द की एक मात्र कन्या चन्द्र दीधिति अथवा उपन्यास की नायिका

भट्टिनी से हुई। उपन्यास का यह स्थल एक प्रकार से सम्पूर्ण उपन्यास का मध्य भाग है जिसके पूर्व किशोरावस्था से लेकर युबावस्था तक बाणभट्ट की भटकान की कहानी है और बाद में निपुणिका तथा भट्टिनी की प्रेरणा से वह अपने जीवन को संघर्षों में डाल कर अतुल वैभव का अधिकारी बनता हुआ संयम की घुटन में घुट कर एक अलौकिक आदर्श की स्थापना करता है। मध्य भाग से उपन्यास को कहानी आरम्भ होकर कथा-नायक की स्मृतियों के आधार पर बड़े वेग से पीछे की ओर मुड़ती है और जब तक वह स्थाण्वीश्वर तक नहीं पहुँच जाती बाणभट्ट कोई न कोई अवसर निकाल कर उसे पूरी करने की चेष्टा करता है जिसमें निपुणिका भो समान रूप से योग देती है। ऐसी कथावस्तु के गठन में लेखक को विशेष सावधानो रखनी पड़ती है और सिद्धहस्त लेखकों तक के लिए असफल होने की बराबर सम्भावनायें बनी रहती हैं, पर द्विवेदी जी उपन्यास कला की इस अग्नि-परीक्षा में खरे उतरे हैं। कथा का न तो कहीं सूत्र टूटने पाया है न तो कहीं अस्वाभाविकता आने पायी है और न तो कोई प्रसंग ही ऐसा आने पाया है कि जिसकी संगति कथावस्तु में न बैठ पाती हो। दो दूर की बिखरी घटनाओं को कल्पना के सूत्र से किस प्रकार जोड़ा जा सकता है इस कला को तो कोई द्विवेदी जी से सीखे। उपन्यासकार की यही सबसे बड़ो विशेषता रही है जिसके कारण वह हमें अपनी यह अनुपम कृति दे सका है।

उपन्यास का प्रथम उच्छ्वास बाणभट्ट के इस निश्चय के साथ समाप्त हो जाता है कि वह कुमार कृष्णवर्धन से अवश्य मित्रता करेगा जिसके काल्पनिक भावी आनन्द में डूबता-उतराता वह आगे महल को ओर बढ़ा ही जा रहा था कि लेखक ने द्वितीय उच्छ्वास में, कथा को पीछे की ओर मोड़ दिया। 'भट्ट ओ भट्ट इधर देखो, मुझे पहचानते हो ?' को आवाज निपुणिका अथवा निउनियां के क्षीण कोमल कंठ से निकली नहीं कि बाणभट्ट की आँखों के सामने उसका पिछला जीवन नाच उठता है जिस समय निउनियां भी उसके साथ थी और वह निउनियां के विगत जीवन का लम्बा परिचय देने लग जाता है। तत्पश्चात् यहीं पर छोटे राजकुल से भट्टिनी के उद्धार की कथा भी आकर जुट जाती है जिससे बाणभट्ट कुमार कृष्णवर्धन के महल का लघु मार्ग तय नहीं कर पाता और उपन्यासकार को ऐसा अवसर मिल जाता है कि वह बड़ी सावधानी पूर्वक अपने उपन्यास के आकार वर्धन में लग जाता है। लेखक तन्मय होकर अपनी भावप्रवण भाषा में ललित वाक्य-विन्यासों के माध्यम से जब वर्णन की श्रृंखला बाँध देता है तो उसकी लपेट में कुछ अनावश्यक प्रसंग भी चले आते हैं जो केवल वर्णन के लिए लाये जान पड़ते हैं और कथावस्तु के निर्माण में उनसे किसी प्रकार की भी सहायता नहीं प्राप्त होती। उदाहरणस्वरूप उपन्यास के उस प्रसंग को लिया जा सकता है जिसमें लेखक ने उस समय का चित्रण किया है जब बाणभट्ट भट्टिनी को नौका तक सुरक्षित पहुँचा कर आचार्य देव की आज्ञा से कुमार कृष्णवर्धन से मिलने महल की ओर पुनः जा रहा है। वह नगर की ओर बढ़ा ही था कि लेखक

ने बीच में ही फाल्गुन की पूर्णिमा ला दी, जिस दिन कान्यकुब्ज प्रमत्त मदनोत्सव मनाया करते थे। लेखक की वर्णनात्मक प्रतिभा मुखर हो उठती है और वह उत्सव के सांगोपांग वर्णन में तन्मयता से जुट जाता है। यद्यपि हर्षकालीन आचार-विचार को स्पष्ट करने के लिए ऐसे प्रसंगों की अवतारणा अत्यन्त आवश्यक है फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि कथावस्तु में चुस्ती लाने के निमित्त उपन्यासकार को यथा सम्भव ऐसे वर्णनों से बचना चाहिये। लगता है, पुस्तक को बाणभट्ट द्वारा ही रची प्रमाणित करने के लिये लेखक बाणभट्ट की शैली का भी अनुसरण करने लग गया है। संस्कृत के कथा-प्रसंगों की यह विशेषता रही है कि उनमें विषय का तो नितान्त अभाव मिलेगा पर वर्णनों का बाहुल्य सर्वत्र देखने को मिल जायगा—चाहे वह बाणभट्ट कृत 'कादम्बरी' हो अथवा दण्डीकृत 'दशकुमारचरित।' द्विवेदी जी की इस रचना में विषय का अभाव तो कहीं भी नहीं खटकता पर वर्णन का बाहुल्य अवश्य मिल जाता है। उपन्यास की विषयगत विशेषता को हम द्विवेदी जी की मौलिकता के रूप में स्वीकार कर सकते हैं पर वर्णन की अधिकता को यह कहकर टाल सकते हैं कि उपन्यास का कथानक ही ऐसे काल का है जिसको स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करने के लिये, लम्बे-लम्बे वर्णनों का सहारा लेना परमावश्यक था।

मैंने पूर्व में ही कह दिया है कि स्मृतियाँ घटना-साम्य के आधार पर ही जगती हैं और जिस प्रकार स्थाण्वीश्वर के राजमार्ग पर जाते हुये बाणभट्ट की पूर्व स्मृतियों को 'निउनियाँ' के एक आह्वाहन ने झकझोर दिया उसी प्रकार जब भट्टिनी आश्रय पाये हुये टूटे प्रांगणगृह से निकल कर गंगा-तट को नौका के लिये चली गयी और उसकी एक दिन की पूजा वेदी गीली ही बनी हुयी थी तो उसे और उस स्थान तथा भट्टिनी के आवास को देखकर बाणभट्ट का चित्त अस्थिर हो उठा, जिससे उसके मुख से स्वयं निर्मित एक पुरानी आर्या निकल पड़ी जिसे उसने वाराणसी के पास जनपद में पुराण-पाठ का अभिनय करते समय रचा अथवा सुनाया था। इस सुअवसर का लाभ उठाकर उपन्यासकार वाराणसी जनपद में घटी एक वृद्धा के घर की घटना तथा बाणभट्ट के आशीर्वाद और भविष्यवाणी की कथा कह चलता है जिसका उपयोग उसे आगे चलकर निपुणिका की सखी सुचरिता के सम्बन्ध में करना है और उपन्यास में इस सूत्र का समुचित उपयोग हुआ भी है।

जिस भट्टिनी को लेकर उपन्यास की कथा में गति आती है। उसके पूर्ण परिचय से पाठक उपन्यास के अष्टम् उच्छ्वास तक वंचित रहता है और उसके धैर्य की पूर्ण परीक्षा के बाद लेखक अष्टम् उच्छ्वास में भट्टिनी से ही उसका परिचय कराता है 'भट्ट मुझे पहले ही मर जाना चाहिये था जिस दिन नगर हार के मार्ग में··· क्यों भट्ट मैं उसी समय क्यों नहीं मर गयी ?' निपुणिका की भी जितनी कथा बाणभट्ट को अज्ञात थी, जिसके कारण वह उसे पहली बार नहीं सुना पाया था, निपुणिका स्वयं उसका सविस्तार वर्णन प्रस्तुत करती है और इस प्रकार उपन्यासकार अद्भुत

कौशल के साथ पिछली कथा को स्थाण्वीश्वर तक ला पहुँचाता है जिससे आरम्भ से मध्य तक की कथा पाठकों के सम्मुख आ जाती है। कथा के क्रमिक विकास में जो आनन्द होता है, पाठक के उस आनन्द में कहीं भी कोई अन्तर नहीं आने पाता, द्विवेदी जी के कथावस्तु-निर्माण की यह सबसे बड़ी सफलता है। यद्यपि पाठक एक प्रकार से उपन्यास को उसके मध्य भाग से आरम्भ करता है और आरम्भ की ओर जाता है, पर आरम्भ तक पहुँच जाने के बाद आरम्भ से लेकर मध्य तक की कथा क्रमानुसार न जाने कितनी बार उसकी आँखों के सामने आती-जाती जान पड़ती है। यह और कुछ नहीं बल्कि लेखक की कला का जादू है जो पाठकों में सम्मोहन का मंत्र फूँकता जान पड़ता है। कथावस्तु की इस विशेषता की जितनी भी प्रशंसा को जाय, थोड़ी है।

षोडश उच्छ्वास में निपुणिका के इस कथन पर कि भूल तुम करो, रास्ता मैं बताऊँ ?' और उसका हँसते हुये यह कहना कि 'जटिल बटु की याद है न ?' बाणभट्ट को क्षणभर में जटिल बटु से सम्बन्धित घटना की याद आ गयी जिससे उपन्यासकार ने बड़ी ही कुशलता से एक और नये प्रसंग को मूल कथा के साथ लाकर जोड़ दिया। द्विवेदी जी ने बाहर से आने वाले प्रसंगों का चुनाव इस ढंग से किया है कि वे आकर उपन्यास में एक से अधिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर जाते हैं। षोडश उच्छ्वास के पूर्व के वर्णनों में गम्भीरता आ जाने के कारण उसमें कुछ इतिवृत्तात्मकता आ रही थी जिसकी रुक्षता को लेखक ने जटिल बटु के विनोदी प्रसंग द्वारा समाप्त कर दिया है। आश्चर्य तो तब होता है जब हम यह देखते हैं कि लेखक उपन्यास के अंग-प्रत्यंग के निर्माण में अत्यन्त जागरूक भाव से पूर्व नियोजित ढंग से आगे बढ़ता है और कहीं भी कथा की सरलता और स्वाभाविकता में व्यवधान नहीं आने देता।

इसी प्रकार का एक और गम्भीर प्रसंग सप्तदश उच्छ्वास में लेखक ने पाठकों के विशेष सूचनार्थ कथा में ला जोड़ा है जिसमें सौरभह्रद जिला बलिया में स्थित सम्भवतः सुरहा झील की यात्रा भट्ट ने भट्टिनी की इच्छा से की थी। कथावस्तु की दृष्टि से तो केवल इतना ही महत्व जान पड़ता है कि लेखक वाराहभगवान के दन्त द्वारा उद्धरित धरित्री के वारिपूरित रंध्र की कल्पना करके आदि वाराह के उपन्यास में आये हुये प्रसंग को ताजा रखना चाहता है। यद्यपि उपन्यास में वाराह भगवान की मूर्ति का प्रयोग अत्यन्त प्रतीकात्मक है जिसे साधारण पाठक के लिये समझना कठिन है। इसकी चर्चा हम अन्यत्र करेंगे। पूर्व प्रसंगों की भाँति ही उन्नीसवें उच्छ्वास में वाभ्रव्य द्वारा महामाया, गृहवर्मा और अघोरभैरव के रहस्यमय सम्बन्धों का उद्घाटन लेखक ने कराया है जिससे पाठकों को चिर संचित जिज्ञासा एवं कौतूहल को शान्ति मिलती है और सहसा उसकी बहुत सी समस्यायें एक साथ हल हो जाती हैं जिसकी प्रसन्नता का अनुभव स्वयं पाठक ही कर सकता है। कुशल सेनापति जिस प्रकार अपनी सैनिक शक्तियों का प्रयोग विजय के हेतु भली भाँति करना जानता है, उसी प्रकार

उपन्यासकार द्विवेदी जी भी पात्रों, घटनाओं एवं रहस्यों का उपयोग उपन्यास में निहित उद्देश्यों तथा सफल प्रभावकारी समाप्ति की सिद्धि के हेतु करना पूर्णरूपेण जानते हैं। यही उनकी अमर कृति 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की कथावस्तु की श्रेष्ठता तथा उनकी उपन्यास-कला की सफलता का एक मात्र रहस्य है।

यद्यपि उपन्यासकार ने आकस्मिक घटनाओं, संयोगों एवं दैवी शक्तियों जैसी कथा को आगे बढ़ाने वाली युक्तियों को भरसक 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में आने से रोका है पर कुछ स्थल ऐसे आ ही गये हैं जिनको सँभालने के लिये उसे उपर्युक्त हथकंडों का उपयोग करना ही पड़ा है जिससे उसे बचना चाहिये था। लेखक ऐसे प्रयोगों में सतर्क है, ऐसा जान पड़ता है क्योंकि उसने जहाँ कहीं भी ऐसे चमत्कारों का वर्णन किया है, उन्हें तांत्रिकों तथा साधकों से सम्बद्ध करने की चेष्टा की है जिनके लिये सभी कुछ सम्भव माना जा सकता है। भट्टिनी का गंगा में कूद जाना और बाणभट्ट का कूदकर उसे बचा लेना और सैनिकों को पता तक भी न चला, ऐसी घटना है जिस पर अविश्वास करने की गुंजाइश है। लेखक ने बाद में यद्यपि इस सूत्र को पकड़कर इस प्रसंग की सार्थकता प्रमाणित करनी चाही है जिससे वह अप्रत्यक्ष रूप में स्वयं स्वीकार कर लेता है कि उपन्यासकार को ऐसे वर्णनों से बचना चाहिये। निपुणिका का यह कहना कि भट्टिनी इसलिये गंगा में कूद पड़ी थी कि 'भट्ट' उसे बचा लेगा, स्पष्टतः उपर्युक्त प्रसंग के औचित्य को प्रकट करने के लिये कहा गया है। निपुणिका भी गंगा में कूदी थी पर महामाया भैरवी का आकस्मिक प्रवेश और वज्रतीर्थ के मन्दिर में पुनः सबका मिलना तथा निपुणिका का उन्मादपूर्ण रक्षात्मक नृत्य आदि ऐसी ही घटनायें हैं जिनके औचित्य का समर्थन करना कठिन जान पड़ता है। पर कथा का क्रम जिस गति से आगे बढ़ा है उसके निर्वाह के लिये सिवा ऐसे प्रसंगों की सहायता के और कोई दूसरा चारा ही नहीं था। थानेसर से अलग होते समय लेखक ने महामाया से यह कहला दिया है कि 'भट्ट चलो मैं भी उधर ही आ रही हूँ' जिससे आकस्मिक प्रवेश का मार्जन भी हो जाता है। सभी दृष्टियों से विचार करने पर इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि संगठन, स्वाभाविकता तथा पूर्णता की दृष्टि से 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की कथावस्तु जितनी निर्दोष है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है।

---

६ | देशकाल

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के प्रायः सभी उपन्यासों की रचना-भूमि ऐतिहासिक और प्रामाणिक रही है, जिनमें कल्पना का संयोग अत्यधिक रहा है। द्विवेदी जी ने अपने उपन्यासों को 'गप्प' की संज्ञा दी है जिसके द्वारा वे पाठकों को बतलाना चाहते हैं कि उनके उपन्यासों में कल्पना की प्रधानता है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं, कि उनकी कल्पना पर यथार्थ का अंकुश नहीं है। उपन्यासों में लिये गये काल को यदि उनकी संगति में देखा जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि उनकी कल्पना पर यथार्थ सर्वत्र हावी है। अन्तिम रचना 'अनाम दास का पोथा' इसलिए इसका अपवाद है कि इसकी रचना भूमि उपनिषद काल की है।

उपन्यासों में वर्णित देशकाल की वास्तविकता पर विचार करते समय आवश्यक तो यह है कि 'द्विवेदी जी' के समस्त उपन्यासों में ग्रहीत काल-खण्ड पर ऐतिहासिक क्रम से विचार किया जाय। पर ऐसा न कर पाठकों की सुविधा के लिए हम उनके उपन्यासों पर रचना क्रम के अनुसार विचार करेंगे।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में आये प्रसंग हर्ष कालीन भारत की ऐतिहासिक घटनायें भले ही न हों, पर उनकी सम्भावना का समर्थन प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर अवश्य हो जाता है। कुछ घटनायें तो उनमें उपन्यासकार ने कल्पित पात्रों के साथ ऐसी जोड़ दी हैं जो ऐतिहासिक तथ्य हैं जिनका समर्थन इतिहास में आये हुए ऐतिहासिक पुरुषों से हो जाता है। हर्ष के शासन काल में घटने वाली महत्वपूर्ण घटनाओं में राज्यश्री का उद्धार और ह्वेनसांग के सभापतित्व में हुई महती सभा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। राजश्री जिसे मालवा नरेश ने उसके पति की हत्या करके कारागार में बन्दिनी बना लिया था, किसी तरह 'गुप्त' नामक एक कुल पुत्र की दयालुता से लाभान्वित होकर कारागार से निकलकर विन्ध्य के जंगलों में भाग गयी थी और जल मरने की तैयारी कर रही थी। हर्ष को जब सारी घटनाओं से अवगत कराया गया तो वह राज्य कार्य छोड़कर राज्यश्री को ढूढ़ निकालने के लिए चल पड़ा और उसे तपस्वी दिवाकर मित्र के आश्रम वासियों की सहायता से जलने से बचा सका। दिवाकर मित्र राज्यश्री के पति ग्रह वर्मा के बाल सखा थे। दिवाकर मित्र के ही प्रभाव से हर्ष और राज्यश्री बौद्ध धर्म की ओर उन्मुख हुए। यद्यपि इस घटना का उल्लेख बाणभट्ट की आत्मकथा में नहीं हुआ है फिर भी हर्ष के अन्दर आये धार्मिक परिवर्तन तथा महामाया भैरवी का चित्रण जो महारानी राज्यश्री की ज्येष्ठा सपत्नी थीं, आदि का आधार उपर्युक्त ऐतिहासिक घटना ही है। चीनी यात्री ह्वेनसांग से भेंट होने पर जब सम्राट ने उसके द्वारा समर्थित महायान सम्प्रदाय की महत्ता को उसके मुँह से सुना तो उसका उनके ऊपर

अत्यधिक अनुकूल प्रभाव पड़ा और वे उसके अन्धानुयायी हो गये। स्वर्गीय श्री गौरी शंकर चटर्जी द्वारा लिखित 'हर्षवर्धन' के साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि "उन्होंने तुरन्त कन्नौज में एक महती सभा बुलवायी जिसमें विभिन्न सम्प्रदायों के लोग सम्मिलित हुए। उस सभा का उद्देश्य उस काल के मतों में महायान की श्रेष्ठता सिद्ध करना तथा अन्य सिद्धान्तों का खंडन कर ह्वेनसांग के रचे हुए महायान शास्त्र का प्रचार करना था। उस सभा में जो विवाद हुआ उसमें न्याय और औचित्य का प्रायः अभाव था। सत्य तो यह है कि उसमें कोई विवाद ही नहीं हुआ। ह्वेनसांग से बात करने की किसी ने हिम्मत ही नहीं की क्योंकि राजा की ओर से पहले ही घोषणा कर दी गयी थी कि जो कोई उससे (यात्री) बोलेगा उसकी जिह्वा काट ली जायेगी।' बात यह थी कि हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी ह्वेनसांग का प्राण लेने के लिए षड्यन्त्र रच रहे थे और इसी के परिणामस्वरूप उक्त आशय की घोषणा की गयी थी। यह घटना अपने इस ऐतिहासिक स्वरूप में तो नहीं आ पायी है पर जहाँ कहीं भी द्विवेदी जी ने धार्मिक सम्मेलन एवं सम्मेलन की चर्चाओं का उल्लेख किया है उन पर इस घटना का प्रभाव अवश्य है जिससे हम उसके ऐतिहासिक संगति में अविश्वास नहीं कर सकते। हमें उसे (उस घटना को) एक सम्भावित ऐतिहासिक सत्य के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा।

ह्वेनसांग को स्थल तथा जल दोनों मार्गों पर डाकुओं की निर्दयता का शिकार बनना पड़ा था और एकाध स्थानों पर तो इन देशी आक्रमणकारियों के कारण उसे कष्ट भी झेलना पड़ा, इतिहास इसका साक्षी है। इस ऐतिहासिक घटना के आधार पर ही लगता है द्विवेदी जी ने अपनी यह कल्पना की है जो भट्टिनी और निपुणिका के साथ भट्ट के गंगा नदी के जलमार्ग से की गयी नौकायात्रा क्रम में घटी थी। अन्तर इतना ही है कि नौका पर आक्रमण डाकुओं ने नहीं बल्कि सैनिकों ने किये थे।

उपन्यास में आये कुछ पात्र ऐतिहासिक हैं, जैसे सम्राट हर्षवर्धन, बाणभट्ट, राज्यश्री तथा कुमार कृष्णवर्धन आदि। इन पात्रों से सम्बन्धित उपन्यास में वर्णित घटनाओं का मिलना इतिहास में भले ही कठिनहो, पर एक भी ऐसी घटना की चर्चा उपन्यास में नहीं है जिसका ऐतिहासिक घटनाओं से विरोध हो। हर्ष के कनिष्ठ भ्राता कुमार कृष्णवर्धन का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में वर्णित है। स्वयं बाणभट्ट अपनी रचना 'हर्षचरित सार' में कुमार कृष्णवर्धन के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु जान पड़ते हैं। बाण के पूर्व जीवन की चर्चा हर्ष के कानों तक पहुँच चुकी थी जिससे उन्होंने अन्य समकालीन विद्वानों की भाँति बाण को अपने दरबार में सम्मानित करने की इच्छा प्रकट नहीं की, पर बाद में अपने भाई कृष्णवर्धन के कहने से (जो बाण के घनिष्ठ मित्र थे) श्री हर्ष ने उन्हें अपने यहाँ बुलवाया जिसके कारण ही वे महाकवि बाण के श्रद्धापात्र हो सके। द्विवेदी जी ने भी स्थाण्वीश्वर की समस्त राजनीतिक गतिविधियों के सूत्र संचालक के रूप में कुमार कृष्णवर्धन को प्रस्तुत

किया है। जबकि आधुनिक इतिहासकार कुमार कृष्णवर्धन को हर्ष का भाई स्वीकार करने में हिचकते हैं। कुछ इतिहासकारों ने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि हर्ष का कोई उत्तराधिकारी नहीं था जो कि उनके बाद शासन के गुरुतर भार को सम्भालता। इससे कुमार कृष्णवर्धन के हर्ष के कनिष्ठ भ्राता होने की सम्भावना ही नहीं रह जाती। कुमार कृष्ण के जिन गुणों की चर्चा उपन्यास में की गयी है तथा उनके जिस यशस्वी व्यक्तित्व पर बाण को रीझते हुए दिखलाया गया है ऐसे एक व्यक्ति का वर्णन हमें हर्षकालीन भारत में प्राप्त होता है जो कुमार कृष्णवर्धन से भिन्न है और वह है श्री हर्ष का प्रधान सचिव भाण्डी, जो सम्भवतः उनका ममेरा भाई भी था। राज्यवर्धन के अल्प शासनकाल में 'भाण्डी' राजनीतिज्ञों तथा दरबारियों का नेता था। श्री हर्ष का सन्धि-विग्राहिक अवन्ती था जिसकी आज्ञा से देश के समस्त राजाओं के लिए इस आशय की घोषणा प्रसारित की गयी थी कि या तो वे अधीनता स्वीकार कर लें या युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जायें, जबकि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में कुमार कृष्ण को सन्धि विग्राहिक तथा श्री हर्ष के कनिष्ठ भ्राता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। राज्यवृद्धि में तत्परता का जहां तक प्रश्न है वे सभी गुण इस उपन्यास में कुमार कृष्ण के व्यक्तित्व में केन्द्रीभूत हैं, जबकि प्राप्य ऐतिहासिक तथ्यों से ज्ञात होता है कि भाण्डी ही वह व्यक्ति था जिसने कि हर्ष की संकटकालीन राज्य व्यवस्था को सुदृढ़ करने में सफल योग दिया। कुछ भी हो, कुमार कृष्ण के नाम से जो व्यक्तित्व 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के माध्यम से सामने आ पाया है वह चाहे भाण्डी का हो या कुमार कृष्ण का, इतिहास द्वारा समर्थित तो है ही।

उपन्यास में आये देशकाल का चित्रण भी अधिकांशतः ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। उपन्यासकार की कल्पना कहीं भी ऐतिहासिक सीमाओं का अतिक्रमण करती नहीं जान पड़ती। देश में लोग ब्राह्मणों का कितना अधिक सम्मान करते थे, उसका कुछ न कुछ आधार तो हमें 'बाण' से प्राप्त हो ही जाता है। ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में वह जो कुछ भी कहता है, उससे स्मृतियों के दृष्टिकोण का समर्थन होता है। बाण के 'हर्षचरित' में एक स्थान पर आता है (असंस्कृत मत-योऽपि जात्येव द्विजोत्पन्नो माननीया—हर्षचरित, पृ० १८) 'केवल जो जन्म से ब्राह्मण है, परन्तु जिनकी बुद्धि संस्कार से रहित है, वे भी माननीय हैं।' निपुणिका और भट्टिनी का बार-बार यह कहना कि 'बाणभट्ट तुम ब्राह्मण हो न ?' तथा भट्ट को प्रथम भोजन कराके तब अन्न ग्रहण करना और उसे एक ब्राह्मणोचित सत्कार देने के लिए सदैव प्रस्तुत रहना आदि ब्राह्मणों की सामाजिक श्रेष्ठता का प्रमाण है। निश्चित ही यह एक सामाजिक सुन्दर शिष्टाचार है जो हर्षकालीन भारत में प्रचलित था। हर्ष ने ब्राह्मणों को धन तथा गायों के दान से अनेकों बार सम्मानित किया था। उसके महल में पाँच सौ ब्राह्मण प्रतिदिन भोजन करते थे और पंचवर्षीय सभा में इक्कीस दिनों तक उन्हें लगातार दान मिलता रहता था। छुआछूत का रोग समाज में काफी

मात्रा में था। ह्वेनसांग के अनुसार कसाई, मछुए, मेहतर, जल्लाद तथा नट आदि के निवासस्थानों पर पहचान के चिह्न लगा दिये जाते थे और वे नगर से बाहर रहने के लिए बाध्य थे तथा गाँव में आते-जाते समय बायीं ओर दबकर चलना उनके लिए अनिवार्य था। बाण की कादम्बरी में जिस चाण्डाल कन्या ने सुग्गे को लेकर राजा शूद्रक के दरबार में प्रवेश किया उसने राजा को सचेत करने के लिए कुछ दूर से ही हाथ में लिए हुए जर्जरित वंश-खण्ड को पीटा (प्रविश्य सा........वेणुलतामादाय नरपति प्रबोधनार्थं असकृतं सभायां मुहिमभाजधान बाण कादम्बरी कथामुख।) यद्यपि इस समस्या का प्रवेश प्रत्यक्ष रूप में उपन्यास में नहीं हो पाया है, पर भट्टिनी और निपुणिका के आचारनिष्ठ व्यवहारों द्वारा उसकी झलक आ ही जाती है। अन्तर्जातीय विवाहों का प्रायः अभाव था, पर कुछ न कुछ होते ही रहते थे। 'अनुलोम' और 'प्रतिलोम' अन्तर्जातीय विवाह की ये दो कोटियाँ हैं। प्रथम में उच्च जाति के पुरुष का नीच जाति की स्त्री के साथ विवाह होता है। उस समय अनुलोम विवाह को निरुत्साहित किया जा रहा था। पर वह प्रचलित था ही। बाण का चन्द्रसेन नामक एक सौतेला भाई था जो एक शूद्र स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। 'ध्रुवभट्ट' यद्यपि क्षत्रिय था किन्तु वह हर्ष का दामाद था जो कि वैश्य था। राज्यश्री वैश्य कन्या थी किन्तु उसका विवाह मौखरी क्षत्रिय गृहवर्मा के साथ हुआ था। बहुपत्नीत्व की व्यापक प्रथा थी, इसका संकेत बाणभट्ट की आत्मकथा में भी यत्र-तत्र किया गया है। राजमहल के जीवन का दूसरा पहलू भी था—जो जघन्य तथा अश्लील था। राज्य के मन्त्री गुप्त प्रेम करते थे। राजा लोग बहुधा स्त्रियों के लिए ऐसी नैतिक दुर्बलता दिखलाते थे जो उनके लिए उचित नहीं प्रतीत होती थी। महल में वेश्यायें बहुत दृष्टिगोचर होती थीं। उपन्यासकार ने इसे स्पष्ट करने के लिए ही छोटे राजकुल की चर्चा की है, जिसमें भट्टिनी वन्दिनी थी। अवसर निकाल कर मुख्यतः नगर निवासी मनोरंजन के साधनों का जमकर उपयोग करते थे। चैत्र मास की पूर्णिमा को वसन्तोत्सव मनाया जाता था जो आजकल के हिन्दुओं के होली त्योहार से मिलता-जुलता था। 'प्रिय-दर्शिका' तथा 'रत्नावली' नामक नाटकों में इस उत्सव का उल्लेख मिलता है—जिसकी भी चर्चा उपन्यास में देशकाल को सजीव करने के लिए हुई है। स्त्री और पुरुष के सामाजिक सम्मिलन की एक सीमा थी। ज्ञात होता है कि पर्दे की प्रथा कम से कम समाज में उच्च श्रेणी की महिलाओं में प्रचलित थी। भट्टिनी भी पर्दा करती थी। राजाओं के अन्तःपुर में कंचुकी तथा प्रतिहारी आदि को छोड़कर और किसी को भी प्रवेशाधिकार नहीं था। यही कारण है कि कुमार कृष्णवर्धन को जब यह पता लग जाता है कि बाणभट्ट ने छोटे राजकुल के अन्तःपुर में प्रवेश किया था तो वह उसे प्राण-दण्ड की व्यवस्था से अवगत कराता है। धर्मों तथा सम्प्रदायों की भिन्नता बहुत अधिक बढ़ गयी थी, इसकी चर्चा से सारा उपन्यास भरा पड़ा है, जो कि ऐतिहासिक तथ्य है। ●

७ | उपन्यासकार की कल्पना-भूमि

पूर्व में ही इसका संकेत किया जा चुका है कि कथानायक बाणभट्ट हर्षवर्धन आदि कुछ पात्रों के केवल नाम को छोड़कर उपन्यास के सभी पात्र और उनसे सम्बन्धित सभी घटनायें उपन्यासकार की कल्पना की उपज हैं। बाणभट्ट और महाराज हर्षवर्धन यद्यपि प्रमुख ऐतिहासिक व्यक्ति हैं पर उपन्यास में आयी हुई उनसे सम्बन्धित सभी घटनाओं को न तो ऐतिहासिक समर्थन प्राप्त है और न तो इतिहास से उनका कहीं विरोध हो लक्षित होता है। इसका प्रमुख कारण यही है कि उपन्यासकार ने ऐतिहासिक तथ्यों को तो अपनी रचना का आधार नहीं बनाया है, पर उसने तत्कालीन सामाजिक आचार विचार और देश-काल का जो वर्णन किया है, वह पूर्णतः कल्पित होते हुए भी इतिहास-समर्थित है। इस प्रकार उपन्यासकार ने ऐतिहासिक सत्य की अपेक्षा सम्भावित ऐतिहासिक सत्य की चर्चा अधिक की है। सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक एक भी ऐसा वर्णन उपन्यास में नहीं आया है जिसका ठोस प्रमाण प्रस्तुत न किया जा सकता हो। इतिहास अपने काल की राजनैतिक गतिविधियों की ही चर्चा मुख्यतः करता है। सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक विषयों को तो उचित स्थान साहित्य में ही मिल पाता है। किसी भी देश और काल की सामाजिक झाँकी प्राप्त करने का उपयुक्त साधन उस देश अथवा काल का साहित्य ही हुआ करता है चाहे वह कविता में लिखा गया हो अथवा गद्य में। साहित्यकार वैयक्तिक अनुभूति एवं कल्पना के माध्यम से सामाजिक चेतना को ही वाणी देने का प्रयत्न करता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का उद्देश्य हर्षकालीन भारत का तथ्यात्मक इतिहास प्रस्तुत करना नहीं बल्कि तत्कालीन सामाजिक चेतना का सजीव चित्र उपस्थित करना ही है। यही कारण है कि उपन्यासकार ने विषय सामग्री को प्रामाणिकता प्रदान के लिये ऐतिहासिक तथ्यों से अधिक तत्कालीन काव्यग्रन्थों का ही सहारा लिया है। बाणभट्ट की जीवन-कथा जहाँ पर अंचलों का स्पर्श करती है, उपन्यासकार ने उसे अनैतिहासिक नहीं होने दिया है। बाणभट्ट का हर्षवर्धन के दरबार में जाना, उसका सभा-पंडित बनना इतिहास-सिद्ध है। ऐसे धार्मिक संघर्ष जिनका सम्बन्ध राजा अथवा राजनैतिक परिस्थितियों से है, उपन्यासकार द्वारा ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर ही वर्णित है। चीनी यात्री की भारत-यात्रा तथा हर्षवर्धनका उसके प्रभाव में आकर अन्य धर्मों की उपेक्षा करना जिससे एक प्रकार के धार्मिक आक्रोशपूर्ण वातावरण का निर्माण हो गया था आदि उपन्यास में आये ऐसे वर्णन हैं जिनका समर्थन हर्षकालीन इतिहास से पूर्णतः हो जाता है।

बाणभट्ट का सम्बन्ध सूत्र अधिकाधिक रूप में राजदरबार से बँधा अवश्य रहता है, पर उसे घेर कर चलने वाली उपन्यास की सारी कथा का अधिकांश कथ्य भाग तत्कालीन सामाजिक अंचलों में ही विकसित हुआ है जिसमें संस्कृत भाषा के गौरवपूर्ण अध्ययन-अध्यापन की विधि, धार्मिक तथा मांगलिक अवसरों पर उठने वाले जुलूसों के प्रति उत्साह एवं उनके स्वरूप, मदनोत्सव, उपवन, विहार तथा नृत्य आदि के आयोजन रूप में नागरिकों की कला-प्रियता आदि सामाजिक उत्सवों की जो अनूठी चर्चा 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में हुई है, वह अत्यन्त विश्वसनीय है। उपन्यासकार ने ऐसे चित्रों को मात्र कल्पना के सहारे ही नहीं बल्कि काव्यग्रन्थों की साक्षी देकर ही चित्रित किया है।

संस्कृत भाषा के आचार्यों की परम्परा हर्षकालीन भारत में अत्यन्त गौरव-शालिनी थी। बाणभट्ट का यह कहना कि "सरस्वती स्वयं आकर अपने पाणिपल्लवों से मेरे पितृदेव के होमकालीन श्रम-सीकरों को पोंछा करती थीं"[१] तो एक कवि की भाषा में उसे अत्युक्ति नहीं मानना चाहिये क्योंकि यह संस्कृत भाषा के लिये वह गौरवपूर्ण समय था जब कि सम्राट हर्षवर्धन तक राजकीय प्रपंचों से समय निकाल कर सुन्दर काव्य-रचना कर लेते थे। आचार्यों के घरों में पलने वाली "शुक सारिकायें भी विशुद्ध मन्त्रोच्चारण कर लेती थीं, और यद्यपि लोगों को यह बात अतिशयोक्ति जँचेगी, परन्तु यह सत्य है कि मेरे पूर्वजों के विद्यार्थी उनको शुक सारिकाओं से डरते रहते थे। वे पद-पद पर उनके अशुद्ध पाठों को सुधार दिया करती थीं।"[२] यह उपन्यास-कार की कोरी कल्पना नहीं है बल्कि कथानायक बाणभट्ट ने अपनी अमर कृति 'कादम्बरी' (कथामुख १२) में इस प्रसंग का स्पष्ट उल्लेख किया है। इस प्रकार उपन्यास के इस वर्णन से आत्मकथा की विश्वसनीयता और भी बढ़ गयी है। १४ वर्ष की उम्र में ही बाणभट्ट अपनी माता और पिता को खो चुका था, इसका भी प्रमाण बाणभट्ट कृत 'हर्षचरित' (प्रथम उच्छ्वास) में मिल जाता है। यहाँ तक कि बाण-भट्ट की वेश-भूषा का उल्लेख करते समय उपन्यासकार अत्यन्त सतर्क रहा है। बाणभट्ट जिस समय कुमार कृष्णवर्द्धन को उनके पुत्रोत्सव पर बधाई देने जा रहा था उस समय उसने "शुक्ल अंगराग धारण किया, शुक्ल पुष्पों की माला धारण की, अगुल्फ शुक्ल धौत उत्तरीय धारण किया।"[३] यही उसका प्रिय वेश था जिसका उल्लेख उसकी रचना 'हर्षचरित' (२३ उच्छ्वास् पृ० ४०) में मिल जाता है।

मांगलिक अवसरों पर नगर के मुख्य मार्ग से जुलूस निकालने की प्रथा हर्ष-कालीन भारत में थी जिनमें सभी वर्ग के स्त्री-पुरुष समान रूप से भाग लेते थे। कुमार

१—बाणभट्ट की आत्मकथा प्र० स० पृ० १०।

२—बाणभट्ट की आत्मकथा प्र० स० पृ० ९।

३—बाणभट्टकी आत्मकथा प्र० स० पृ० १४।

कृष्णवर्धन के पुत्रोत्सव के अवसर पर थानेसर के मार्ग से जो जुलूस निकला था, उपन्यासकार ने उसका सजीव वर्णन किया है। इस जुलूस में स्त्रियों की संख्या ही अधिक थी राजवधुएँ बहुमूल्य शिविकाओं पर आरूढ़ थीं। साथ-साथ चलने वाली परिचारिकाओं के चरण विघट्टन-जनित नूपुरों के क्वणन से दिगन्त शब्दायमान हो उठा था।....इसका सबसे मजेदार हिस्सा वह था, जिसमें राजमहल में रहने वाले बौने, कुबड़े, नपुंसक और मूर्ख लोग नृत्य से विह्वल होकर भागे जा रहे थे। एक वृद्ध कंचुकी की दशा बड़ी दयनीय हो गई थी। उसके गले में एक नृत्य-परायण रमणी का उत्तरीय वस्त्र अँटक गया था। और खींचतान में पड़ा हुआ बेचारा बूढ़ा उपहास का पात्र बन गया था। राजकन्याओं का स्थान जुलूस के ठीक मध्य भाग में था। यहाँ नृत्य-गान संयत, गम्भीर और मनोहारी था। एक ओर भेरी, मृदङ्ग, पटह, काहल और शंख के निनाद से धरित्री फटी जा रही थी।....सबके पीछे राजा के चारण और बन्दी लोग विरुद-गान करते हुए जा रहे थे।"[१] इस शानदार जुलूस के उल्लेख की प्रेरणा उपन्यासकार को बाणभट्ट कृत 'कादम्बरी' के शुकनास के पुत्रोत्सवकालीन यात्रा-वर्णन से मिली है।

कान्यकुब्ज मदनोत्सव बड़ा धूमधाम से मानाया करते थे जो उस समय फाल्गुन की पूर्णिमा को मनाया जाता था। नगर के समस्त राजमार्ग भक्त नागरिकों की भीड़ से भर जाया करते थे। पुरवासियों की करतल-ध्वनि, मधुर संगीत और मृदंग के घोष से सारा नगर गूँज उठता था। मधुमत्त नगर-विलासिनियों के सामने जो भी पुरुष पड़ जाता था, उस पर शृंगक (पिचकारी) के रंगीन जल की बौछार हो जाती थी। इस प्रकार के मदनोत्सव का वर्णन 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में हुआ है जिसके अनुसार थानेसर के बड़े-बड़े चौराहे मर्दल के गम्भीर घोष से और चर्चरी-ध्वनि से शब्दायमान हो रहे थे। ढेर-के-ढेर सुगन्धित अबीर दसों दिशाओं में ऐसा उड़ा हुआ था कि दिशायें रंगीन हो उठी थीं और नगरी के राजपथ केशर-मिश्रित पिष्टातक (अबीर) से इस प्रकार भर गए थे, जैसे उन पर उषा की छाया पड़ी हुई हो।.... समृद्धिशाली भवनों के सामने वाले आँगन में धारा-यंत्रों (फव्वारों) से पानी उत्क्षिप्त हो रहा था और उसमें अपनी अपनी पिचकारी भरने की होड़-सी मची हुई थी।"[२] इस महान सामाजिक उत्सव का समर्थन 'रत्नावली' नाटिका के प्रथम अंक से हो जाता है जो उसी काल की रचना है। इस विशेष अवसर पर स्त्रियाँ अपने को पुष्पादि अलंकारों से खूब सजाती भी थीं जिसका उल्लेख बाणभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'हर्षचरित' के चतुर्थ उच्छ्‌वास में किया है, जिसके आधार पर उपन्यासकार ने तत्कालीन सामाजिक आचार-विचार का अत्यन्त विश्वसनीय वर्णन प्रस्तुत किया है। मदनोत्सव में भाग लेनेवाली स्त्रियों में जो युवतियाँ थीं उनके कर्णों में नवकर्णिकार के पुष्प झूल रहे

१—बाणभट्ट की आत्मकथा, प्र० स० पृ० १३

२—बाणभट्ट की आत्मकथा, प्र० स० पृ० ११६, १७

थे, चल-नील अलकों में अशोक-स्तबक विराजमान थे और कपोल-पालि पर वे पथः-विहीन अंगुलियों की अंकित सुडौल मंजरियाँ झलक रही थीं। ललाट कुंकुम गौरकान्ति से वलयित वे काश्मीर-किशोरियों-सी दीख रही थीं।...कनक-मेखला की किंकिणियों से उलझी हुई कुरंटक-माला उनके मध्य देश को घेरती हुई शोभित हो रही थी। मानों रागाग्नि ही प्रदीप्त होकर उन्हें वलयित किये है"[१] महाकवि कालिदास ने अमर कृति 'मेघ-दूत' में उज्जयिनी के जिस प्रातःकालीन दृश्य का मनोरम चित्र खींचा है उसकी ही छाया उपन्यासकार के थानेसर में बाणभट्ट द्वारा देखे गये मध्याह्न दृश्य वर्णन पर पड़ी है। वह जब छोटे राजकुल के पास वाले मार्ग पर पहुँचा तो वहाँ से कोई मदोन्मत्त उत्सव-कारी दल निकल चुका था और कालिदास की उज्जयिनी की भाँति "गमन के उत्कम्पा वश यहाँ भी सुन्दरियों के केश मन्दार पुष्प झड़े हुये थे। कान से सुनहरे कमल खिसक कर भूलुंठित हो रहे थे, हृदयदेश पर बार-बार आघात करने वाले हारों से बड़े-बड़े गंधराज-कुसुम टूट कर गिर गये थे।"[२] इससे हर्षकालीन विलासी समाज की एक अच्छी झलक मिल जाती है। भवभूति कृत 'मालती माधव' नामक प्रकरण में इस प्रकार का एक संकेत मिल जाता है कि चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को कुमारिकायें मदन-पूजा किया करती थीं। जिसके अनुसार वे व्रत रखती थीं और कामदेव की विधिवत् पूजा करने के पश्चात् वरदानस्वरूप अपने अभिलषित वरों की माँग करती थीं। इस पूजा के लिये उन्हें मदनोद्यान से फूल चुन कर हार गूँथना पड़ता था। तत्पश्चात् कुंकुम और अबीर का तिलक लगा कर लाक्षारस से भूर्ज पत्र पर अपने-अपने अभिलषित वरों की प्रतिमा बना कर चुपके से भगवान कुसुम-सायक को भेंट करना पड़ता था।

राजमहलों से लगा हुआ उसके ही अन्तःगर्भ में एक छोटा-सा सुसज्जित उपवन अथवा उद्यान हुआ करता था जिसमें प्रायः विलासी सामन्त अथवा राजा विलासिनी स्त्रियों के साथ विहार किया करते थे जिसमें नृत्य और मद्यपान मुख्य विषय हुआ करते थे जो एक प्रकार से सामन्ती संस्कृति का कलात्मक मनोविनोद था। उपन्यासकार ने 'रत्नावली' नाटिका के प्रथम अंक को आधार मानकर 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में हर्षकालीन भारत की विलासिता, कामुकता तथा कलाप्रियता का जो वर्णन किया है, उससे अतीतकालीन भारत की एक मनोरम झांकी पाठकों को मिल जाती है। इस उपन्यास में प्रकृति के मनोरम चित्र भरे पड़े हैं। अपने इस प्रकार के लम्बे किन्तु मोहक वर्णनों में द्विवेदी जी ने आत्मकथात्मक वर्णन की स्वाभाविकता को बनाये रखने के लिये तत्कालीन ग्रन्थों में आये हुये वर्णनों को ही अपनी कल्पना का आधार बनाया है जिससे उन पर आधुनिकता का आक्षेप न किया जा सके। उपन्यासकार ने रात्रिकाल के मोहक स्वरूप पर जब दृष्टि डाली तो उस समय 'चन्द्रमा' निश्चय ही देर से आकाश पर विचर रहा था।

१—बाणभट्ट की आत्मकथा, प्र० स० पृ० ८
२—बाणभट्ट की आत्मकथा प्र० स० पृ० २००

उदयकाल में जो लालिमा रहा करती है, उसका कहीं कोई चिन्ह नहीं रह गया था। इन्द्र का ऐरावत गज जब स्वर्मन्दाकिनी में अवगाहन करके निकलता होगा, तो उसके श्वेत कुम्भस्थल पर से सिन्दूर धुल जाने के बाद ऐसी ही शोभा होती होगी। सारा आकाश चाँदनी से इस प्रकार भर गया था, जैसे किसी अज्ञात शिल्पी के सुधा-विलेपन-चूर्ण का भाण्डार ही उलट गया हो। ताराओं का टिमटिमाना देखकर मुझे ऐसा लगा कि वे झीम रही हैं और जिस-किसी क्षण लुढ़क कर सो पड़ेंगी। मृदु-मन्द सान्ध्य समीर ने गृह-धेनुओं पर अपना प्रभाव डाल दिया था, क्योंकि उसके स्पर्श से इन जीवों में एक अलसनिद्रा का भाव आ गया था। उनके रोमन्थन-व्यस्त (पागुर में लगे हुए) जबड़े धीरे-धीरे शिथिल हो रहे थे और आँखों की बरौनियाँ जुड़ती जा रही थीं। मुझे सब से दयनीय चन्द्रमा में का वह मृग लगा। ऐसा जान पड़ता था कि वह अभागा प्यास का मारा इस अमृत-सरोवर में आया था और अब अमृत-पंक में धँसा हुआ कर्त्तव्य-मूढ़ बना जबदासा खड़ा था।'[1] निश्चित ही यह वर्णन बाणभट्ट कृत 'कादम्बरी' (कथामुख के संध्यावर्णन) से लिया गया है।

कलासेवी नर्तकियों की एक-एक भंगियों तथा उनके सामाजिक सम्मान एवं उपयोग की इतिहाससम्मत व्याख्या प्रस्तुत करने का जो सफल प्रयत्न उपन्यासकार ने किया है उससे उपन्यास के ऐतिहासिक स्वरूप की समुचित रक्षा हुई है। अभिनय के पश्चात् भट्ट के आग्रह भरे स्वर को सुनकर जब निपुणिका खड़ी हो गई तो 'उसका बाँया हाथ कटिदेश पर न्यस्त था, कंकण कलाई पर सरक आया था, दाहिना हाथ शिथिल श्यामलता के समान झूल पड़ा था, उसकी कमनीय देह-लता नृत्य-भंगी से जरा झुक गई थी, मुखमंडल श्रमबिन्दुओं से परिपूर्ण था।'[2] इस चित्र को उपन्यासकार ने महाकवि कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नामक नाटक से लिया है। एक ओर तो हर्षकालीन भारत में कला के प्रति सामान्यतः नागरिकों के मन में श्रद्धा-भाव लक्षित होता है, दूसरी ओर शासकों द्वारा उनकी इस दुर्बलता से अनुचित लाभ उठाने की प्रथा का भी संकेत मिल जाता है। प्रसिद्ध नर्तकी चारुस्मिता के नृत्य प्रति थानेसर के निवासियों में अपूर्व प्रेम था, पर कवि धावक ने सत्य ही कहा कि "चारुस्मिता का नृत्य कान्यकुब्ज की विद्रोही जनता को वश में ले आने का अस्त्र है।"[3] इस प्रकार एक ओर तो प्रभात किरणों की भाँति चारुस्मिता का नृत्य अतीव उल्लास से भरा है और दूसरी ओर उसमें अफीम का वह विषैला प्रभाव है जिससे जनता के जागरूक भावों को सुलाया जाता है। ऐसे विरोधी प्रभावों का उल्लेख 'मृच्छ कटिक ५।१२' में आया है जिसका उपयोग उपन्यासकार ने इस स्थल पर कर लिया है।

---

१. बाणभट्ट की आत्मकथा, प्र० सं०, पृ० २९।
२. ,, ,, ,, ,, २०।
३. ,, ,, ,, ,, ३५२

अन्तःपुर एवं राजसभा का भी वर्णन उपन्यास में हर्षकालीन भारत के अनुरूप ही हुआ है। वात्स्यायन कृत 'कामसूत्र' में नागरकगृह का वर्णन जिस प्रकार किया गया है, उपन्यासकार ने भट्टिनी के थानेसर स्थित गृह का वर्णन भी उसी प्रकार किया है। सामन्त लोग अपने गृहों को प्रायः इसी प्रकार सजा कर रखते थे। भट्टिनी जिस गृह में बैठी थी, वहाँ पर "उसकी बगल में एक वेदिका पर माल्य, चन्दन और अनेक प्रकार के उपलेपन रखे हुए थे। एक छोटी सी स्फटिक पीठिका पर सुगन्धित सिक्थ करण्डक (मोमबत्ती की पिटारी) और सौगन्धिक पुटिका (इत्रदान) रखी हुई थी। जरा दूर हट के एक कांचन पात्र में मातुलुंग का छाल और पान के अन्यान्य उपकरण रखे हुये थे। शय्या के पादाधान की ओर चाँदी का पतद्ग्रह (पीकदान रखा हुआ था। ऊपर दीवार में हाथी दाँत की खूँटियों पर लाल कपड़े में लिपटी हुई एक वीणा रखी थी।"[1] अपने इस वर्णन को कालानुकूल बनाने के लिये उपन्यासकार ने वस्तुओं के नामों तक को प्राचीनता के रंग में ढालने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार के गृहों की दीवारों की रंगाई एवं उनकी सफाई के लिए जिन साधनों का उपयोग किया जाता था, उनका वर्णन द्विवेदी जी ने 'अभिलषितार्थ चिन्तामणि के[2] आधार पर किया है। हर्षवर्द्धन की राजसभा और उसकी बैठक का जो चित्रण इस उपन्यास में[3] किया गया है, वह लेखक द्वारा बाणभट्ट की 'कादम्बरी' (पूर्वभाग, राजसभा वर्णन) से लिया गया है।

सामाजिक रुचि में परिवर्तन आते ही सौंदर्य के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हो जाता है। सौंदर्य की सार्वभौमता पर देशकाल एवं बदलते हुए सामाजिक मूल्यों का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में उपन्यासकार ने अनेक रूपवती नारियों का आकर्षक चित्र खींचा है, पर कहीं से भी बीसवीं शताब्दी की उस नारी की छाया उन पर नहीं पड़ने पाई है जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों से प्रतिद्वन्द्विता करती हुई समान अधिकार प्राप्त करने के लिये आन्दोलन करने को तैयार है और जो भौतिकवादी आडम्बरपूर्ण प्रसाधनों से सज-धजकर लोगों की आँखों को चौंधिया देने की होड़ लगा रही है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के नारी पात्रों का सौंदर्य उनके प्रसाधनों पर नहीं बल्कि उनके आन्तरिक गुणों पर आधारित हैं जो स्वाभाविक लज्जा एवं संकोच के कारण और भी आकर्षक बन गया है। प्रायः उपन्यासकार ऐसे स्थलों पर फिसल जाया करते हैं जिससे उनकी कला की सफलता पर प्रश्नवाची चिह्न लग जाता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का उपन्यास कला की इस अग्निपरीक्षा में अत्यन्त खरा उतरा है। जब उपन्यासकार नारी-सौंदर्य का चित्रण

---

१. बाणभट्ट की आत्मकथा प्र० सं० पृ० ३९
२. ,, ,, ,, १२४
३. बाणभट्ट की आत्मकथा प्र० सं० पृ० २४६

करने बैठता है तो उसके सम्मुख अतीतकालोन भारत की वे महिमामयी नारियाँ आकर उपस्थित हो जाती हैं जिन्हें चित्रित कर संस्कृत काव्य के स्रष्टा अमर हो गये। भट्टिनी का जो रूप उपन्यासकार की आँखों के सामने आया उस पर आधुनिक नारी के नहीं बल्कि बाणभट्ट कृत 'कादम्बरी' के महाश्वेता के रूप की ही छाया पड़ी है। बाणभट्ट के रूप में जब उपन्यासकार ने उसे पहली बार देखा तो वह वीणा बजा रही थी। लेखक का विश्वास है कि 'उसको देखकर पतित व्यक्ति के हृदय में भी भक्ति हुए बिना नहीं रह सकती। उसके सारे शरीर से स्वच्छ कान्ति प्रवाहित हो रही थी। अत्यन्त धवल प्रभा-पुंज से उसका शरीर एक प्रकार ढँका हुआ-सा ही जान पड़ता था, मानो वह स्फटिक गृह में आबद्ध हो, या दुग्ध-सलिल में निमग्न हो, या विमल चीनांशुक से समावृत हो, या दर्पण में प्रतिबिम्बित हो, या शरदकालीन मेघपुंज में अन्तरित चन्द्र-कला हो। उसकी धवल कान्ति दर्शक के नयन-मार्ग से हृदय में प्रविष्ट होकर समस्त कलुष को धवलित कर देती थी, मानो स्वर्मन्दाकिनी की धवल धारा समस्त कलुष-कालिमा का क्षालन कर रही हो। मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता रहा कि इतनी पवित्र रूप-राशि किस प्रकार इस कलुष धरित्री में सम्भव हुई? निश्चय ही यह धर्म के हृदय से निकली हुई है। मानो विधाता ने शंख से खोदकर, मुक्ता से खींचकर, मृणाल से सँवारकर, चन्द्रकिरणों के कूर्चक से प्रक्षालित कर, सुधा-चूर्ण से धोकर, रजत-रस से पोंछकर, कुटज कुन्द और सिन्धुवार पुष्पों की धवल कान्ति से सजा कर ही उसका निर्माण किया था। अहा, यह कैसी अपूर्व पवित्रता है! यहाँ क्या मुनियों की ध्यान-सम्पत्ति ही पुंजीभूत होकर वर्तमान है, या रावण के स्पर्श-भय से भागी हुई कैलाश पर्वत की शोभा ही स्त्री-विग्रह धारण करके विराज रही है, या बलराम की दीप्ति ही उनकी मत्तावस्था में उन्हें छोड़कर भाग आई है, या मन्दाकिनी की धारा ने ही यह पवित्र रूप ग्रहण किया है।'[1]

यहाँ तक कि विनोदी पात्रों तक के निर्माण में द्विवेदी जी ने उनकी प्राचीनता का ध्यान रखा है। वृद्ध द्रविड़ पुजारी जिससे 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में विनोद की सृष्टि हुई है और जिसके माध्यम से लेखक ने भट्टिनी तथा निपुणिका को थानेसर में छोटे राजकुल से निकालकर सुरक्षित रखा, वह भी केवल उपन्यासकार की कल्पना का ही परिणाम नहीं है बल्कि इसका भी निर्माण 'कादम्बरी' के 'जरद्द्रविड़ धार्मिक' के आधार पर हुआ है।

महाराज हर्षवर्धन के शासन काल में म्लेच्छ जातियों के नृशंस आक्रमण से नगर के नगर वीरान हो जाते थे तथा नागरिकों को अत्यन्त अमानवीय कष्टों को सहन करने के लिये बाध्य होना पड़ता था। वे ऐसी जातियाँ थीं कि लूटमार ही उनका व्यवसाय है, देवायतनों को भ्रष्ट करना ही उनका आमोद है, कुलबधुओं और बालि-

१. बाणभट्ट की आत्मकथा—प्र० स० पृ० ३९-४०

काओं का घर्षण ही उनका विलास है, हत्या और आग लगाना ही उनका पावन कर्तव्य है। पुरुषपुर से साकेत तक विशाल जनपद को उन्होंने रौंद डाला था।....दिनान्त-कालीन प्रचण्ड आंधी से छिन्न भिन्न मेघ पटल की भाँति नारियाँ श्रीहीन हो गयी थीं, जिन राजपथों पर घनी रात में भी निर्भय विचरण करने वाली अभिसारिकाओं के नूपुरों की रुनझुन सुनाई देती थी उन पर शृगालों के विकट रव सुनाई देने लगे थे, जिन पुष्करिणियों में जलक्रीड़ाकालीन मृदंगों की मधुर ध्वनि गमगमाया करती थी, उनका निर्मल जल जंगली भैंसों के लोटने से गँदला हो गया था, मृदंग के ताल पर नाचने का अभ्यस्त और सुवर्ण यष्टियों पर विश्राम करने वाले क्रीड़ा मयूर जगली बन गये थे और उनके मृदुल बर्हभार दावाग्नि से झुलस गये थे, अट्टालिकाओं की जिन सीढ़ियों पर रमणियों के सराग पदसंचरण किया करते थे उन पर व्याघ्रों के लहू-लुहान पैर दौड़ा करते थे, बड़े-बड़े राजकीय मद-मत्त गजराज जो पद्म वन में अवतीर्ण होकर मृणाल नालों द्वारा करेणुकाओं की संवर्धना किया करते थे, सिंहों से आक्रान्त हो रहे थे, सौधस्तम्भों पर लकड़ी की बनी स्त्री मूर्तियों का रंग धूसर हो गया था और उन पर साँपों की लटकती हुई केंचुलें ही उत्तरीय का कार्य करने लगी थीं; राजमहलों के अमल धवल प्राचीर काले पड़ गये थे, दीवार की क्षारों से तृणावली निकल पड़ी थी। चन्द्रकिरण भी उन्हें पूर्णवत् उद्भासित नहीं कर सकती थीं; जिन उदपान लताओं से विलासिनियाँ बड़े सदय भाव से पुष्प चयन किया करती थीं उन्हीं को वानरों ने बुरी तरह से छिन्न-भिन्न कर डाला था; अट्टालिकाओं के गवाक्ष न तो रात में मांगल्य प्रदीप से ही और न दिन में गृहलक्ष्मियों की मुखकांति से ही उद्भासित हो रहे थे, मानों उनकी लज्जा ढँकने के लिये ही मकड़ियों ने उन पर जाला तान दिया था, नदियों के सैकतों पर पूजन की सामग्री नहीं पड़ती थी, स्नान की चहल-पहल जाती रही थी और उपान्त देश के वेतसलता-कुञ्ज सूने पड़ गये थे।"
इस प्रकार के भयावह दृश्य का निर्माण उपन्यासकार ने किया है, उसका समर्थन तत्का-लीन इतिहास से तो हो ही जाता है, पर जहाँ तक उसके कलात्मक वर्णन का प्रश्न है वह भी आधुनिक वर्णन प्रणाली से नितान्त प्रतिकूल, हर्षकालीन अथवा संस्कृत काव्य-कालीन प्रणाली पर ही आधारित है। महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्य 'रघुवंश' में विध्वस्त अयोध्या नगरी का वर्णन जिस प्रकार किया है, उसी से बहुत कुछ मिलता-जुलता उपर्युक्त वर्णन उपन्यासकार का भी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने हर्षकालीन भारत की राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों की वास्तविक झाँकी प्रस्तुत करने में ऐतिहासिक संगतियों का पूर्णतः ध्यान रखा है जिसके कारण 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के चित्र अत्यन्त विश्वसनीय बन पाये हैं।

●

८ | चरित्र-निर्माण

कथावस्तु के बाद उपन्यास का सबसे महत्वपूर्ण अंग चरित्र-निर्माण का होता है जिसे कुछ विद्वान कथावस्तु से भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। ऊपर ही मैंने स्पष्ट कर दिया है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में वस्तु-गठन और चरित्र-निर्माण में कहीं भी संघर्ष अथवा द्वन्द्व नहीं चलने पाया है क्योंकि लेखक ने अपनी इस कृति में इन दो महत्वपूर्ण अंगों के संतुलन की पूर्णरूपेण रक्षा की है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि उपन्यासकार ने कथावस्तु और चरित्र-निर्माण को उपन्यास में ऐसे ढंग से उपस्थित किया है कि वे दूसरे के पूर्णतः पूरक बन गये हैं। कहीं भी किसी अंग को किसी अंग के लिये उत्सर्ग नहीं करना पड़ा है। कथावस्तु के निर्माण में उपन्यासकार का कौशल और चरित्र-निर्माण में उसकी कल्पना अत्यधिक सहायक होती है। लेखक जब अपने समसामयिक समाज अथवा व्यक्तियों का चित्रण करना चाहता है तो अपेक्षाकृत उसे उतनो प्रौढ़ कला अपेक्षित नहीं होती जितनी कि अतीत कालीन समाज अथवा व्यक्तियों के चित्रण में 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में आये सभी पात्र अतीत के गर्भ से निकले हैं जिनका आधार हर्षवर्धन कालीन भारत है। इतिहासकार को ऐतिहासिक उपन्यासकार की अपेक्षा फिर भी सुविधा रहती है क्योंकि उसे तथ्यों तथा सन् सम्वत् के आँकड़ों पर ही अपनी रचना करनी होती है, पर ऐतिहासिक उपन्यासकारों को तो ऐसे तथ्यों अथवा रहस्यों का उद्घाटन करना पड़ता है जिसे इतिहासकार छोड़ गये हैं तथा जिनके लिए उसके पास कोई आँकड़ा अथवा सामग्री उपलब्ध नहीं रहती। ऐसी स्थिति में कल्पना ही एक मात्र वह साधन है जिसके बल पर उपन्यासकार को प्राप्त कतिपय अस्पष्ट सूत्रों के सहारे अतीत कालीन घटनाओं एवं व्यक्तियों को प्रस्तुत करना पड़ता है। इस उपन्यास में आये हुए सभी पात्रों का निर्माण लेखक ने प्रायः अपनी कल्पना-शक्ति से ही किया है जो तत्कालीन भारत की सच्ची सामाजिक एवं सांस्कृतिक तथा राजनैतिक गतिविधियों की झांकी प्रस्तुत करते हैं। आत्मकथात्मक शैली में लिखे हुये ऐतिहासिक उपन्यासकारों के सम्मुख चरित्र-निर्माण में और भी अनेक कठिनाइयाँ रहती हैं जिसका उसे सामना करना पड़ता है। अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों की भाँति ही आत्मकथात्मक शैली में लिखे गये उपन्यासों में भी निश्चित व्यक्तियों को ही चरित्रों के रूप में चित्रित किया जाता है। उपन्यासकार को अन्य उपन्यासों की भाँति ही उपन्यास के चरित्रों को दृश्यों में प्रस्तुत करना पड़ता है जो आत्मकथा लेखक से नितान्त भिन्न

होते हैं। उपन्यासकार को अपनी सारी सामग्रियों को कल्पना के माध्यम से ही लाना ले जाना तथा प्रस्तुत करना होता है यही नहीं उनका उपन्यासकार उसे पुनः स्वयं अनुभव भी करना पड़ता है। इस प्रकार किसी न किसी पात्र के साथ उपन्यासकार की पूर्ण आत्मीयता भी हो जाती है जिसमें वह अपने व्यक्तित्व को आत्मसात करके व्यक्त करता है, जबकि उस पात्र के जीवन-काल में वह उस रूप में कभी भी नहीं रहा। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि लेखक के आत्मीय पात्र को छोड़कर अन्य पात्र सत्य से नितान्त दूर होते हैं और उनमें लेखक के व्यक्तित्व अथवा अनुभव का अंश नहीं होता। उपन्यास में कम ही ऐसे पात्र होते हैं जो सीधे किसी एक व्यक्ति के जीवन से उतार लिए जाते हों क्योंकि एक ही पात्र में सभी समस्याओं एवं आदर्शों का उत्स देखना लेखक के लिए कभी भी सम्भव नहीं है। पुरुषों के लिये नारी और नारियों के लिये पुरुष पात्र आदर्श का उत्स नहीं बन सकते। अतः उपन्यासों के सभी पात्रों में लेखक के व्यक्तित्व एवं अनुभव का आंशिक सत्य ही प्रकाश पाता है। यह दूसरी बात है कि वह सत्य किसी पात्र में अधिक और किसी पात्र में कम मात्रा में विद्यमान रहता है। हम यह कभी भी स्वीकार नहीं कर सकते कि बाणभट्ट ही एक मात्र उपन्यासकार का आदर्श अथवा अभिप्रेत चरित्र है, भट्टिनी और निउनियाँ नहीं।

कल्पना भी निराधार नहीं होती, बल्कि उसके लिए भी किसी न किसी ठोस आधार की आवश्यकता होती है। अतः चरित्र-निर्माण में भी उपन्यासकार किसी न किसी ठोस आधार का सहारा लेकर ही कल्पना का चमत्कार प्रकट करता है। प्रसिद्ध विद्वान (Turgenieff) का कथन है कि किसी भी चरित्र का निर्माण करना उसके लिए तब तक सम्भव नहीं होता जब तक कि वह अपनी कल्पना के सम्मुख किसी जीवित व्यक्ति को लाकर खड़ा नहीं कर लेता। बिना किसी एक निश्चित व्यक्ति को मस्तिष्क में लाये यह कभी भी सम्भव नहीं है कि चरित्रों में जीवन अथवा प्रेरणा-दायिनी शक्ति का संचार किया जा सके। वह व्यक्ति स्वयं लेखक हो सकता है तथा व्यक्ति के अभाव में मूर्तिमन्त आदर्शों को भी वह प्रेरणा-स्रोत के रूप में सामने रख सकता है। इस कसौटी पर जब हम 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के पात्रों को कसते हैं तो उनमें हमें अन्तिम दो प्रेरणा-स्रोतों की ही झलक दिखलाई पड़ती है। उपन्यास के जिन पात्रों में मानवीय भावों को अभिव्यक्ति मिली है उनमें से अधिकांश पुरुष पात्र तो लेखक के और स्त्री पात्र उसके मूर्तिमान आदर्शों के प्रकाश से ही प्रतिभासित जान पड़ते हैं। उपन्यास के समस्त पात्रों को हम चाहें तो साधारणतः दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं, जिनमें से एक वर्ग तो बाणभट्ट, भट्टिनी, निपुणिका, लोरिक देव तथा सुचरिता आदि का है जो मानवीय भावों के वाहक तथा मुख्य कथा के आधार हैं और दूसरा वर्ग हर्षवर्धन, कुमार कृष्ण, छोटे राजकुल के महाराज, वाभ्रव्य, वेंकटेश भट्ट, अघोरभैरव भर्वुशर्मा, सुगतभद्र, तुवरमिलिन्द, विरतिवज्र, महामायाभैरवी तथा

मदनश्री आदि का है जो तत्कालीन भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा राजनैतिक वातावरण को सजीव रूप में चित्रित करने तथा मुख्य कथा के निर्माण की भूमि प्रस्तुत करने के लिये लाये गये हैं।

बाणभट्ट

उपन्यास का कथानायक बाणभट्ट ऐतिहासिक पात्र है जिसमें उपन्यासकार के विचारों को सबसे अधिक वहन करने की शक्ति है और लेखक ने अपनी सबसे अधिक सहानुभूति प्रदान कर अपने अनुभवों एवं पुरुषोचित आदर्शों को मूर्त रूप देने के लिए अपने गम्भीर सरस व्यक्तित्व के रस से सिक्तकर इस अमर चरित्र का निर्माण किया है। एक ओर तो लेखक ने बाणभट्ट में अपने व्यक्तित्व को समाहित कर दिया है, दूसरी ओर उसने उसे स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करने की सफल चेष्टा भी की है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि उपन्यासकार के पात्र अपने स्रष्टा के व्यक्तित्व की छाया अथवा विचारों के प्रतिनिधि मात्र बनकर ही रह जाते हैं और उपन्यास में उनका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं बन पाता। पर द्विवेदी जी की यही सबसे बड़ी विशेषता है कि उन्होंने जयशंकर प्रसाद के नाटकीय ऐतिहासिक पात्रों की भाँति बाणभट्ट को स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान किया है जो स्वयं एक महान् व्यक्ति है और अपने सद्‌गुणों के कारण पाठकों की स्मृति में दीर्घकाल तक वर्तमान रहता है। लेखक के संकेतों पर वह चलने के लिए कहीं भी विवश नहीं हुआ है जो अपनी किशोरावस्था में आवारागर्दी से लेकर निर्भीक, वाकपटु, नारी-रक्षक, प्रकाण्ड-विद्वान, सभापण्डित भट्टिनी ऐसी अलौकिक महनीय नारी की मौन करुणा तथा प्रेम की भूमिका तक बराबर अपनी स्वाभाविक गति से बढ़ता गया है।

हर्षवर्धन के शासन-काल में भारत की जो सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक अवस्था रही है, उन सबका वास्तविक प्रवेश बाणभट्ट के जीवन में तो हुआ अवश्य है पर वह सम्पर्क में आकर भी उसी प्रकार अछूता रहता है जैसे जल में कमल पत्र। बाणभट्ट के चरित्र की विवेचना करते समय मुख्यतः दो दृष्टिकोणों को आधार मानकर चलना पड़ेगा एक तो है मानवीय गुणों के आधार पर चित्रित स्वतन्त्र व्यक्तित्व और दूसरा तत्कालीन भारत की समसामयिक परिस्थितियों का प्रतिनिधित्व। जहाँ तक समसामयिक परिस्थितियों के प्रतिनिधित्व का प्रश्न है, उपन्यास की सारी भूमि ही कथानायक बाणभट्ट के चरित्र के सहारे तैयार की गयी है, जिसके चरित्र-चित्रण के हेतु इस पक्ष को आधार मानना आवश्यक नहीं है क्योंकि यह एक स्वतन्त्र विषय ही है जिसके आधार पर सम्पूर्ण उपन्यास का मूल्यांकन किया जायगा। बाणभट्ट में मानवीय सबलताओं एवं दुर्बलताओं का समावेश किस सीमा तक हुआ है यही हमारा विवेच्य विषय है।

किशोरावस्था के पूर्व का जीवन-चित्रण मनोविज्ञान का विषय है क्योंकि उस समय तक व्यक्ति में सामाजिक क्रियाशीलता का नितान्त अभाव रहता है। इस उपन्यास

द्वारा बाणभट्ट का जो जीवन हमारे सामने आता है वह किशोरावस्था के बाद का ही है जिसमें वह अत्यन्त भ्रमणशील होने के नाते आवश्यक, अनावश्यक, वांछित तथा अवांछित सभी प्रकार के समाज एवं व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है जिससे मानव-जीवन के अधिकाधिक पक्षों के स्पष्ट चित्र बाणभट्ट के जीवन में दिखाई पड़ते हैं। बाणभट्ट यद्यपि ऐतिहासिक पात्र है फिर भी उपन्यासकार ने तत्कालीन ऐतिहासिक महत्वपूर्ण घटनाओं के साथ उसके कार्य-व्यापारों को जोड़ने का प्रयत्न नहीं किया है, यही कारण है कि निर्बन्ध रूप में कल्पना के बल पर अत्यन्त मानवीय भावों से युक्त इतिहास की सामाजिक भूमिका में उसे लेकर उतार सका है। जिन परिस्थितियों एवं संघर्षमयी घटनाओं के बीच से वह गुजरता है वे शुद्ध ऐतिहासिक हैं, पर बाणभट्ट उनका सूत्राधार नहीं बल्कि उनसे प्रभावित होने वाला पात्र है। यही कारण है कि ऐतिहासिक पात्रों के निर्माण में लेखक के सम्मुख आने वाली कठिनाइयों से उपन्यास-कार साफ-साफ बच गया है क्योंकि जहाँ पर हर्षकालीन इतिहास मौन है, वहीं पर बाणभट्ट का उद्‌भव और विकास हुआ है। भारतीय विद्वानों की यह एक अपनी विशेषता रही है कि उन्होंने निःसंकोच भाव से उन महानुभावों की एक ओर तो अकृपण रूप में प्रशंसा की है जिनसे वे तनिक भी उपकृत हैं, पर वहीं दूसरी ओर अपने सम्बन्ध में वे सर्वथा इतने मौन रहे हैं कि उनके सम्बन्ध में विशेष रूप से कुछ भी जान पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। पुस्तक की समाप्ति पर थोड़ा बहुत परिचय दे देने की परम्परा क्षीण रूप में मिल जाती है, पर बाणभट्ट के ग्रन्थों से तो उतना भी जान पाना कठिन है क्योंकि एक भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ ऐसा नहीं है जिसे वह पूरा कर सका हो, जिसका कारण भी अज्ञात है। इन्हीं अज्ञात कारणों की कल्पना उपन्यासकार ने तत्कालीन इतिहास, काव्य-ग्रन्थों तथा अन्य प्राप्त सूचनाओं के आधार पर की है जिसमें बाणभट्ट द्वारा रचित हर्षचरित एवं महाराज हर्षवर्धन द्वारा लिखित नाटक अथवा नाटिकायें मुख्य हैं। बाणभट्ट के चरण भारत के जिस भूभाग तक पहुँचे हैं, वहाँ का समाज, राजनीतिक उथल-पुथल, आचार-विचार तथा धार्मिक मान्यतायें उपन्यास में सजीव रूप में प्रवेश पा गयी हैं, जिससे जान पड़ता कि उपन्यास के ऐसे प्रसंगों में आया हुआ बाणभट्ट का जीवन साध्य नहीं, बल्कि साधन है। लेखक ऐसी परिस्थितियों में डालकर बाणभट्ट की कतिपय चारित्रिक विशेषताओं को ही नहीं प्रकट करना चाहता बल्कि वह उसके माध्यम से तत्कालीन समाज का सजीव चित्र भी खींचना चाहता है जिसमें उसे पर्याप्त सफलता मिली है। कथा-नायक बाणभट्ट का चरित्र ऐसे स्थलों पर प्रभावहीन-सा जान पड़ता है क्योंकि यदि उसे केवल ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में ही देखा जाय तो देश की धार्मिक उथल-पुथल एवं राजनीति में न तो बाणभट्ट की विशेष दिलचस्पी ही रही है और न तो स्वेच्छा से वह उन प्रपंचों में ही पड़ना चाहता है, भले ही किसी दूसरी शक्ति ने उसे

उसमें घसीट लिया हो, चाहे वह निपुणिका रही हो अथवा अनिंद्य सुन्दरी भट्टिनी के प्रति उसका अज्ञात श्रद्धापूर्ण आकर्षण। यही कारण है कि बाणभट्ट जिन परिस्थितियों के आवर्त्त में क्रमशः पड़ता जाता है उसकी उसके पास कोई पूर्व निश्चित योजना नहीं है, बल्कि वह दूसरों की आज्ञाओं अथवा इच्छाओं पर चलने वाला एक अनुगत एवं अत्यन्त विनत प्राणी है, चाहे वह निपुणिका हो अथवा भट्टिनी, यही कारण है कि ऐसे स्थलों पर बाणभट्ट का पौरुष निपुणिका और भट्टिनी के तेज के सम्मुख हतप्रभ सा दीखता है। यद्यपि लेखक ने पाठकों के मन में यह बात बैठाने की चेष्टा की है कि बाणभट्ट नारी-शरीर को देव-मन्दिर-तुल्य समझता है जिससे उसके कुंठित पौरुष पर माधुर्य एवं मर्यादा का आवरण आ जाय पर धीरोदात्त नायक की जो कल्पना पाठक के अज्ञात मन में होती है उसकी पूर्ति इससे कहाँ हो पाती है ? आगे चलकर कथा का सूत्र जिस रूप में आगे बढ़ता है उसमें बाणभट्ट की यही दुर्बलता सबलता का रूप धारण कर लेती है और हम देखते हैं कि उसके निश्चय में सागर की गहराई और हिमालय की अडिग श्रेष्ठता का समन्वित रूप केन्द्रीभूत हो जाता है। इस प्रकार यदि हम बाणभट्ट के जीवन के विविध पक्षों की विवेचना करने लग जायँगे तो यह आवश्यक नहीं कि कसौटी पर उसका चरित्र महान् ठहरेगा। पर विवेचना करने के पूर्व हमें इस पर विचार भी कर लेना होगा कि क्या हमें उतनी दूर जाकर मूल्यांकन करने का अधिकार है ? हम उसी सीमा तक किसी पात्र के चरित्र का मूल्यांकन कर सकते हैं जहाँ तक कि उसका निर्माता हमें स्वीकृति देता है। स्वीकृति से यहाँ केवल यही तात्पर्य है कि हम इसे जानें कि लेखक ने विवेच्य पात्र को किस रूप में प्रस्तुत किया है। इस कसौटी के आधार पर बाणभट्ट एक आदर्श चरित्र है जो लेखक के अभिप्रेत भावों को बिना किसी रोकटोक के पाठकों तक पहुँचा देता है। आचार्य सुगतभद्र द्वारा जब सर्व प्रथम बाणभट्ट और कुमार कृष्णवर्धन के भेंट की व्यवस्था हुई तो उस समय दोनों के बीच हुये वार्तालाप से साधारणतः हमें बाणभट्ट की अनावश्यक प्रगल्भता एवं अशिष्ट व्यवहारों के ही दर्शन मिलते हैं। बाणभट्ट के मुख से भट्टिनो के सम्बन्ध में घटी विगत सारी घटनाओं को निर्विकार भाव से सुन लेने के पश्चात् कुमार कृष्णवर्धन का यह कहना है कि 'देवपुत्र की कन्या के लिये मेरा गृह प्रस्तुत है' उनकी मर्यादा एवं प्रतिष्ठा के नितान्त अनुकूल है। किसी भी शिष्ट व्यक्ति का वही कहना चाहिये था जो कुमार ने कहा। पर कुमार के उत्तर में कहे गये वाक्य उनके राजकीय सम्मान के प्रतिकूल तो थे ही, उनसे बाण-भट्ट की उच्छृङ्खलता की गन्ध भी आती है और उसने जब भावुकता में यह कह डाला कि 'जानता हूँ परन्तु कुमार को शायद बाणभट्ट का पूरा परिचय नहीं मालूम, उस इशारे के होने के पूर्व इशारा करने वाली आँखें नहीं रहेंगी' तो उसने सीमा का अति-क्रमण कर दिया। न जाने वह अपना कौन-सा परिचय कुमार कृष्ण को देना चाहता है। क्या वह यही कहना चाहता है कि वह नाटक-मण्डलियों में काम करने वाला एक

घुमक्कड़ अथवा आवारा रहा है, पंडितों का ढोंग बनाकर जनपद के सीधे-सादे नागरिकों को ठगता रहा है, झूठी भविष्यवाणियाँ करके अपना प्रभाव बढ़ाने की चेष्टा करता रहा है, निपुणिका ऐसी बदनाम नारी का सखा है अथवा वह यह कहना चाहता है कि उसने चोर की भाँति छोटे राजकुल में घुसकर भट्टिनी को निकाला है और अब अदण्डित होकर सम्राट हर्ष के छोटे भाई कुमारकृष्ण के सामने निर्भीकभाव से खड़े होकर अपनी छोटी जबान चला रहा है अथवा छोटे मुँह बड़ी बातें कर रहा है। ऐसा लगता है कि वह कुमार कृष्ण की शक्ति से अपरिचित है जिसके एक इशारे पर बाणभट्ट तथा उसके सहयोगियों का नामो-निशान मिट सकता है अथवा वह यह जानता है कि कुमार कृष्ण अपनी मर्यादा से नीचे नहीं उतर सकते और वह सुरक्षित है। जो भी हो, इस स्थल पर किये गये बाणभट्ट के कार्यों का समर्थन यह कहकर नहीं किया जा सकता कि वह एक निर्भीक और अन्याय का प्रतिकार करने वाला साहसी पुरुष है, बल्कि यह स्वीकार करना होगा कि उसमें सामान्य शिष्टाचार एवं अनुभव की न्यूनता है जिससे वह राजकीय पुरुषों से वार्तालाप करने के लिए सर्वथा अयोग्य है। पर इस घटना का एक दूसरा पक्ष भी है जिससे बाणभट्ट की चारित्रिक विशेषताओं में चार चाँद लग जाता है, वह है नारी के प्रति उसका सम्मान एवं निःस्वार्थ भाव से अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़ने का दृढ़ संकल्प, जिसकी रक्षा के लिये वह प्राण तक भी दे सकता है। नारी के रूप एवं यौवन के प्रति सहज आकर्षण का होना धन और यश की प्राप्ति की विपुल कामना तथा प्राणों के प्रति स्वाभाविक मोह का जगना किसी भी व्यक्ति की साधारण दुर्बलता है, पर बाणभट्ट इन दुर्बलताओं से बहुत ऊपर है यही उसके चरित्र की महानता का महानतम रहस्य है जो उसे साधारण मानवीय स्तर से इतने ऊपर उठा देता है, जहाँ भौतिकवादी कुवृत्तियाँ, मानवीय कल्मश तथा यौवन की पंकिलता की गर्द भी नहीं पहुँच सकती। धन और यश की इच्छा बाणभट्ट के मन में कभी भी नहीं रही और कुमार कृष्ण के राज्य में ही अत्यन्त कटु शब्दों में उसको दी गयी बाणभट्ट की चुनौती स्पष्ट कर देती है कि वह नारी के सतीत्व एवं मर्यादा की रक्षा के लिये अपने प्राणों को हथेली पर लेकर निकला है। नारी, संस्कृति एवं सभ्यता की कर्णधार अत्यन्त गौरवमयी, महनीय एवं सृष्टि के लिये पूज्या है। जिस देश में नारी-जाति के प्रति समादर रखने वाले बाणभट्ट ऐसे पुरुष हों वह संस्कृति एवं सभ्यता के शिखर पर बैठकर जगत गुरु बनने का अधिकारी क्यों न हो ? उपन्यासकार की ऐसी कामना है। हमें दीर्घकालीन दासता के कष्टों को जितना भोगना पड़ा है उसके मूल में नारी-समाज का अनादर एवं उसके प्रति पुरुष वर्ग में बढ़ती हुई कामुकता और विलासमयी वासना की भावना ही तो है।

मनुष्य की सबसे बड़ी दुर्बलता नारी आकर्षण बाणभट्ट के चरित्र की सबसे बड़ी सबलता बन गयी है। वह नारी को सर्व-साधारण लोगों की दृष्टि से नितान्त भिन्न

रूप में देखता है। जिसे समाज पतिता समझता है उसके सद्‌गुणों का मूल्यांकन बाणभट्‌ट जैसे महापुरुष ही कर सकते हैं। नारी कभी भी पतित नहीं होती, पतित होता है समाज जो उसे पतित बनाता है। जब वह एक बार पतन के गर्त में गिर जाती है तो उसका निकलना इसलिये कठिन हो जाता है कि पुरुष दृष्टि उसे निकलते देखना भी नहीं चाहती। निपुणिका के इस कथन का क्या सार है कि 'मैं पश्चाताप करूँ, तो जिस नरक में पड़ी हूँ वहाँ भी स्थान नहीं मिलेगा।' ऐसा इसलिये है कि वह कुल भ्रष्टा स्त्री है, उसके सद्‌गुणों का समाज में क्या मूल्य है? दुर्गुणों की तो फिर भी कुछ पूछ है, इसे बाणभट्‌ट भली-भाँति समझता है। अकेले कोई एक व्यक्ति चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष सम्पूर्ण समाज से संघर्ष करके जीवित नहीं रह सकता, उसे परिस्थितियों से समझौता करना ही पड़ता है। ऐसी स्थिति में यदि किसी के बाह्य आचार-विचार एवं रहन-सहन के आधार पर उसके चरित्र का मूल्यांकन कर लिया जाय तो वह निर्णय कभी भी स्वस्थ नहीं हो सकता। स्वस्थ निर्णय करने के लिये तो बाणभट्‌ट जैसे दृष्टिकोण की अपेक्षा है जिसमें परिस्थितियों को समझने के लिये अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण हृदय है। समाज अपनी जिस सीमा तक निपुणिका अथवा सुचरिता के सम्पर्क में आया है वह उन्हें भद्र महिलाओं के रूप में नहीं स्वीकार करता जिसे निपुणिका भी जानती है क्योंकि पान की दुकान पर भट्‌ट से बातें करके वह उसे अलग ले जाती है और पक्व केश वृद्ध का सुचरिता के सम्बन्ध में बाणभट्‌ट से यह कहना कि 'अपने वय के लोगों से सही सूचना पा सकते हो' आदि इसके प्रमाण हैं। बाणभट्‌ट में नारी की विवशता को जानने की अद्‌भुत शक्ति है, वह उसके भीतर छिपी महानता को भली-भाँति समझ लेने में समर्थ होता है, जिससे उसकी नारी-विषयक सहानुभूति श्रद्धा के रूप में परिवर्तित हो उसे नारी-शरीर को देव-मन्दिर समझने के लिये बाध्य कर देती है। वह नारी-शरीर का ऐसा पुजारी है जिसमें उसके प्रति कामाशक्ति नहीं बल्कि अर्चना के निमित्त पवित्र भावना है। इस प्रकार उपन्यासकार ने बाणभट्‌ट के संयम एवं उसकी नारी-विषयक मान्यताओं के आधार पर नारी के सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों की कल्पना की है।

बाणभट्‌ट का व्यक्तित्व इतना आकर्षक है कि नर्तकी मदनश्री से लेकर निपुणिका और राजनन्दिनी भट्टिनी तक उस पर समान रूप से आकर्षित होती हैं और भट्‌ट को भी ऐसे नारी रत्नों के अत्यन्त निकट आने एवं रहने की पूर्ण सुविधा भी उपलब्ध है, पर कहीं से भी हमें उसका संयम डिगता नहीं जान पड़ता। सामान्य रूप से बाण-भट्‌ट की नारी विषयक उदासीनता को देखकर तो एकबार उसके पुसत्व में भी सन्देह होने लग जाता है अथवा उसके इस पक्ष को यदि दूसरे ढंग से सोचें तो कह सकते हैं कि लेखक ने बाणभट्‌ट के द्वारा जिस संयम की कल्पना की है उसे हम कोरे आदर्श

के रूप में ही स्वीकार कर सकते हैं जो मानव-जीवन की स्वाभाविकता से बहुत दूर की वस्तु है।

नारी अपने रूप और यौवन का दान देने और उसका प्रतिदान पाने के लिये जब पुरुष के द्वार पर स्वयं हाथ पसारे खड़ी हो तो उसकी उपेक्षा पुरुष के लिये न तो सम्भव है और न तो उचित ही, पर बाणभट्ट ऐसा करता है। बाणभट्ट के चरित्र की इस दृढ़ता के महत्व का समर्थन लेखक ने उन्हीं नारी पात्रों से कराने का प्रयत्न किया है जो उससे टकरा कर निराश लौट चुकी है। नारी-स्वभाव की यह विशेषता है कि वह परपुरुष के प्रति उत्पन्न अपने आकर्षणों को अन्तर्मन की गहराई में इतना दबा कर रखती है कि उसका ज्ञान पाना कठिन है, पर यदि कोई, नागरिक नयनों के गवाक्षों से झांक सका तो उसे प्रवेश के सभी द्वार खुले मिलेंगे। संयम की सीमा तोड़कर जब नारी प्रस्ताव लेकर स्वयं भूमिका में उतर पड़ती है और पुरुष द्वारा उसका समादर नहीं हो पाता तो उसकी स्थिति उस नागिन की सी हो जाती है जिसके नाग को किसी ने रमण काल में ही मार डाला हो। वह अपनी समूची शक्ति से पुंसत्वहीन अबोध उदासी पुरुष को डस लेना चाहती है। निपुणिका जब भट्ट की नाटक-मंडली से भगी थी तो उसकी स्थिति भी कुछ ऊपर जैसी ही थी। वह भट्ट पर प्राणपण से अपने को न्योछावर कर चुकी थी। जिसका प्रतिदान न पाकर ही वह अकेली रात्रि काल में भाग खड़ी होती है, पर उसके मन में कभी भी बाणभट्ट के प्रति घृणा का भाव नहीं आता उल्टे वह श्रद्धामूर्ति की भाँति उसे अपने हृदयस्थ कर लेती है। मदनश्री का यह कहना 'सखि, तुम लोग भाणभट्ट की कुल वधू हो' निश्चित ही यह उसके कलुष मानस का कलुषतर अभियोग था जो एक नर्तकी के लिये स्वाभाविक ही है, क्योंकि वह कभी भी इसकी कल्पना नहीं कर सकती की नाट्य मंडली में रहकर एक रूपवती युवती अपने को पवित्र रख सकती है। मुख्यतः बाणभट्ट के साथ कुल-वधू शब्द का जोड़ना एक व्यंग्य था क्योंकि उसने नाटक मंडली में काम करने वाली स्त्रियों पर प्रतिबन्ध अत्यन्त कड़े लगा रखे थे। सम्भव है उस समय नाटक मंडली के व्यवस्थापक नृत्य के साथ-साथ स्त्रियों के रूप-यौवन का निंद्य व्यापार भी करते रहे हों। बाणभट्ट की मंडली इस अपमान से वंचित थीं फिर भी ऐसा अनुमान कर लेना कि भट्ट का अनुचित सम्बन्ध तो होगा ही एक रूप व्यवसायी नर्तकी के लिये तर्कसंगत ही है, पर निपुणिका का यह कहना और ऐसी परिस्थिति में कहना जब कि भट्ट ने उनकी भावना, रूप एवं यौवन के आकर्षण से मुँह फेर लिया हो कि, 'सखि मेरी जैसी अभागिनों को देखकर 'बाणभट्ट' को छोटा न समझो,' स्पष्ट कर देता है कि भट्ट के चरित्र का संयम महान है। निपुणिका उसके पुन्सत्वहीन व्यक्तित्व का नहीं बल्कि मर्यादित पौरुष का ही गुणगान करती है। भट्ट के इस संयम से निपुणिका उसके उदासीन न होकर आजीवन श्रद्धा एवं प्रेम के सूत्र में अपने को आबद्ध कर लेती है। एक

लम्बी भटकान के पश्चात् जब भट्ट और निपुणिका का पुनर्मिलन होता है तो अवसर पाकर वह भट्ट से प्रणय-निवेदन का भी एक प्रकार से साहस कर बैठती है 'मैं तुम्हारा करावलम्ब चाहती हूँ। नारी का जन्म पाकर केवल लांछना पाना ही सार नहीं है।' स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक संयोग की संगति का ज्ञान बाणभट्ट को न हो ऐसी बात नहीं क्योंकि वह सहसा सोचने के लिये बाध्य हो जाता है 'अवधूत पाद की साधना इसलिये अधूरी है कि उन्हें विशुद्ध नारी का सहारा नहीं मिला और निपुणिका की बलिदानाकांक्षा इसलिये अपूर्ण है कि उसे पुरुष का करावलम्बन नहीं मिला।' फिर भी बाणभट्ट का अविचल रहना अवश्य ही उसके संयमशील व्यक्तित्व का परिचायक है न कि उसकी पुंसत्वहीनता का। निपुणिका के प्रति बाणभट्ट की अनासक्ति का एक कारण भट्टिनी के प्रति उसका असाधारण अनुराग हो सकता है जिसे वह भट्टिनी की मर्यादा-रक्षा-हेतु गुप्त रखता रहा, पर आगे अवसर आने पर भट्टिनी के ही व्यवहारों से मर्यादित प्रेम प्रकट होता है जो एक पुरुष के लिए हाथ बढ़ाने के लिए पर्याप्त है। 'भट्ट' के यह कहने पर कि 'महामाया माता ने आधा सत्य ही पाया है देवि, आधा और भी पा सकतीं तो समझतीं कि छुई-मुई की भाँति मुरझा सकना कितनी बड़ी शक्ति का सुप्त रूप है।' भट्टिनी का यह कहना कि 'तुम भी उस आधे सत्य से वंचित हो भट्ट।' स्पष्ट मूक आह्वाहन है जिसे भट्ट खूब समझता है, पर देने के लिये उसके पास उत्तर इसलिये नहीं है कि वह भट्टिनी के शरीर को देव मंदिर समझता है। उसे वह वासना-विलास की वस्तु नहीं बल्कि आराधना एवं पूजा की वस्तु समझता है। निपुणिका के संघर्षशील व्यक्तित्व से तो वह इतना अभिभूत है कि वह उसे अपना गुरू मान बैठता है क्योंकि भूल करता है भट्ट और सुधारती है निपुणिका। निपुणिका उससे प्रेम, श्रद्धा सब कुछ करती है। उसने नारी-जीवन की एक अद्भुत, मान्यता भट्ट के सम्मुख उपस्थित कर दी है जिससे बाणभट्ट सचमुच भगवान बाराह की प्रतिमूर्ति बन गया है। जिस प्रकार भगवान् बाराह ने नर्क में पड़ी धरती को हिरण्याक्ष का वध करके मुक्ति प्रदान की, उसी प्रकार बाणभट्ट ने धरती-स्वरूपा नारी 'राजनन्दिनी' को नर्क स्वरूप छोटे राजकुल से राक्षस रूपी विलासी मौखरी सामंत के अत्याचारों से मुक्ति प्रदान की। निपुणिका तथा सुचरिता जैसी नारियों को वह श्रद्धास्पद पद प्रदान करता है, जिन्हें समाज कुलटा तथा कुलभ्रष्टा के रूप में जानता है। उपन्यास में भगवान बाराह की मूर्ति के प्रवेश का यही मूल रहस्य है जिसे बाणभट्ट का चरित्र पाठकों के सम्मुख खोलकर रख देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनिंद्य सुन्दरियों के बीच रहकर और उनका पूर्ण विश्वास भाजन होते हुये भी बाणभट्ट अपने चरित्र की अग्नि-परीक्षा में खरा उतरता है। ऐसी स्थिति में कुमारकृष्ण वर्द्धन की बातों से उसके हृदयगत भावों को जो चोट

लगी वह स्वाभाविक ही है और उत्तेजित हो जाने के कारण उसका यह कह बैठना कि 'जानता हूँ, परन्तु कुमार को शायद बाणभट्ट का पूरा परिचय नहीं मालूम । उस इशारे के होने के बहुत पूर्व इशारा करने वाली आँखे नहीं रहेंगी ।' कुछ अस्वाभाविक नहीं जान पड़ता क्योंकि इसके पूर्व ही पाठक को भट्ट के दृढ़ निश्चय का परिचय मिल जाता है, जब वह भट्टिनी को आश्वासन देता हुआ दिखलाई पड़ता है—'भद्रे आप बाणभट्ट पर भरोसा रखें । समग्र कान्यकुब्ज की सैन्य शक्ति भी आपकी इच्छा के बिरुद्ध आपको कहीं नहीं ले जा सकती···देवपुत्र तुवरमिलिन्द की प्राणाधिका कन्या का सेवक बनने का गौरव प्राप्त है ।' नाटक मंडली को साथ लेकर भटकने तथा आवारा कहा जाने वाला 'भट्ट' भट्टिनी के प्रभाव में आकर उसी प्रकार बदल गया है जैसे पारस पत्थर के प्रभाव में आकर लोहा बदल जाता है ।

बाणभट्ट के रूप में द्विवेदी जी ने एक ऐसे चरित्र की सृष्टि की है जो अतिः सामान्य सामाजिक स्तर से उठकर सम्राट् हर्षवर्धन के सभापंडित के गौरवान्वित पद तक पहुँच जाता है, जो पतित बना देने वाली सुविधाओं से घिरा रहकर भी कमलपत्र-वत पवित्र बना रह जाता है, जो अपने कार्यों एवं व्यवहारों से एक ऐसे आदर्श की सृष्टि करता जान पड़ता है; जहाँ कल्मष एवं पंकिलता की गर्द भी पहुंचती नहीं जान पड़ती और जो केवल लेखक की कल्पना की ही सृष्टि मात्र नहीं, बल्कि उसकी अनु-भूतियों एवं वैयक्तिक निष्ठा के रस से सिक्त होकर स्वतंत्र दृढ़ रीढ़ के आधार पर खड़ा हो प्रेरणा प्रदान करने में पूर्ण समर्थ है ।

भट्टिनी

उपन्यास में जितने भी स्त्री पात्र आये हैं उनमें राज्यश्री को छोड़ कर प्रायः सभी उपन्यासकार की कल्पना की उपज हैं जिनके द्वारा वह हर्षकालीन भारत का एक सजीव सामाजिक रोमांस उपस्थित करने में सफल हो सका है । कार्य-विस्तार एवं महानता की दृष्टि से बाणभट्ट के पश्चात् उपन्यास का सबसे महत्वपूर्ण चरित्र निपुणिका है, पर प्रभाव की दृष्टि से भट्टिनी का स्थान अत्यन्त महत्व का है जिसके कारण ही 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का बाणभट्ट, बाणभट्ट हो सका है । जीवन के आरम्भ में जबकि भट्ट को समाज में कोई सम्मानित स्थान भी नहीं मिल पाया था और युवावस्था की उभरती हुई पहली उमंग में नाटक-मंडली के व्यवस्थापक के रूप में नितान्त निरं-कुश भी था, वह नारी के प्रभाव से बिलकुल अछूता ही रहा है । दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि वह एक भी ऐसी नारी के सम्पर्क में नहीं आ सका जिसकी सौन्दर्य-ज्योति में स्नान करके किसी भी पुरुष का जीवन-पावन हो सकता है, जिसके एक संकेत पर अपने जीवन की बलि दे देने के लिये कोई भी सहृदय व्यक्ति विवश हो सकता है तथा जिसकी मौन कामना की पूर्ति के लिये किसी भी युवक की गति में चपला की सी

तीव्रता एवं हिमालय की सी दृढ़ता का आ जाना सहज स्वाभाविक है। भट्टिनी एक ऐसी ही प्रेरणादायिनी रूपवती शक्ति है जिसके सम्पर्क में आकार बाणभट्ट बण्ड न रहकर शिव का प्रतीक बन गया है। उपन्यासकार ने भट्टिनी को विषम समर-विजयी तुवरमिलिन्द की एकमात्र नयनतारा राजनन्दिनी के रूप में उपस्थित किया है जिससे आत्म गौरव, निश्चय की दृढ़ता तथा उदात्त भावों के प्रति निष्ठा का समावेश उसके चरित्र में जातीय संस्कार के रूप में ही आ गये हैं। उपन्यासकार ने तुवरमिलिन्द की कल्पना एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में ऐसी की है कि वह तत्कालीन भारतीय इतिहास में शक्ति केन्द्र के रूप में दिखाई पड़ता है जिसके अभाव में आक्रमणकारियों से उत्तर भारत की रक्षा कर पाना असम्भव सा दीख पड़ता है। इस नाम का कोई भी राजा हर्षकालीन भारत में नहीं हुआ है, लगता है भट्टिनी को गौरव प्रदान करने के लिये ही उसके पिता की इतनी ऊँची कल्पना उपन्यास में की गयी है। न जाने कितनी स्त्रियाँ ऐसी मिल सकती हैं जो भट्टिनी के रूप की समानता कर सकती हैं, पर कितनी ऐसी हैं जिन्हें तुवरमिलिन्द जैसे पिता की पुत्री होने का अधिकार है। पद, वैभव एवं कुल-मर्यादा से भी सौन्दर्य का महत्व बढ़ता है जो महानता भट्टिनी को प्राप्त है और ऐसा सौन्दर्य जिसके द्वार पर याचना के लिये खड़ा हो उस व्यक्ति की महानता का तो पूछना ही क्या ? बाणभट्ट ऐसा ही व्यक्ति है जिसके सम्मुख भट्टिनी नारी गोमुखी गंगा की भाँति उपस्थित होती है। दोनों का ही चरित्र महान् है और दोनों ही एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा दोनों ही के दृष्टिकोण में जो परिवर्तन आया है वह एक दूसरे के प्रभाव का ही परिणाम है।

बाणभट्ट ने अपने स्वाभाविक संकोच को छोड़ कर जब पहली बार भट्टिनी को वीणा बजाते देखा तो उसने अनुभव किया कि भट्टिनी के स्वरूप में वह ऐसी शक्ति है जिसे देख कर पतित व्यक्ति के हृदय में भी भक्ति हुए बिना नहीं रह सकती। उसका रूप ही ऐसा है मानो वह निश्चय ही धर्म के हृदय से निकली हुई है। मानों विधाता ने शंख से खोदकर, मुक्ता से खींचकर, मृणाल से सँवार कर, चंद्रकिरणों के कुर्चक से प्रक्षालित कर, सुधाचूर्ण से धोकर, रजत रस से पोंछ कर, कुटज कुंद और सिंधुवार पुष्पों की धवल कांति से सजा कर ही उसका निर्माण किया था।'' ऐसी कमनीय एवं अलौकिक नारी के सम्पर्क में आकर बाणभट्ट का नारी शरीर को देव-मंदिर समझ बैठना और उसका भक्त बन जाना स्वाभाविक है। पिता की छाया से दूर चली जाने पर भट्टिनी को बाणभट्ट ही एक ऐसा व्यक्ति मिलता है जो उसके गौरव के अनुकूल व्यवहार करता है, नहीं तो वह अब तक तो पुरुषों की कामुक चेष्टायें तथा अश्लील प्रदर्शन ही देखती आयी है जिससे पुरुष मात्र के प्रति घृणा करने लग जाना उसके लिए स्वाभाविक ही है। भट्टिनी के रूप में उपन्यासकार ने नारी-आदर्शों को

मूर्तिमान कर दिया है। वह कमल से भी कोमल, चाँदनी से भी पावन, नवनीत से भी तरल, सागर से भी गम्भीर और हिमाचल से भी दृढ़ चरित्र वाली नारी है। उसके संयम की सीमा नहीं है और बाणभट्ट ऐसे प्रभावशाली व्यक्ति के सम्पर्क में यदि वह आकर अपनी स्वाभाविक सहृदयता का परिचय पाठकों को न कराती तो उसे आदर्श पुत्तलिका के रूप में ही स्वीकार करना पड़ता जिसका स्थान धरती नहीं कल्पना लोक है।

नारी सुलभ ईर्ष्या-द्वेष तथा इच्छा और उत्कंठा के लिये भट्टिनी के चित्रण में कोई स्थान नहीं, क्योंकि उसने इन दुर्बलताओं को संयम की शिला से दबा रखा है। निपुणिका के शब्दों में भट्टिनी सरल बालिका है जिसे संसार की कटुता का लेश मात्र भी ज्ञान नहीं है। उसकी सरलता ने ही उसके आसपास निःस्वार्थी अभिभावकों को जमा कर रखा है, चाहे वह निपुणिका हो अथवा बाणभट्ट। संयम, मर्यादा आदर्श एवं सारल्य का अद्भुत संयोग हमें भट्टिनी के चरित्र में दिखाई पड़ता है। बाणभट्ट के प्रति भट्टिनी का सहज स्वाभाबिक आकर्षण विद्यमान है क्योंकि जब उसने भट्ट के सम्बन्ध में यह कहा कि 'तुम इस आर्यावर्त के द्वितीय कालिदास हो' तो कहते-कहते उसका मुख कुछ लाल भी हो गया। बड़े-बड़े खंजन-शावक से चपल नयन झुक गये और अधरोष्ठों का मन्द स्मित ज़ल्दी-जल्दी भीतर भाग जाने की चेष्टा करने लगा। लेकिन भट्टिनी का आनन्द छिपाया नहीं जा सका। रह रहकर कपोल-पालि विकसित हो उठती थी औ और नयन कोरक विस्फारित हो उठते थे।' तान्त्रिक अभिचार के कारण 'भट्ट' के मूर्छित हो जाने पर भट्टिनी की विह्वलता, आवास पर देर से लौटने पर प्रतीक्षा करती हुई आँखों से उसका 'भट्ट' का मृदु तिरस्कार करना, रात्रि काल में अकेले बैठें बाहर 'भट्ट' को आदेश के स्वरों में वैसा न करने के लिये आग्रह करना तथा यह स्वीकार कर लेना कि 'भट्ट' मैं जानती थी कि तुम मुझे डूबने न दोगे आदि आकर्षण के स्पष्ट संकेत हैं, पर संयम के कारण ऐसे पुरुष के सम्पर्क में अकेली रहने पर भी भट्टिनी कहीं भी अपनी मर्यादा का उल्लंघन करती नहीं जान पड़ती। अत्यन्त सरल एवं संकोची स्वभाव की नारी होते हुये भी, जब कभी भट्टिनी मुखर हो जाती है तो 'भट्ट' को उपदेश देते समय उसके आदर्श स्वरूप के भी दर्शन हो जाते हैं। भारतीय संस्कृति परम्परा की भूमिका में भट्टिनी जीवंतनारी आदर्श की एक मोहक कल्पना है।

निपुणिका

निपुणिका के रूप में उपन्यासकार ने भारतीय नारी के आत्मबलिदान की अपूर्व कथा कही है। लेखक भौतिक शरीर से ऊपर उठकर आदर्शों एवं गुणों के आधार पर नारी तत्व की कल्पना करता है जिसे उसने निपुणिका के रूप में मूर्तिमान करने का प्रयत्न किया है। यह जड़ मांस पिण्ड न नारी है, न पुरुष। वह निषेध रूप तत्त्व ही

नारी है। जहाँ कहीं अपने आपको खपा देने, अपने आपको उत्सर्ग करने की भावना प्रधान है, वहीं नारी है। जहाँ कहीं दुख-सुख की लाख-लाख धाराओं में अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है वहीं नारी तत्व है, या शास्त्रीय भाषा में कहना हो तो 'शक्ति-तत्व है। निपुणिका का निर्माण ही दूसरों की सुख-सुविधा के लिए हुआ है। उसका व्यक्तित्व दूसरों के हित में पर्यवसित हो गया है, जिससे उसकी न तो कोई अपनी इच्छा है और न आवश्यकता। उसने जीवन में दान ही सीखा है और प्रतिदान की इच्छा उसके मन में कभी उत्पन्न ही नहीं हुई। समाज ने उसकी विवषताओं एवं परिस्थितियों का भरपूर लाभ उठाया है उसने उसके शरीर, रूप, यौवन, मान, मर्यादा और प्रतिष्ठा तक का भी सौदा किता है, पर वह क्या निपुणिका का कुछ बिगाड़ सका है। भौतिक शरीर को ही नारी समझने वाले भले ही उसे दुराचारिणी तथा कुलभ्रष्टा के रूप में स्वीकार करें पर उसका वास्तविक नारी रूप जो भौतिक शरीर से भिन्न है, कभी भी पथ भ्रष्ट नहीं हुआ। नारी जीवन में एक बार और एक व्यक्ति से प्रेम करती है तथा उसके बाद के उसके सभी प्रेम-प्रसंग परिस्थितियों की देन होते हैं जहाँ वह प्रेम नहीं करती. बल्कि पशुता, अत्याचार तथा निर्धनता के सन्मुख विवश आत्मसमर्पण करती है जो पूर्णतः शारीरिक होता है। वास्तविक समर्पण तो आत्मा का समर्पण होता है। निपुणिका ने केवल एक व्यक्ति के सम्मुख आत्म-समर्पण किया है, जो है बाणभट्ट जिसके चरणों में उसने अपनी इच्छा, आकांक्षा तथा सुख-सुविधा आदि सभी का समर्पण कर दिया है। समाज की दृष्टि में निपुणिका जो भी हो 'भट्ट' की दृष्टि में वह देवी, गुरु तथा पवित्रता की प्रतिमूर्ति आदि सभी कुछ है।

विवाह के एक वर्ष बाद ही विधवा हो जाने पर जब वह परिस्थितियों की मारी घर से भाग कर उज्जैनी में आकर बाणभट्ट की नाटक-मण्डली में शरण लेती है तो उसे बाणभट्ट ऐसे अनोखे पुरुष का साहचर्य मिलता है जो स्त्री-शरीर को देव-मन्दिर के समान पवित्र समझता है। यह अनुभव निपुणिका के लिए नितान्त नवीन था, जिससे वह प्राण-प्रण से भट्ट के प्रति अनुरक्त हो जाती है। रह-रह कर मन की चंचलता में उसका नारीत्व भी विचलित हो जाया करता है, पर बाणभट्ट के निर्विकार मन पर कुछ भी प्रभाव न पड़ते देखकर वह उसकी वास्तविक महत्ता का अनुभव करती है जिससे उसके सामने से मोह के सभी बादल कट जाते हैं। वह प्रेमिका की भूमिका से अपने को उतार जीवन भर के लिए भक्त के रूप में अपने को बाणभट्ट के चरणों में डाल देती है। उसकी यदि अपनी कोई इच्छा है तो यही की वह भट्ट को आर्यावर्त के श्रेष्ठ पुरुष के रूप में देखना चाहती है। जिस सेवा-भाव की प्रेरणा उसे भट्ट द्वारा मिली है, उसका उपयोग वह यथावसर दीन-दुखी व्यक्तियों के सहायतार्थ करती है। छोटे राजकुल के घृणित वातावरण से भट्टिनी को निकाल लाने में निपुणिका ने जिस

चतुराई एवं कौशल का परिचय दिया है वह अद्भुत है। भट्टिनी का बाणभट्ट के प्रति मौन एवं गम्भीर संयमित प्रेम निपुणिका से छिपा नहीं रहता और वह साधारण स्त्रियों की भाँति ईर्ष्या-द्वेष के कारण किसी प्रकार का संकट उत्पन्न करने की चेष्टा नहीं करती जबकि ऐसा करना अत्यन्त स्वाभाविक था। जो वस्तु बाणभट्ट को प्यारी है उसकी मान-मर्यादा का ध्यान निपुणिका उसी प्रकार रखती है जैसा कि भट्ट का। भट्ट की सुख-सुविधा के चिन्तन को ही वह अपने जीवन का चरम लक्ष्य मान बैठती है, जिसका चरम परिपाक हमें उस समय दिखलायी पड़ता है जब देवी के सम्मुख हम बलि के लिये बाणभट्ट को खड़ा पाते हैं। निपुणिका जान पर खेलकर भट्ट की रक्षा करती है।

बाणभट्ट और भट्टिनी के सम्पर्क में निपुणिका को एक साथ लाकर उपन्यासकार ने जिन परिस्थितियों की योजना की है, उनमें अन्तर्मन में चलने वाले नारियोचित संघर्षों को चित्रित करने के लिए पूर्ण अवकाश था पर लेखक अपने को साफ-साफ बचा ले जाता है। इस प्रकार निपुणिका भट्टिनी एवं सुचरिता का ही नहीं उद्धार करती बल्कि वह उपन्यासकार की भी सहायता करती जान पड़ती है। उपन्यासकार ने निपुणिका के चरित्र को इतना महान बना दिया है कि वह मानवीय स्तर से बहुत ऊपर उठ गया है। भट्टिनी एवं भट्ट के परस्पर प्रेम-प्रसंग को विकसित देखने का जो अपूर्व साहस निपुणिका ने अपने में संचित किया है, वह देखने में भले ही अस्वाभाविक लगे पर उससे अपूर्व आत्म-बलिदान का अनुपम आदर्श तो स्थापित हो ही जाता है। नारी आदर्शों के मूर्तिमान स्वरूप ही का नाम निपुणिका है।

निपुणिका के उपकारों का बहुत बड़ा बोझ भट्टिनी के ऊपर लदा है जिससे वह कृत ता के भावों में डूबी रहती है और वह यह भी भलीभाँति जानती है कि निपुणिका किन किन रूपों में अपना आत्मबलिदान उसके हित में करती जा रही है। भट्टिनी चाहकर भी कुछ कर पाने में असमर्थ है क्योंकि निपुणिका जिस आँधी और तूफान की गति से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ी जा रही है, उसमें भट्टिनी की इच्छा और प्रयत्नों का मूल्य तिनकों से भी कम है। भट्टिनी अपने हृदगत भावों को जो वाणी नहीं दे सकी अथवा जो वह भट्ट के प्रति उत्पन्न अपने आकर्षण को संयम के बल से अन्त तक अप्रकट ही रखती रही; इन सबके मूल में निपुणिका अवश्य थी। भट्टिनी कहीं निपुणिका के मार्ग में अवरोध न बन जाय, इसका सदैव ध्यान उसके अन्तर्मन में बना रहा, इसमें सन्देह नहीं। संयम की भी सीमा होती है और अन्त में हम देखते हैं कि भट्टिनी और निपुणिका दोनों को ही प्रकट होना पड़ा, जिसमें भट्टिनी तो पीछे रह गयी पर निपुणिका बाजी मार ले गयी। वासवदत्ता की भूमिका में जब कि निपुणिका रत्नावली का हाथ राजा बने हुये बाणभट्ट के हाथ में देने लगी तो सचमुच वह अपने को संभाल न सकी। 'नागरजन' जब साधु-साधु की आनन्द-ध्वनि से दिगन्त कँपा रहे थे उसी समय यवनिका

(पर्दे) के अन्तराल में निपुणिका के प्राण निकल रहे थे। भट्टिनी ने दौड़कर उसका सिर अपनी गोद में ले लिया और कुररी की भाँति कातर चीत्कार के साथ चिल्ला उठी—हाय भट्ट अभागिनी का अभिनय आज समाप्त हो गया। उसने प्रेम की दो दिशाओं को एक सूत्र कर दिया और पछाड़ खाकर निपुणिका के मृत शरीर पर लोट पड़ी।' भीतर ही भीतर घुट कर निपुणिका ने अपने प्राण दे दिये, उसने अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं को किसी दूसरे के मार्ग में बाधक नहीं होने दिया। यही भारतीय नारी के जीवन का पूज्य आदर्श है जिसके कारण ही निपुणिका अपने को बाणभट्ट की प्रियतमा, भक्त, गुरु; हितैषिणी तथा रक्षिका सब कुछ समझती रही और बाणभट्ट भी उसे वह स्थान देता रहा। प्रेम के जिस उच्च आदर्श की कल्पना लेखक ने निपुणिका के माध्यम से की है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। नर्तकी चारुस्मिता के शब्दों में-निपुणिका स्त्री जाति का शृंगार थी, सतीत्व की मर्यादा थी।"

महामाया

आर्य वाभ्रव्य के साक्ष्य के आधार पर भैरवी महामाया एक अपहृता बालिका थीं जिन्हें बलपूर्वक धूर्तों ने छल से मौखरी वंश के राजा ग्रहवर्मा की रानी बना दिया था। राजा ग्रहवर्मा से विवाह होने के पूर्व ही महामाया का वाग्दान हो चुका था। जिनसे 'महामाया' का वाग्दान हुआ था, वे और कोई नहीं—उपन्यास के अद्भुत व्यक्ति अथवा पात्र अघोर भैरव ही हैं। अपनी प्रियतमा (महामाया देवी) के अपहृत किये जाने के कारण अघोर भैरव ने सन्यास ले लिया था। अतः अपने सन्यस्थपति की अन्तःप्रेरणा के कारण महामाया ने राजा ग्रहवर्मा से मुक्ति की प्रार्थना कर सन्यास ग्रहण कर अपने वाग्दत्तापति को अघोर भैरव के रूप में पुनः प्राप्त कर लिया। यद्यपि अघोर भैरवी की शिक्षा और संगति से उन्होंने योग की शक्तियाँ प्राप्त कर ली थीं पर उनकी वक्तृता में सर्वत्र उनकी मानसिक व्यथा एवं अभावजन्य वैयक्तिक कुंठाओं का चित्रण हुआ है। देखने में जो वैसा नहीं दिखलाई पड़ता उसका एकमात्र कारण है उनके संयम की दृढ़ता जो विद्रोही भावों के रूप में परिवर्तित हो गया है। राजकीय अत्याचारों की शिकार महामाया हो चुकी थी, उसने उनके जीवन की भावी रंगीनियों को एक फूँक में ही धूमिल बना दिया था, जिसके राजशक्ति और सामंती वैभव के प्रति उनके मन में एक उपेक्षा का वातावरण स्थिर रूप धारण कर गया था जिसे वे अवसर आने पर इस प्रकार व्यक्त भी करती हैं :—"निरीह प्रजा की बेटियाँ उनकी नयनतारा नहीं हुआ करतीं ? क्या राजा और सेनापति की बेटियों का खो जाना ही संसार की सबसे बड़ी दुर्घटनायें हैं ? और आप सभासदो ! मेरी ओर देखो। मैं तुम्हारे देश की लाख लाख अपमानित, लांछित और अकारण दन्डित बेटियों में से एक हूँ। कौन नहीं जानता कि इस व्यवसाय के प्रधान आश्रय सामन्तों एवं राजाओं के अन्तःपुर हैं—अमृत पुत्रों, धर्म की रक्षा अनुनय-विनय से नहीं होती, शास्त्रवाक्यों को

संगति लगाने से नहीं होती, वह होती है, अपने को मिटा देने से। न्याय के लिए प्राण देना सीखो, सत्य के लिए प्राण देना सीखो, धर्म के लिए प्राण देना सीखो। मृत्यु का भय माया है।" इस प्रकार महामाया ने अपने सच्चे प्रेम के लिए दृढ़तापूर्वक राजा ग्रहवर्मा का तिरस्कार कर दिया, उन्होंने अपने को मिटाकर अपने वाग्दत्तापति को प्राप्त किया और नारीधर्म एवं सतीत्व-रक्षा के हेतु मायारूपी राजवैभव को तृणवत् फेंक दिया। सन्यासिनी 'महामाया' में उनके नारी सुलभ श्रेष्ठ गुणों का अभाव नहीं है। वे भट्टिनी को बाणभट्ट द्वारा गंगा में डूबती हुई बचा लेने के पश्चात् ही माता का सा प्यार प्रदान करती हैं। बज्रतीर्थ के अघोरघट के हाथों आहुति होते हुए बाणभट्ट और निपुणिका की प्राण रक्षा तथा उन दोनों का सम्मोहन के भयंकर प्रभाव से उद्धार कर और आगे चलकर दस्युओं से देश की रक्षा के लिये रात-दिन जनता में जागरण तथा सैन्य संघटन के लिये प्रेरित कर अपने परोपकारमय निःस्वार्थ जीवन का परिचय देती हैं। इसके अतिरिक्त महामाया के चरित्र-निर्माण से उपन्यासकार को कथा विस्तार के अनेक बिखरे सूत्रों को सम्बद्ध करने का उपयुक्त अवसर भी मिला है जिसके द्वारा वह अपने वर्णन की स्वाभाविकता की रक्षा कर सका है।

सुचरिता

निपुणिका की प्रियसखी सुचरिता की भी स्थिति कुछ महामाया जैसी ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि महामाया छल से किये हुये विवाहित पति का तिरस्कार कर अपने वास्तविक पति को सन्यासी के रूप में प्राप्त कर स्वयं सन्यासिनी हो जाती है और सुचरिता अपने खोये हुये वास्तविक पति की वियोगाग्नि में जल भुन कर जो बाद में सन्यासी हो गया था उसे पाकर पुनः गृहस्थी बसा लेती है। उसका निर्माण कर उपन्यासकार ने सच्चे प्रेम की शक्ति का परिचय पाठकों को कराया है। बाणभट्ट के शब्दों में सभी सहृदय पाठक कहेंगें "तुम सार्थक हो, देवि! तुम्हारा शरीर और मन सार्थक है, तुम्हारा ज्ञान और वाणी सार्थक है। सबसे बढ़कर तुम्हारा प्रेम सार्थक है। तुमको प्रणाम करके भव-सागर में निर्लक्ष्य बहने वाले अकर्म जीव भी सार्थक होंगे। तुम सतीत्व की मर्यादा हो, पातिव्रत्य की पराकाष्ठा हो, स्त्री धर्म की अलंकार हो।" जिस सामाजिक वातावरण में वह पलती रही हैं उसमें उसकी स्थिति निपुणिका से किसी माने में अच्छी नहीं रही। दोनों के ही सम्बन्ध में समाज की धारणायें अस्वस्थ रही हैं। इस प्रकार एक और नारी पात्र को चित्रित कर 'निपुणिका' की विशेषताओं को लेखक ने व्यक्तिनिष्ठ होने से बचा लिया है और उसके गुण एक नारी विशेष के न होकर नारी जाति के हो गये हैं जिससे वे अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध हुये हैं। मनुष्य के जो गुण छिपाये जायँ वे ही अवगुण हैं और अवगुणों को भी यदि प्रकट कर दिया जाय तो वे विशेष परिस्थिति में गुण बन जाते हैं। सुचरिता की स्वीकारोक्ति में हम इसकी यथार्थता का परिचय प्राप्त कर सकते हैं :—

"वस्तुत: कल्मष भी मनुष्य का अपना सत्य है। उसे स्वीकार करके ही वह सार्थक हो सकता है। दबाने से वह मनुष्य को नष्ट कर देता है। इस प्रकार पंक में फंसी सुचरिता एक ऐसी रमणी-मणि है जो अवसर आने पर अपनी आभा बिखेर कर रूढ़िग्रस्त समाज के आँखों के सामने से तिमिर लापता कर देती है। निश्चित ही ऐसी नारियों को अपने बीच पाकर समाज अपना दृष्टिकोण बदलेगा।

चारुस्मिता

चारुस्मिता स्थाणीश्वर की अनिन्द्य सुन्दरी राजनर्तकी है जिसका प्रसंग यद्यपि उपन्यास में बहुत थोड़ा ही आ पाया है, पर जितना आया है, वह अत्यन्त आकर्षक रूप में। उसे जो सम्मान तत्कालीन समाज एवं राजा ने दिया था, उससे हर्षकालीन भारत की कला-प्रियता का पता चलता है। बाणभट्ट जिस समय कुमार कृष्णवर्द्धन से विदा लेकर अपने दो साथियों के साथ उन्हीं के दिखाये हुये मार्ग से बढ़ा जा रहा था, रास्ते में एक मन्दिर के सामने उसने अनेक प्रकार के तोरण, कलश और बन्दनवार देखे जो राजनर्तकी चारुस्मिता के स्वागत समारोह में लगाये गये थे। जिज्ञासा करने पर मित्रों से उसे पता लगा कि सरस्वती मन्दिर में प्रतिवर्ष मदनोत्सव के अवसर पर यहाँ 'समाज' बैठा करता है। आज उसी उत्सव में नगर की लक्ष्मी, शोभा की खान, कला की स्रोतस्विनी, परम शील गुणन्विता गणिका चारुस्मिता का मयूर और पद्म नृत्य होने वाला है।" नागरिकों के मन में गणिका के प्रति इस प्रकार के आदर युक्त भाव स्पष्टत: प्रमाण हैं कि तत्कालीन समाज अबला को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखता था। सामन्ती समाज की यह प्रमुख विशेषता रही है, जिसके प्रमाण हमें पूर्ववर्ती क्षत्रिय संस्कृति में भी प्राप्त हो जाते हैं। मौर्यकाल में भी नर्तकियों को विशेष आदर की दृष्टि से देखा जाता था। उसका रथ (प्रधान राज-नर्तकी) जिन गलियों से होकर निकल जाता था, बड़े-बड़े सामन्तों के रथ अभिवादन के लिये रुक जाया करते थे। नगर की जनता पुष्प-मालाओं से उसका स्वागत करती थी। कला के सम्मान की यह परम्परा चारुस्मिता के सम्मान के रूप में किसी न किसी प्रकार हर्षकालीन भारत तक भी सुरक्षित थी, उपन्यासकार पाठकों को यही बतलाना चाहता है। इसके अतिरिक्त उपन्यासकार ने चारुस्मिता के सुसंस्कृत भावों एवं नारी-जनोचित कोमलता को भी स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न किया है। निपुणिका के मरने का कष्ट सुचरिता को भी हुआ और उसने उसके शव को पुष्प-स्तवन समर्पित कर शोक-संतप्त बाणभट्ट को आश्वस्त करते हुये कहा—"चलो आर्य! इस नश्वर जगत में यही शाश्वत सत्य है। निपुणिका स्त्री जाति का शृंगार थी, सतीत्व की मर्यादा थी, हमारी जैसी उन्मार्ग-गामिनी नारियों की मार्ग-दर्शिका थी।"

मदनश्री

यह भी एक अतीव सुन्दर नर्तकी है जो अभिनय काल में बाणभट्ट पर प्राणप्रण से न्योछावर जान पड़ती है। इसी के यहाँ नाटक मण्डली से भाग कर निपुणिका

अर्थात् निउनियाँ ने शरण ली थी। इस चरित्र की अवतारणा कर के लेखक ने तत्कालीन ललित कलाओं का वर्णन करना चाहा है क्योंकि चोरों द्वारा फेंकी गयी पोटलिका को निपुणिका के वस्त्रों में उलझाकर बिखरा दिया है जिसमें अलक्तक (महावर), मनःशिला, हरिताल, हिंगुल और राजावर्त का चूर्ण रखा हुआ था। स्पष्ट ही वह मदनश्री के चित्र-कर्म की सामग्री थी। इसके अतिरिक्त मदनश्री के चरित्र में और कोई द्रष्टव्य बात नहीं है।

इस प्रकार पुरुष नायक प्रधान उपन्यास होते हुये भी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में नारी चरित्रों को विशेष महत्व दिया गया है।

अन्य पात्र

बाणभट्ट के अतिरिक्त अन्य पुरुष पात्रों में कुमार-कृष्णवर्द्धन बड़े ही तेजस्वी, जागरूक बुद्धिवाले, कूटन निज्ञ किन्तु सहृदय और उदार राजपुरुष के रूप में चित्रित किये गये हैं। बाणभट्ट द्वारा अपमानित होने पर भी उन्हें अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा और मर्यादा का बराबर ध्यान रहता है और उस पर वे रुष्ट न होकर बल्कि उलटे उसकी कर्त्तव्य-परायणता, सभ्यता एवं साहस पर एक प्रकार से रीझ जाते हैं। अपने क्रोध का शमन कर वे बाण के आदर-सम्मान तथा 'चन्द्रदीधिति' अर्थात् भट्टिनी की सुरक्षा का उसके भाई के रूप में वचन देकर सदैव के लिये बाणभट्ट का हृदय जीत लेते हैं। वह कुमार कृष्णवर्द्धन का ही व्यक्तित्व था जिसने उस समय की संघर्षमयी आपतकालीन परिस्थितियों में सब कुछ यथोचित व्यवस्थित रखा। बाणभट्ट को हर्ष का दरबारी बनाना भी कुमार कृष्णवर्द्धन का ही कार्य था।

अघोरभैरव वाममार्गी कठोर अवधूत साधक होते हुये भी सहृदय और दयालु चित्रित किये गये हैं। उन्होंने बाणभट्ट पर दया की और उसकी आश्रिता दो नारियों की सुरक्षा में केवल सहयोग ही नहीं दिया बल्कि महामाया को भी सहायता करने की प्रेरणा दी। बाण को उन्होंने भविष्य की विपत्तियों का संकेत कर अपनी शक्ति का प्रसाद भी दिया।

भद्रेश्वर दुर्ग के स्वामी लोरिकदेव एक स्वाभिमानी, सहृदय, उदार, वीर, दृढ़प्रतिज्ञ, अतिथिसेवक तथा स्वामिभक्त के रूप में चित्रित किये गये हैं। सम्पूर्ण उपन्यास में लोरिकदेव का चरित्र अपने ढंग का एक अनोखा चरित्र है जिसमें इतनी स्वाभाविकता, सजीवता एवं उदात्तता है कि पाठक उसे कभी भूल ही नहीं सकते। अज्ञातरूप में भट्टिनी को सुरक्षा तथा ज्ञात रूप में उनके प्रति राजभक्ति एवं सम्मान प्रदर्शित करने में उन्होंने जिस उत्साह का परिचय दिया है, उससे उपर्युक्त कथन की सम्पुष्टि हो जाती है। इसके अतिरिक्त अन्य पात्रों का चित्रण सामान्य पर जीवन्त है।

'बाणभट्ट की आत्म कथा' में आये कवि धावक की चर्चा किये बिना सारा वर्णन अधूरा ही रह जायगा क्योंकि उपन्यासकार ने 'धावक' के रूप में एक ऐसे सदा बहार चरित्र का निर्माण किया है जो देशकाल की सीमा का उल्लंघन करके प्रत्येक युग में

दिखलाई दे जाते हैं। इस पात्र का निर्माण करते समय अवश्य ही कोई न कोई ऐसा जीवन्त चोला लेखक के सम्पर्क में था जिसे उसने केन्द्र अथवा आधार माना है अन्यथा केवल कल्पना के सहारे ऐसे अत्यन्त स्वाभाविक और सजीव चरित्र का निर्माण करना सम्भव नहीं। यदि धावक उपन्यासकार की कल्पना की उपज है तो उसकी अद्भुत कल्पना-शक्ति की दाद देनी ही पड़ेगी। बाणभट्ट से सर्वप्रथम धावक का परिचय महाराज हर्षवर्द्धन के सभा-भवन में हुआ था। जब कि वह कुमार कृष्णवर्द्धन के निमंत्रण पर पहली बार राजदरबार में उपस्थित हुआ था। कवि धावक पर महाराज हर्षवर्द्धन की बिशेष कृपा रहती थी। सम्भवतः इस कविपात्र के निर्माण की प्रेरणा उपन्यासकार को उसी कवि से मिली है जिसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उसने महाराज हर्षवर्द्धन के लिखे नाटकों का संशोधन किया था अथवा उनमें आये पद्यांश इसी कवि के लिखे हैं। प्रथम भेंट में ही धावक के विनोदी स्वभाव ने बाणभट्ट को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। राह चलते आत्मीयता प्रकट कर देना और मित्र बना लेना तो धावक का स्वभाव ही है क्योंकि उसका मस्ताना स्वभाव ही ऐसा है कि उसका अपना कोई शत्रु हो ही नहीं सकता। परिचय के प्रथम दिन ही धावक ने बाणभट्ट के जिज्ञासा करने पर कि मुझे निमंत्रण क्यों मिलेगा, जिस अनौपचारिक भाषा में उत्तर दिया 'जल्दी ही समझ जाओगे, गुरु!' और कंधा हिलाकर बिना अनुमति के ही चल पड़ा, जैसे प्रसंग से उसकी पूर्ण मस्ती तो प्रकट ही होती है साथ ही साथ वह 'बनारसी गुरू' की भी याद दिलाता है जिसका आज भी अभाव काशी में नहीं है।

बाणभट्ट से जिस समय धावक की दूसरी बार भेंट हुई "उस समय वह चटुल जीवन्त परिहास का रूप बना हुआ था। चंदन के अंगराग से उपलिप्त उसके वक्ष-स्थल पर मालतीदाम सुशोभित हो रहा था और सँवारे हुये धूपित केशों के पिछले भाग में दुर्लभ जाती कुसुमों का गुच्छ बड़ा ही अभिराम दिखाई दे रहा था।" इस प्रकार इस वर्णन से धावक के मनमौजी स्वभाव का तो परिचय मिलता ही है साथ ही साथ हर्षकालीन भारत के शृंगारिक कवियों की वेश-भूषा का भी परिचय प्राप्त हो गया है। बाणभट्ट स्वयं धावक के सम्बन्ध में कहता है—कितनी सहज आनन्द-धारा इस कवि के सर्वांग को घेरकर उच्छ्वासित हो रही है—दूसरों को इससे सुख पहुंचे या दुःख, वह अपना रस उसी प्रकार "निकाल लेगा जिस प्रकार दलित इक्षु-दण्ड से किसान निकाल लेता है।" पर ऐसा नहीं कि उसमें परदुःखानुभूति के भाव हैं ही नहीं। निपुणिका की मृत्यु ने धावक के कवि को विह्वल कर दिया, वह स्तब्ध रह गया क्योंकि उसने उसकी मृत्यु के कारण को उसी क्षण समझ लिया जिसे बाणभट्ट ने जीवन भर नहीं समझा। दुःख की गहन अनुभूति के कारण प्रथम बार उस पर विषाद का धूम छा गया और जिस जिह्वा से श्रावण के मेघ के समान निरन्तर वाग्धारा झड़ती रहती थी, उसे जैसे काठ मार गया। उसकी दशा विचित्र हो गयी और उसकी आँखों से रुद्ध अश्रुओं का निर्झर फूट पड़ा।

९ | चारु चन्द्रलेख

हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का ऐतिहासिक परिवेश में लिखा गया यह उपन्यास उनके प्रथम उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की शैली पर ही लिखा गया है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की ही भाँति इस उपन्यास के आरम्भ में ही 'कथामुख' की व्यवस्था करके व्योमकेश शास्त्री अथवा हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उपन्यास के मूल लेखक के सम्बन्ध में पाठकों को भ्रम में डाल दिया है। आत्मकथात्मक शैली में लिखे गये इस उपन्यास की सम्पूर्ण कथा राजा सातवाहन द्वारा कही गई है। कथामुख के अनुसार यह कथा ब्रह्मपुत्र के उतार पर चन्द्रद्वीप नामक उपत्यका में चन्द्रगुहा के पिछले हिस्से में उट्टंकित थी जिसका उद्धार अघोरनाथ ने किया। इसमें आये पात्रों की सहायता से राजा सातवाहन ही विविध कथाओं को सुनाता अथवा लिखता है। 'सीदी मौला' नामक पात्र तत्कालीन देश के बाहर घटने वाली घटनाओं का आँखों देखा हाल सातवाहन को समय-समय पर सुनाता है। रानी चन्द्रलेखा ने अपना जीवन-वृत्त, जितना उन्होंने अपनी माता से सुन रखा था अवसर आने पर सातवाहन से कहा। जो पूर्व की घटनाएँ अप्रकट थीं उन्हें विद्याधरभट्ट ने कह सुनाया है। बोधाप्रधान, रानी के लेख से कुछ सूचनाएँ प्राप्त कर करनाटकी की कथा कहते हैं तथा बीच की टूटी हुई कड़ियों को पूरा करने का कार्य अघोर वज्र ने कर दिया है। विष्णुप्रिया, भंमल, जल्हण तथा जगनिक भी कथा को पूर्णता प्रदान करने में अपना योगदान देते हैं।

इस उपन्यास में तत्कालीन समाज की विश्रृंखलता, अन्धविश्वास, पारस्परिक कलह, देश की विकट राजनैतिक परिस्थिति, मुस्लिम आक्रमण एवं शासन के कारण उत्पन्न कुण्ठा और हीन-भावना, सिद्धों और नाथों के बढ़ते हुए प्रभाव, स्त्रियों के प्रति अस्वस्थ दृष्टि, आचार-विचार तथा राष्ट्रीय एकता के अभाव आदि प्रसंगों पर सम्यक् दृष्टिपात किया गया है। देश-काल की सीमा का इतना अधिक विस्तार इस उपन्यास में समाहित किया गया है कि कथानक का दुर्बल हो जाना स्वाभाविक था। कामरूप और ब्रह्मपुत्र के उतार से आरम्भ होकर कथा का विस्तार उज्जयिनी और जालन्धर के सिद्धपीठों तक होता गया है। इसके अतिरिक्त सीदी मौला के प्रवेश ने तिब्बत, मंगोल देश, कन्दहार एवं बलख तक की तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक घटनाओं को उपन्यास में समेट लिया है। एक स्थान पर बैठकर कथा को इस सीमा तक ढील देना और उसके निर्वाह का संकल्प पूरा कर लेना सिद्धों का ही काम है, पर उपन्यासकार की जादुई शैली ने इस चुनौती को स्वीकार कर लिया है।

चन्द्रलेखा का तपस्वी की खोज में निकलना, मार्ग में सातवाहन से उसकी भेंट हो जाना, और उसे पतिरूप में वरण करना, नागनाथ द्वारा कोटिवेधी रस के लिए बत्तीस लक्षणों युक्त चन्द्रलेखा का आह्वान करना, चन्द्रलेखा का इस कार्य के लिए विविध परिस्थितियों से गुजरना, रससिद्धि के पश्चात् नागनाथ की हत्या एवं अन्य प्रभावों के अन्दर उसका विक्षिप्त होना, विष्णुप्रिया के अप्रतिम प्रयत्न से सामान्य अवस्था को प्राप्त कर पुनः सातवाहन को पतिरूप में स्वीकार करना और गृहकलह आदि कथानक के प्रमुख अंश माने जा सकते हैं। चन्द्रलेखा का सातवाहन का प्रथम दर्शन में ही वरण एक पूर्वनियोजित घटना ज्ञात होती है। इसको विश्वसनीय स्वरूप प्रदान करने में लेखक ने अपनी कलात्मकता का परिचय दिया है। किसी भद्र कन्या का पूर्वपरिचय के अभाव में यह कहना कि 'मुझे अपनी रानी बना लो पर तपस्वी को खोज दो' प्रायः अविश्वसनीय ही ज्ञात होता है। उसके वंशानुक्रम, पालन-पोषण एवं जीवन से सम्बन्धित जिस स्वरूप को द्विवेदीजी ने प्रस्तुत किया है उसके परिपार्श्व में प्रायः यह अनौचित्य ही औचित्य में परिणत हो जाता है। 'कथामुख' में ही कथानक का ऐसा सूत्र प्रदान कर दिया गया है कि आगे आने वाली घटनाओं को उसके आधार पर समझने में सरलता होती है। यहाँ 'चन्द्रलेखा' को लेखक ने सिद्धयोगिनी एवं सर्वलक्षणसम्पन्न स्त्री के रूप में स्वीकृति प्रदान की है। एक गृहस्थ परिवार में पलकर वह रानी बनती है, पर रानी बनने के कई सहायक तत्व पूर्व से ही उसमें वर्तमान हैं जिनका सम्बन्ध भविष्यवाणी से है। पहली भविष्यवाणी काशी के ज्योतिषी की है, दूसरी नागनाथ की और तीसरी भविष्यवाणी सातवाहन के स्वप्न में रुक्षवेश तापस ने की है। उसके शब्द हैं 'निद्रा में समय न गँवाओ सीधे पश्चिम की ओर घोड़ा दौड़ाओ सीदी मौला नहीं मिलेगा, सीदी देवी मिलेगी·······सिद्धि तुम्हारी प्रतीक्षा कररही है।' सिद्धि का अर्थ न समझने पर सातवाहन पूछते हैं 'बाबा बताओ मेरी सिद्धि क्या है?' उसे उत्तर मिला 'आत्मदान'। जहाँ तुम्हारा अन्तरतम अकारण सहस्र धाराओं में क्षरित होकर गल जाना चाहे वही तुम्हारी सिद्धि है।' मृगशावक का पीछा करते जब वे दुष्यंत की भाँति आगे बढ़ते हैं तो उन्हें शकुन्तला की भाँति मृग की रक्षा करती हुई चन्द्रलेखा मिलती है। प्रथम दर्शन में ही राजा अभिभूत हो जाता है, सौन्दर्य के अप्रतिम स्वरूप से उनका हृदय क्षरित होकर गल जाता है। चन्द्रलेखा को सातवाहन और सातवाहन को चन्द्रलेखा मिलती है जिसमें उनके आत्मदान का रहस्य छिपा हुआ है।

कथानक में चन्द्रलेखा की पूरक 'मैना' है जो अपने प्रथम चित्रण में मैनसिंह के रूप में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत की गई है। 'चन्द्रलेखा' अगर पुत्र-लाभ करने की अभिलाषा से गये हुए दम्पति का काशी में आत्मलाभ मानी जा सकती है तो 'मैना' डेढ़ वर्ष की अवस्था में देवदासी के रूप में प्रदत्त वह बालिका, जिसके लिए नाटी

माँ मचल पड़ती हैं। चन्द्रलेखा का पालन-पोषण गृहस्थ परिवार में हुआ है तो मैना का जीवन के कलुषित व्यवसाय से मुक्ति की खोज में सन्यासी हुई 'नारी' के आध्यात्मिक वातावरण में। एक में अगर जन-जन को उद्बुद्ध करके देशसेवा में संलग्न करने एवं पारद को सिद्ध करके मानवता को जरामरण से मुक्त करने की अदम्य अभिलाषा है तो दूसरी में त्याग, शूरवीरता; रणकौशल एवं निःस्वार्थ प्रेम की वह मानवोचित जिज्ञासा जो अपने आदर्श में शूरवीरों का अलंकार बन सकती है। इसीलिए एक को लेखक ने सिद्ध योगिनो की उपाधि से अभिहित किया है तो दूसरी को, भगवती उग्रतारा अथवा चित्त की क्रियाशक्ति से। इस क्रियाशक्ति के अभाव में 'सिद्धि' की क्या दुर्दशा हो सकती है, वह किस भाँति निष्क्रिय हो जाती है, इसको हम विक्षिप्त चन्द्रलेखा एवं मैना के वार्तालाप से स्पष्ट कर सकते हैं।

दूसरा पात्रों का समुदाय सीदो मौला, नागनाथ, अन्य योगियों एवं भक्तों से सम्बद्ध है। 'सीदी' का अर्थ सिद्ध होता है। 'सीदो मौला' का अर्थ हुआ 'सिद्ध मौला' या सिद्ध योगी। सीदी एक दृढ़प्रतिज्ञ साधक हैं, सिद्धियाँ उनकी चेरी हैं, वे आजादमस्त हैं, बेफिक्र हैं। मौज में आकर अपने कुछ अनुभवों को व्यक्त कर देते हैं। नागनाथ एवं अन्य सिद्ध सम्प्रदाय के लोग सिद्धियों के चक्कर में पड़े रहते हैं, विविध तंत्र-मंत्रों का सहारा लेकर उन सिद्धियों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, कुमारिकापूजन से कोटिबेधी रस के सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, पर ये असिद्ध ही रहते हैं। तीसरा दल सहज भाव से भक्ति करने वाली स्त्रियों का है। इनमें 'नाटी माता' एवं विष्णुप्रिया प्रमुख हैं। विष्णुप्रिया भी प्रायः सिद्ध हैं। जहाँ नागनाथ असफल होते हैं वहीं विष्णुप्रिया सफल होती हैं।

धीर शर्मा और विद्याधरजी विद्वान एवं कूटनीतिज्ञ हैं, इनके अतिरिक्त बघेला और अलहना हैं जो युद्धवीर, तेजस्वी और आत्म-बलिदान के प्रतीक हैं। सम्पूर्ण कथानक इन्हीं पात्रों का आधार लेकर क्रियाशील होता है। इसमें विदूषक का सर्वथा अभाव है। सर्वत्र गाम्भीर्य है, दो-एक स्थलों को छोड़कर हास्य का सर्वथा अभाव है। यथास्थान करुण, शृंगार, वीर एवं वीभत्स की योजना की गई है। खलनायकों के रूप में विदेशी अत्याचारी एवं लुण्डक अपना पार्ट अदा करते हैं। संघर्ष को प्रमुख पृष्ठभूमि धर्म और जाति नहीं अपितु इनसे भी वृहत्तर देश-सेवा, त्याग एवं बलिदान है। लेखक के सभी प्रयत्न उद्बोधन एवं चेतना के आधार पर इन संघर्षों की परिसमाप्ति एवं विदेशी आक्रमणों से मुक्ति पाने के लिए किये जान पड़ते हैं।

उपसंहार में कथानक के विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए विद्वान लेखक ने लिखा है, "अघोरनाथ के लिए यह असम्भव ही जान पड़ता है कि इसमें से तथ्य और कल्पना को अलग करके दिखा दें। इस दृष्टि से कथा में एक जीवन्त ऐक्य है।" यथार्थ में कथानक का अंश क्षीण होते हुए भी लेखक ने अपनी वर्णन-पटुता, सूक्ष्म

निरीक्षण, पांडित्यपूर्ण अध्ययन तथा ऐतिहासिक ज्ञान के आधार पर उसे ऐसा स्वरूप प्रदान किया है कि उपन्यास आद्योपान्त अपनी एकता को बनाये रखता है। उपन्यास का आरम्भ लेखक ने सातवाहन के द्वारा सोदीमौला की खोज से किया है। यहीं उसकी दूरदर्शिता से नायक को 'सोदी' नहीं अपितु 'सिद्धि' की हस्तामलकवत् उपलब्धि होती है। यह 'सिद्धि' अपने ही मुखारविन्दों से अपने विषय में चर्चा एवं परिहास के द्वारा कथासूत्र को आगे बढ़ाती है। 'मुझे अपनी रानी बनाओ' को सुनते ही सातवाहन 'सिद्धि' का आह्वान तो करता है, पर समुचित नियंत्रण एवं पथ-प्रदर्शन के अभाव में वही 'सिद्धि' उसके लिए समस्या बन जाती है।

शक्ति की उपलब्धि के पश्चात् शक्ति को बनाये रखने की दूरदर्शिता एवं क्षमता की अत्यन्त आवश्यकता होती है। साधक को 'सिद्धि' के वशीभूत नहीं रहना पड़ता अपितु सिद्धि को साधक का नियंत्रित अनुगामी बनना पड़ता है। अगर साधक इसमें किसी भी प्रकार का प्रमाद दिखाता है और उसके वशीभूत होता है, तो वह स्वतंत्र होकर उसकी इच्छा के विरुद्ध भी अनेक कार्य करती रहती है, इस प्रकार साधक उसके हाथ का खिलौना बन जाता है। 'सातवाहन' चन्द्रलेखा के हाथ का खिलौना है, उसकी संशयालु और निर्बल चेतना उसके वशीभूत है, वह कठपुतली जैसे उसी के हाथों में नाचता है, उसी के लिए उसाँसें भरता है, उससे अनुनय-विनय करता है, पर उसे नियन्त्रित नहीं कर पाता। उसके मोह में अवश्य है। इसकी आशंका चन्द्रलेखा ने व्यक्त की है, "सोये-सोये मैंने स्वप्न देखा कि मैं एक छोटी सी चिड़िया हूँ जो एक सोने के पिंजड़े में बन्द हूँ। न जाने कितने लोग पिंजड़ा तोड़कर मुझे ले आने आये। अन्त में एक घुड़सवार आया और पिंजड़ा ही उठाकर चलता बना। मैंने घुड़सवार से कहा कि "तुम पिंजड़ा क्यों ले जाते हो, इसे तोड़कर मुझे निकाल लो, मैं तुम्हारे साथ चलूँगी।" परन्तु घुड़सवार ने कहा—मुझे पिंजड़ा भी चाहिए, चिड़िया भी चाहिए। मैंने कहा तुम पिंजड़े के सोने को अपने काम में लाओ और मुझे पूर्ण स्वतंत्र विचरण करने के लिए छोड़ दो। जब चाहोगे मैं तुम्हारे पास आ जाऊँगी।...... मैंने कहा—घुड़सवार, तुम क्या मुझे मेरे पिंजड़े से नहीं छुड़ा सकते"........"मेरे वश की बात नहीं है, तुम्हारा पिंजड़ा टूटने लायक नहीं है। "घुड़सवार दया करो", मैं तुम्हारी, पिंजड़ा भी तुम्हारा।"

वह पुनः कहती है :—

"और इसीलिए महाराज, तुमसे अनुरोध करती हूँ, मुझे बहुत छूट मत देना.... ....देखो यह तुम्हारी रानी है और तुम्हारी चेरी होकर ही धन्य हो सकती है। मैं पति-रूप में वरण कर रही हूँ इस बात को तुम कभी भूल मत जाना।"

यहाँ 'चिड़िया' और 'पिंजड़ा' सामान्य बुद्धि को चकित करनेवाले हैं। यहाँ चिड़िया का मतलब आत्मा, पिंजड़े का मतलब देह, अथवा चिड़िया का अर्थ पिण्ड-

मानव एवं पिंजड़े का तात्पर्य उसको सीमित करनेवाले अन्य उपादान से लिया जा सकता है।

अगर इन अर्थों को ग्रहण किया जाय तो इनमें से किसी एक को वे ग्रहण नहीं करना चाहते अपितु उनका व्यामोह द्वन्द्वात्मक है। इसके साथ ही वे 'तुम्हारी चेरी होकर ही धन्य हो सकती हैं' का ध्यान भी नहीं रखते। वे उसके गुलाम हो जाते हैं।

इसी सन्दर्भ में द्विवेदीजीने आत्मदान के द्वारा "एकमेक मिलि ह्वै रहैं" की स्थिति की ओर भी संकेत किया है। यथा—

"रानी ने मुझे आलिंगनपाश में बाँध लिया, ऐसा जान पड़ा कि मुझमें और कुछ नहीं है, केवल एक अखण्ड अनुभूति है। मैं नहीं, मेरा शरीर नहीं, मेरी रानी नहीं, एक अखण्ड अविचल अनुभूति।" यथार्थ में भगवती विष्णु-प्रिया द्वारा 'तेजो-गरिमा के एकमएक हो जाने एवं 'अलौकिक आनन्द' की उपलब्धि का साधन बनने का सूत्र इसमें प्रस्तुत है जिसके आधार पर उसने 'लीला निकेतन' का अर्थ स्पष्ट करके सातवाहन एवं चन्द्रलेखा को दम्पति जीवन व्यतीत करने को उद्यत किया था। पर आरम्भिक प्रभाव ही सातवाहन की निर्बलता एवं तेजहीनता का प्रमुख कारण बनता है।

इसके पश्चात् कथासूत्र को आगे बढ़ानेवाले 'सीदी मौला' हैं। द्विवेदीजी ने उन्हें सिद्ध मौला के रूप में प्रस्तुत किया है। वे मंगोलों की परम्परा, रहन-सहन, युद्ध के पूर्व अन्धविश्वासों की पूजा तथा इलिमश खान को समाधि से ज्वाला प्रकट करने का वृत्तान्त प्रस्तुत करते हैं। गुप्तचर रूप में उनके पकड़े जाने का इतिहास भी पर्याप्त मनोरंजक है। इसके बादवाले अध्याय में वे 'जोई पिण्डे सोई ब्रह्माण्डे' की भावना प्रतिपादित करके भौतिक एवं दैवी शक्तियों के सामञ्जस्य पर जोर देते हैं। उनका विचार है कि "जब मनुष्य अपने अन्तर्यामी देवता के आधार पर शक्ति के नवीन स्रोतों का रहस्य ढूँढ़ निकालेगा, तब तमोगुण जोर मारकर उसकी विवेक-बुद्धि पर आक्रमण करेगा। एक व्यक्ति के तमोगुण के उद्रेक से उतना अनर्थ नहीं होता जितना सहस्र व्यक्तियों के मिलित तमोगुण से होता है।" इसके पश्चात् ये बौद्ध दर्शन के पेचीदे सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते हैं।

राजधानी में लौटते ही सातवाहन देखता है कि नागनाथ वापस आ गये हैं। वे जाते समय 'रानी' को महती सिद्धि के रूप में उनसे दिल के कलमष को त्यागकर ग्रहण करने की बात कह जाते हैं। इसी समय विद्याधर मिश्र अन्तःपुर में जाते हैं और देश की विकट स्थिति की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करते हैं, वे परमर्दिदेव और जयतिचन्द्र के सम्मिलित प्रताप को मूर्तिमती प्रतिमा 'चन्द्रलेखा' के जन्म का वृत्तान्त सुनाते हैं और उसको उद्बोधित करते हुए कहते हैं कि 'शस्त्रबल से हारना हारना नहीं है, आत्मबल से हारना ही वास्तविक पराजय है। बेटी, सारा का सारा

देश विदेशियों से आक्रान्त हो जाये, मुझे रंचमात्र भी चिन्ता नहीं, यदि प्रजा में आत्मविश्वास बना रहे। अपने गौरवमय इतिहास की प्रेरणा जाग्रत रहे।...... महान संकल्प ही महान फल का जनक है।' इसी के परिणामस्वरूप सातवाहन और चन्द्रलेखा जन-उद्बोधन का कार्य करने लगते हैं। इसी स्थान पर लेखक सातवाहन द्वारा चन्द्रलेखा को समझाने में की गई त्रुटि का भी उन्हीं के मुख से संकेत देता है—

"क्षमा करो देवि! मेरे लिए तुम्हारा यह रूप और लावण्य ही सर्वस्व है। उसको पाकर ही अपने को चरितार्थ अनुभव कर रहा हूँ। इसके भीतर जो तेजोमय चिन्मय तत्व है उसे पा जाऊँ तो शक्तिशाली हो जाऊँगा। लेकिन उसके प्रति मेरा कोई लोभ नहीं है।"

वास्तव में यही सातवाहन की सबसे बड़ी त्रुटि है जिसका मैंने संकेत किया है। इसके पश्चात् 'गधैयाताल' के वृत्तान्त के रूप में लेखक ने कथा को आगे बढ़ाया है। इस प्रसंग में दिया हुआ ऐतिहासिक वृत्तान्त उनकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का परिचायक है। इसके पश्चात् नागनाथ 'रानी' को रसमर्दन के लिए ले जाते हैं। सातवाहन अपने किये पर अकेले पश्चात्ताप करते हैं। एक ओर लेखक अन्तर्युद्ध का वर्णन करना आरम्भ करता है तो दूसरी ओर बाह्य युद्ध का। अब उपन्यास की स्रोतस्विनी इन्हीं दो उपकूलों के बीच प्रवाहित होने लगती है। 'रसमर्दन' में विविध विघ्नों एवं उसकी क्रियाओं की चर्चा महत्वपूर्ण है। इसका विवेरण सातवाहन को रानी के द्वारा भेजे हुए पत्र से प्राप्त होता है। 'मैनसिंह' का अचानक समावेश भी कम कौतूहलपूर्ण नहीं है। पत्र में उल्लिखित तंत्र प्रयोगों में 'कुमारी साधना' का भी उल्लेख आया है। इस संदर्भ में तापसबाला के ये शब्द, "तुम जिस मोह के आकर्षण में खिंची जा रही हो वह स्त्री को सबसे बड़ी विफलता है, परन्तु स्त्री अन्धभाव से उधर ही खिचती है' चन्द्रलेखा के प्रमाद पर कठोर आघात करते हैं और उसे स्थिति का सही ज्ञान करा देते हैं। अमोघवज्र चन्द्रलेखा को कुछ विक्षिप्त अवस्था में विष्णुप्रिया के यहाँ छोड़ जाते हैं। इधर सातवाहन के अन्तर्द्वंद्व भी बढ़ते हैं और मैनसिंह उन्हें लेकर नारी मां के आश्रम पर आते हैं। विष्णुप्रिया के इन शब्दों में 'नागनाथ भूल ही गये थे कि बत्तीस लक्षणों से सम्पन्न सधवा सती केवल सीमा का विस्फूर्जित विलास है।' सारे कोटिबेधी रस की त्रुटि निहित है। इस अवस्था में सातवाहन का मस्तिष्क रानी के लिए व्याकुल है, तो रानी का मस्तिष्क सातवाहन के लिए। तापसबाला के शब्दों ने उसके मस्तिष्क पर परिव्याप्त कुहरे को समाप्त करके एक स्त्री के समुचित ज्ञान का आदर्श उसके समक्ष प्रस्तुत किया ही था, इधर 'मैना' की निरन्तर प्रवाहित गूढ़ वाग्धारा से वह और भी धुल गया। चन्द्रलेखा विलख उठती है, "मैं सिद्ध योगिनी नहीं, महा अधम नारी हूँ। मैंने हीरा पाया था, उसे जलती रेत में फेंक दिया।........मैना तू अच्छी लड़की है, चन्द्रलेखा ने महाराज को केवल धोखा

दिया था। वह उनके किसी काम नहीं आ सकी। हाय बहन, क्या महाराज उसे क्षमा करेंगे ?" इस परिस्थिति के अन्दर चन्द्रलेखा और सातवाहन का मिलन होता है। परन्तु इस मिलन में भी अभी अपूर्णता है। चन्द्रलेखा अपने को सिद्ध योगिनी के प्राचीर में बन्द पाकर सातवाहन को अपने से विमुख होने का आग्रह करती है, पर सातवाहन का विश्वास है कि उसके साथ रहने पर अमंगल हतप्रभ रहता है और बिछुड़ जाने पर प्रचण्ड हो जाता है। इसके पश्चात् वह उससे पत्र की चर्चा करते हुए स्पष्टीकरण की माँग करता है और पूछता है कि उसमें क्या कुछ ऐसा था जो अक्षरों की सीमा के अन्दर नहीं आ सका ? इस उत्तर में विविध सैद्धान्तिक पक्षों पर प्रकाश डालती हुई वह अमोघ वज्र का निम्नांकित वाक्य दुहराती है "तुम राजा के लिए व्याकुल हो, तुम अपनी सिद्धियों को सम्मान नहीं दे रही हो और तुम्हारे भीतर श्रद्धा और विश्वास काम कर रहा है।" इस वाक्य से वह अपने पति में अपनी आस्था प्रकट कर देती है। अब सिद्धिरस से तो वह वंचित ही है, प्रेमरस की अतृप्त चाह के मार्ग में भी बाधाएँ हैं। इस बात का आभास पाते ही सातवाहन अपने को निःशेष भाव से समर्पित करके उसके अन्तर्द्वन्द्वों को समाप्त करता है। इसी बीच युद्ध आरम्भ हो जाता है और उसमें चन्द्रलेखा घायल हो जाती है। दिनभर के युद्ध के पश्चात् किसी तरह आततायी पराजित होते हैं। मैना के दिल्ली पर आक्रमण करने के आह्वान से सभी स्तब्ध एवं उद्बुद्ध हैं। इसी बीच सीदी मौला पुनः आ टपकते हैं। वे धीर शर्मा की चर्चा के द्वारा कुछ समय के लिए वातावरण को हास्य से मुखरित कर देते हैं। अचानक मैन-सिंह (मैना) के उद्बोधन से सब कुछ समाप्त हो जाता है और घुण्डकों से युद्ध आरंभ होता है। इसी बीच 'नाटी माता' के संन्यासिनी होने की कथा पाठकों के समक्ष आती है और बोधा मैन सिंह अर्थात् मैना की जीवनी की चर्चा करता है। अब चन्द्रलेखा और सातवाहन विष्णुप्रिया के आश्रम पर दिखाये गये हैं। उनके उपदेश से दोनों के दिल का कलमष धुलता है, इसी बीच मैना की बेहोशी से घटना में परिवर्तन होता है। अचानक घुण्डकों के आक्रमण से सब पुनः सावधान हो जाते हैं। यहाँ पर द्विवेदीजी ने अपने रण-कौशल सम्बन्धी ज्ञान का भी परिचय दिया है। भगवती विष्णुप्रिया के प्रभाव का भी विचित्र ढंग से वर्णन किया गया है। महाराज भी घायल होने के कारण अलहना की मृत्यु को नहीं देख पाते और निःसंज्ञ हो जाते हैं। अब इन्हें आश्रम पर छोड़कर रानी चन्द्रलेखा और विद्याधरजी पुनः जन-उद्बोधन में लग जाते हैं। सातवाहन के पूछने पर भी उन्हें 'रानी' का संदेश नहीं दिया जाता। वे घबरा उठते हैं। इस समय 'मैना' की सेवा और नाटी माँ के कीर्तनों एवं भजनों का अच्छा उल्लेख है। भम्भल नट भी अपने वंश की प्रशस्ति करता है। विनाशलीला को देखकर भगवती विष्णुप्रिया अपनी योगाग्नि में अपने को जला देती हैं। कुछ समय पश्चात् सातवाहन अमोघ वज्र के यहाँ जाते हैं। अमोघ वज्र

उन्हें प्रस्तुत देखकर कहते हैं कि "देखो महाराज, पश्चिम की ओर से जो महान् इस्लाम आ रहा है, उसे ठीक समझो। उसके एक हाथ में अमृत का भाण्ड है। दूसरे में नग्न कृपाण....मैं हतबुद्धि हूँ, मुझे कुछ सूझ नहीं रहा है। मैं शस्त्रयुद्ध की व्यर्थता समझ गया हूँ, क्षणिक जय-पराजय की कुहेलिका और रंगीन मिथ्याचारिता का रहस्य जान गया हूँ। मैं भविष्य देखकर चिन्तित हूँ महाराज;.......सब बदल जायगा.......इस देश की जनता अपने पूर्वजों के नाम बदल देगी....उनसे बचाओ।" इस उद्बोधन में वे बेकार की सिद्धियों के पीछे पड़े हुए योगियों को फटकारते हैं, इसे निठल्लापन और देशद्रोहिता सिद्ध करते हैं। इसके पश्चात् अशोक चल्ल के शंकालु मस्तिष्क, अन्धविश्वासपरायणता का वर्णन है। शिवाबलि एवं उग्रतारा के फेर में पड़कर युद्ध से विरत होने की चर्चा है। बोधा उन्हें लेकर नीलतारा के मन्दिर में गया है। वहाँ के पुजारी की फटकार से वे सहायता के लिए तत्पर होते हैं। युद्ध में सफलता पाने के मिथ्या उद्देश्य से रानी के छिपाने की बात भी सामने आती है। मुसलमानों के अत्याचार के भी चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। इसी स्थान पर लेखक ने जल्हण का प्रवेश कराया है। करनाटी के नृत्य का वर्णन भी दिया गया है, मैना की सातवाहन के प्रति उत्कट आसक्ति भी उसी के मुख से प्रस्तुत करायी गयी है। अक्षोभ्य भैरव आज की परिस्थिति में राज्यशाही के दोषों की चर्चा करते हैं। इसके पश्चात् विद्याधर भट्ट की युद्धतत्परता एवं चन्द्रलेखा का योगियों की सेना एकत्रित करने की घटना से महाराज अवगत होते हैं। 'मैना' और अक्षोभ्य भैरव मिलकर भद्रकाली के अपहर्ता की हत्या कर देते हैं। मैना अपने को दोषी पाकर आत्महत्या करती है। उसके घायल शरीर को उठाकर तीनों जंगल में भाग जाते हैं। यहीं उपन्यास का अन्त होता हैं।

इसपर दृष्टिपात करने से स्पष्टरूपेण ज्ञात होता है कि इसकी सीमा में लेखक की विलक्षण प्रतिभा ने इतने अधिक तत्वों एवं घटनाओं का समावेश किया है और उन्हें इस प्रकार नियोजित किया है कि पाठक मंत्रमुग्ध सा आदि से अन्त तक इनके क्रिया-कलापों को देखता रह जाता है और उसका कुतूहल नवीन जानकारी के लिए निरन्तर बढ़ता जाता है। घटनाएँ आवश्यकतानुसार अंशों में विभक्त करके एक ही स्थान पर नहीं अपितु खण्डरूप में कई स्थानों पर प्रस्तुत की गई हैं। जहाँ 'विश्वास' की कमी की सम्भावना है वहाँ लेखक अपने भाष्य द्वारा उन्हें सरस एवं सुग्राह्य बनाने में सक्षम है। कहीं-कहीं अनावश्यक विस्तार एवं दार्शनिक विवेचनों से कुछ ऊब अवश्य होती है। सीदी मौला के आख्यान प्रायः अज्ञात तथ्यों के विवेचन के साथ ही देश के बाहर के सांस्कृतिक स्वरूप का भी परिचय देते हैं। इस प्रकार उपन्यास का कथानक अपनी विविधता में भी एकता की रक्षा कर सकने में समर्थ है।

इस उपन्यास में ऐतिहासिक तत्त्वों एवं घटनाओं का भी समावेश है। इस दृष्टि से भी इसका महत्व है। लेखक ने उपसंहार में इसकी चर्चा करते हुए लिखा है कि "ऐतिहासिक दृष्टि से कथा में असंगति नहीं है। ऐसा लगता है कि किसी ने सोच-विचार कर तथ्यों को इनमें पिरोया है। फिर भी उज्जयिनी के राजा सातवाहन का कोई प्रमाण नही है।" द्विवेदीजी का यह भाष्य समीचीन है। सातबाहन वंश का नाम तो अवश्य है, 'सातवाहन' राजा का नाम नहीं मिलता। इसीलिए बड़ी पटुता के साथ उपन्यास के आरम्भ में ही चन्द्रलेखा के द्वारा 'सातवाहन' शब्द की व्याख्या करा दी गई है। 'जल्हण', 'कर्नाटकी', चन्द्रलेखा, गोरखनाथ, सीदी मौला आदि का नाम इतिहास में किसी न किसी रूप में आता है, पर मैना, बोधा आदि काल्पनिक हैं। लेखक ने उस समय की सामाजिक पृष्ठभूमि, मान्यताओं एवं गतानुगतिक रूढ़ियों के सन्दर्भ में उन्हें इस प्रकार स्थापित किया है कि वे अपनी क्रियाशीलता द्वारा परोक्ष को प्रत्यक्ष बनाकर उसे सर्वजन सुलभ कर देते हैं। इसमें संगति का निर्वाह करते हुए सम्भावित सत्य को भी प्रश्रय दिया गया है। यही सम्भावित सत्य बाद में यथार्थ का रूप ले लेता है। भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् में एक अभिन्न सम्बन्ध है। भूत के बीज वर्तमान में पुष्पित एवं भविष्य में फलित होते हैं। इस प्रकार भूत का सामाजिक यथार्थ वर्तमान के लिए ऐतिहासिक यथार्थ का रूप ले लेता है। अतएव ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए विगत काल के इतिहास का परिचय आवश्यक है। द्विवेदीजी ने उस काल के साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है। उनकी दृष्टि में उस काल का चित्र अपने सम्पूर्ण घात-प्रतिघातों के साथ प्रस्तुत है। इन्हीं पात्रों के माध्यम से उन्होंने उसे अभिव्यक्त किया है। विद्याधरजी एक कूटनीतिज्ञ की पृष्ठभूमि में उतरे हैं तो धीरशर्मा एक विद्वान की भूमिका निभाते हैं, सीदी मौला एक प्रगतिवादी विचारक हैं, तो अन्य पोंगापन्थी साधक काल की परम्पराओं से पूर्ण आवेष्ठित हैं। 'मैना' के चरित्र द्वारा भी उन्होंने उस काल की तेजोद्दीप्त स्त्री-गरिमा का परिचय कराया है तो तापसबाला एवं कर्नाटकी के चरित्र द्वारा उन्होंने शक्ति तत्त्व के उस वहिष्कृत रूप को प्रस्तुत किया है जो समाज को उस काल की खोखली साधना से अवगत कराता है। चन्द्रलेखा का चरित्र उस काल की सूक्ष्म क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं का एक पुंज है। वह एक ओर स्त्री आदर्श की संरक्षिका है तो दूसरी ओर तेजोद्दीप्त चण्डी का मूर्तिमान परिग्रह। उस काल के शासकों की प्रेमभावना का यथा स्थान उपयुक्त चित्रण किया गया है। सातवाहन को इतिहास-पुरुष न स्वीकार करके उन्होंने दूरदर्शिता का परिचय दिया है। वे उसे अपने इच्छानुसार सामाजिक स्वरूपों से सम्बद्ध करने के लिए स्वतन्त्र हैं। इसका परिणाम है कि वे सातवाहन के माध्यम से उतने परोक्ष ऐतिहासिक सत्यों को प्रत्यक्ष कर सके हैं जितने ऐतिहासिक सत्यों का उद्‌घाटन एक इतिहास के पात्र द्वारा नहीं कराया जा सकता था।

ऐतिहासिक उपन्यासकार कल्पना, अनुभूति एवं इतिहाससंगत सामग्री को अपना उपजीव्य बनाता है। द्विवेदीजी के 'चारु चन्द्रलेख' में यह त्रिवेणी इस रूप में प्रवाहित हुई है कि इसकी अलग सत्ता का अभिज्ञान कर सकना प्रायः असम्भव है। फिर भी वे एक सतत् जागरूक स्रष्टा एवं द्रष्टा हैं। इसी के सम्यक् संयोग पर उनके उपन्यास का महल खड़ा है। अतएव यथास्थान उन्होंने चिन्तन के द्वारा उन घात-प्रतिघातों को इस रूप में प्रस्तुत किया है कि उससे हमें आधुनिक सामाजिक, राष्ट्रीय एवं धार्मिक परिस्थितियों का भी उस सन्दर्भ में संकेत मिलता है। वास्तव में उनके इतिहास विश्लेषण एवं उसके नियोजन में वर्तमान के लिए भी एक महान् सन्देश निहित है।

सामाजिक परिवर्तन में उनका विश्वास नहीं है, विकास को ही उसको मूल चेतना के रूप में वे स्वीकृति प्रदान करते हैं। इस विकास में हम भूत को भूल नहीं सकते, केवल वर्तमान को लेकर चल नहीं सकते और न केवल भविष्य की 'यूतोपिया' के आधार पर ही अपने स्वप्न का निर्माण कर सकते हैं। भूत वर्तमान का पथ-प्रदर्शक एवं भविष्य क निर्माता होता है। अपने साहित्यिक अध्ययन में इतिहास के मणि-कांचन संयोग द्वारा इन्होंने यही महती उपलब्धि प्राप्त की है। इसी आधार पर उनकी व्याख्या इतिहास की यथार्थ व्याख्या बन सकी है। उन कुछ स्थलों को हम लेते हैं—

(अ) भारतवर्ष की धर्म-व्यवस्था में बहुत से छिद्र हो गये हैं।

(ब) आर्यावर्त के विनाश का हेतु व्यर्थ कुलाभिमान है।

(स) हमें कुछ ऐसा करना है कि सारी प्रजा दुर्भेद्य चट्टान की तरह हो जाय। किसी को उसकी ओर आँख उठाने का साहस न हो।

(द) "मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि आर्यावर्त नाश के कगार पर खड़ा है, भेद-बुद्धि से जर्जर, स्वार्थ-बुद्धि से अन्धा, ग्रहगृहीत भारतवर्ष महानाश की ओर बढ़ रहा है....तुम कूट युद्ध से विजय पाना चाहते हो। मृगमरीचिका है यह। इस देश को वही बचायेगा जिसके पास सहज जीवन का कवच होगा, सत्य की तलवार होगी, धैर्य का रथ होगा, साहस की ढाल होगी, मैत्री का पाश होगा, धर्म का नेतृत्व होगा।"

(य) "यह देश रसातल को जानेवाला है। यहाँ मिट्टी का दाम अधिक आँका जा रहा है। पुरुष नारी को मांसपिण्ड समझकर भुक्खड़ गिद्ध की तरह उस पर टूट रहा है। नारी भय से व्याकुल होकर अपना वास्तविक धर्म भूल गई है।"

(फ) इस किट्टकलुष प्रज्ञा का संशोधन कठिन जान पड़ रहा है। सर्वत्र घुन लगा हुआ है। क्षुद्रता के अहंकार से यहाँ की प्रत्येक जाति जर्जर है, प्रत्येक समुदाय अन्तर्विदीर्ण है।

(र) सीधा जन-संपर्क रखनेवाला राजनेता कहीं रह ही नहीं गया है। राजशक्ति दुर्बल है। प्रजा मूक दर्शक बनी हुई है। राजपुत्रों की झूठी दर्पोक्तियाँ अन्तःसार शून्य ढफ बन गई हैं। धिक्कार है इस दम्भ-बुद्धि की पाखण्डप्रसारिणी जड़ नीति को।"

(ल) "स्वार्थ के गुलाम हैं, दिल्ली में गुलामों का राज्य है। सबके सब चुगलखोर, चरित्रहीन, क्रूर, गँवार। नाश हो जायगा इस सल्तनत का। गाँठ बाँध लो महाराज, जिस सल्तनत में सबको अपनी-अपनी पड़ी हो, जिसमें बड़े से बड़े को अपना सिर बचाने की भी चिन्ता पड़ी हो, जिसमें प्रजा के सुख-दुःख से कोई मतलब न हो, वह नाश के कगार पर खड़ी है। वे भाग्यहीन डण्डे के बल से राजा बनना चाहते हैं, सब नरक के कीड़े बनेंगे।"

इन उपर्युक्त उद्धरणों पर दृष्टिपात करके कोई भी समझदार व्यक्ति उनके हृदय की वेदना और आकुलता को समझ सकता है। धर्मभीरु देश में धर्म के नाम पर, जाति के नाम पर, वंश के नाम पर आज कितने अत्याचार, अनाचार एवं उत्पीड़न किये जाते हैं वह सर्वविदित है। इस उपन्यास में इससे बचने का एकमात्र साधन उन्होंने जन-चेतना को माना है जो प्रायः हर शासन में प्रसुप्त पड़ी रहती है। परन्तु इसके स्थान पर बोलबाला है भेदबुद्धि, स्वार्थवृत्ति और कूटनीतिका। परन्तु इससे तो देश का कल्याण होता नहीं। जब व्यक्ति की स्वार्थपरता अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाती है, अपने स्वार्थ में वह मिट्टी को भी सोना समझने लगती है। इस पिपासा के रहते किसी भी प्रकार देश का हित नहीं हो सकता। प्रजातन्त्र के अन्दर स्वार्थी एवं लोलुप नेताओं पर भी उन्होंने प्रहार किया है जो देशहित से बड़ा स्वहित को समझते हैं। उनका असन्तोष दिल्ली के दलालों पर भी आक्रमण करने से बाज नहीं आया है। इस प्रकार अपने पूरे उपन्यास में उन्होंने आधुनिक भारत को उद्‌बुद्ध किया है और जन-चेतना को एक नया सन्देश दिया है।

द्विवेदीजी का यह उपन्यास ऐतिहासिक आत्मकथात्मक उपन्यास है। इसी प्रकार की एक कृति वे पहले भी हिन्दी-जगत को दे चुके हैं। यह उपन्यास उस परम्परा की द्वितीय महती उपलब्धि है। इसकी सबसे बड़ी विशिष्टता यह है कि इसमें लेखक ने ऐतिहासिक पटल पर एक नायिका की आत्मकथा को प्रस्तुत किया है। इसी की लपेट में अन्य पात्रों सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान भी सुस्पष्ट होता चलता है। इसमें ऐतिहासिक एवं अनैतिहासिक दोनों प्रकार के पात्र आये हैं। प्रमुख पात्र में विश्वास उत्पन्न कराने के लिए द्विवेदीजी ने कई प्रकार के उपायों का सहारा लिया है। अतएव 'चन्द्रलेखा' का चरित्र असामान्य परिस्थितियों की उपज होते हुए जनसासान्य के कुछ निकट आ सका है। 'चन्द्रलेखा' के साथ ही उसे सम्बल प्रदान करनेवाले अन्य पात्र स्वतः लेखक की कल्पना, अनुभूति एवं चिन्तन के प्रमुख प्रमाण हैं। 'सीदी मौला' (जिन्हें हम इस समुदाय में नहीं ले सकते) भी एक पूरक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं। पात्रों के सभी आचार-विचार की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है। भाषा का यथास्थान उसी संदर्भ में प्रयोग हुआ है। उद्धरण भी प्राचीन पुस्तकों से ही लिये गये हैं। इस प्रकार अपने विचार को किसी प्रकार के अविश्वास का जनक बनाये बिना वे अतीत व्यक्तियों

पर आरोपित करने में सफल हैं। इस प्रकार आधुनिक चिन्तन के प्रतोक वे अतोत के पात्र कुछ हद तक सजीव एवं सप्राण हैं। उनमें एक स्पन्दन है, एक मूर्तिमान चेतना है। वास्तव में आत्मकथात्मक उपन्यास 'विषयीगत' साहित्य की कोटि में आता है। इसमें लेखक का चिन्तन ही अन्य पात्रों के माध्यम से मुखर रहता है। उसकी अन्त-र्दृष्टि ही उपन्यास के प्रमुख मोड़ों की निर्णायक रहतो है। फिर भी एक सजग कलाकार की तरह वे सामान्य तटस्थता का उपयोग करके विकास को अबाध गति से अग्रसर एवं उन्मुख करते हैं। द्विवेदीजी के इस उपन्यास में उपर्युक्त विशेषताएँ प्रस्तुत हैं। सोमा संकोच के निवारण के लिए ही इन्होंने दार्शनिक एवं साधनात्मक पृष्ठभूमि का अवलम्ब ग्रहण किया है। पर इस पृष्ठभूमि में उनके कुछ ही पात्र 'व्युत्पन्न मति' एवं प्रतिभा सम्पन्न बन पड़े हैं। 'मैना' को छोड़कर उनके अधिकांश पात्र स्वयं चालित यन्त्र को तरह परिस्थिति के शिकंजे से जकड़े ज्ञात होते हैं। उप-न्यास का प्रमुख पात्र इसकी नायिका है। उसका सम्पूर्ण जीवन एक विचित्र अन्तर्द्वन्द्व की कहानी है। उसके जोवन के प्रेरक एवं उद्बोधक तत्त्व निखरकर जन-मानस के सम्मुख नहीं आ सके हैं। उपन्यास में क्रांति के स्वर हैं, पर पात्रों में उसका एक प्राञ्जल सामंजस्य स्थापित होने में सर्वत्र बाधा है। हर स्थान पर लेखक का व्यक्तित्व मुखरित होकर उनके माध्यम से कुछ कहता हुआ ज्ञात होता है।

शिल्प की दृष्टि से प्रायः 'बाणभट्ट की आत्मकथा', ही इसका प्रमुख मार्गदर्शक है। दोनों ही उपन्यासों में सन्त-साहित्य के पांडित्यपूर्ण ज्ञान का प्रयोग हुआ है। दोनों के पुरुष पात्र प्रायः कमजोर हैं, स्त्री पात्र ही उनका मार्ग निर्देशन करते हैं, दोनों में स्त्री-शरीर को मन्दिर जैसा पवित्र होने का भाव है, दोनों में समाज-च्युत नारियों को साधिका की पृष्ठभूमि प्रदान की गई है, दोनों में ही कतिपय स्त्री पात्र अन्त में आत्महत्या कर लेते हैं, दोनों के अन्त के पूर्व महान उद्देश्य की ओर संकेत करके उपन्यास को समाप्त कर दिया जाता है। इस उपन्यास में भी बाणभट्ट की आत्मकथा की तरह उद्बोधन एवं राष्ट्रीय चेतना के स्वर मिलते हैं। भिन्न राजनीतिक एवं सामाजिक स्तर के बावजूद दोनों के मूल स्वर एक-से हैं।

उपन्यास को प्रमुख रूप से मनोरंजन का साधन माना गया है। पर ऐसा माननेवाले लोगों को इस बात की सतर्कता बरतनी चाहिए कि उपन्यास कला है अतएव औप-न्यासिक मनोरंजन कलात्मक होगा। हम कलात्मक मनोरंजन को उछले मनोरंजन से भिन्न रूप में जीवन की एक तदाकार अनुभूति के आधार पर इसी से प्राप्त नवीन 'सन्तोष' एवं 'आनन्द' के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। वास्तव में उपन्यास-लेखन भी मानसिक अनुभूतियों का कलात्मक अभिव्यक्तीकरण है। इसमें जीवन के संघर्ष, घात-प्रतिघात, विस्मय विमुग्ध कर देनेवाले दृश्य तथा ज्ञान एवं विज्ञान के नये स्वरूपों से हमारा परिचय होता है। हम इसके आधार पर जीवन को समझने में सफल होते हैं।

अतएव इस दृष्टि से उपन्यास जीवन का ही एक कलात्मक अनुकरण है। खोखले एवं कुत्सित प्रचारवादी दृष्टिकोण के मानदण्ड पर अगर हम द्विवेदीजी के उपन्यास का मूल्यांकन करते हैं तो हमें निराशा होगी। पर, अगर हम इसे जीवन की कलात्मक अनुभूति का अभिव्यक्तीकरण मानकर इसकी व्याख्या आनन्द एवं सन्तोष के रूपमें करते हैं तो हमें ऐसे गूढ़ दृश्य आँखोंके समक्ष दृष्टिगोचर होंगे कि हमारे अंतःचक्षु उससे आप्लावित होकर उसमें निहित जीवन संदेश, आदर्श एवं क्रान्तिकारी भावनाओं को हृदयंगम कर सकेंगे।" महान कला का प्रमुख उद्देश्य हमारे अन्दर वह अभिज्ञान उत्पन्न करना है, जो अपने अन्दर सभी स्वरूपों एवं उनके सम्बन्धों के सूक्ष्म विवेचन द्वारा ही उपलब्ध होता है। परन्तु इसके लिए ज्ञान की अजस्र निर्झरिणी की आवश्यकता होती है जिसके प्रवाह में हम इन गतिशील एवं द्वन्द्वात्मक विचारों की सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत कर सकें। द्विवेदीजी अपने उपन्यास में पाठक के अन्दर आवश्यक अभिज्ञान एवं सूक्ष्म विवेचन क्षमता उत्पन्न करके तत्कालीन एवं सामयिक सत्य का अवबोध कराते हैं। उनकी अन्तर्दृष्टि इस जीवन के महासागर में गोते लगाकर वह अमूल्य मार्ग खोज ले आती है, जिसका दर्शन होते ही हम मूक हो जाते हैं और गूँगे की तरह आस्वादन के बावजूद उसको अभिव्यक्त करने में अक्षम रहते हैं।

'मैंने रानी को कठिन आलिंगन-पाश में बाँध लिया। कुछ समय तक ऐसा जान पड़ा कि मेरी सम्पूर्ण सत्ता रानी में विलीन हो गयी। एक अद्भुत सत्ता जिसका नाम नहीं है, कदाचित् शून्यरूपा है, भावाभाव विनिर्मुक्ता अवस्था है।' जीवन से लिये गये इस प्रसंग को जिस सूक्ष्मता, दूरदर्शिता एवं तल्लीनता के साथ उन्होंने अभिव्यक्त किया है, वह क्या कम सराहनीय है? मक्खियों जैसे मिठाइयों पर भिनकनेवाले सामान्य व्यक्ति इसे क्या समझेंगे? उन्हें तो चाहिए गुड़ और गोबर के मिश्रण पर ऊपर से मतिभ्रम उत्पन्न करनेवाली पन्नी।

अब रही उनके पाण्डित्य और उसको उपन्यास का उपजीव्य बनाने की बात। सामान्य रूप से विचार करने पर तो यह उपन्यास के लिए एक अनुपयुक्त विषय ठहरता है। पर बात ऐसी नहीं है। हम उपन्यास लेखन को भी एक दार्शनिक प्रक्रिया का रूप दे सकते हैं। प्रायः विश्व के सभी महान् उपन्यासों में यह प्रक्रिया प्रमुख रूप से उपस्थित है। वे अपने अत्यधिक कल्पना एवं प्रेरणा-प्रवण क्षणों में ही जीवन की व्याख्या प्रस्तुत कर सके हैं। जहाँ भी उपन्यास में जीवन के स्पंदन होंगे, विधायक कल्पना का समुचित आह्वान होगा, सर्जनात्मक प्रतिभा के विशिष्ट आलोड़न होंगे और जीवन के गतिशील क्षणों को उनकी अखण्डता में ग्रहण करके उनकी व्याख्या का प्रयत्न होगा, वहीं किसी न किसी रूप में लेखक के दार्शनिक मस्तिष्क में जीवन के अनन्त घात-प्रतिघातों से उद्बुद्ध संवेग एवं जीवन चेतना भी होगी। इसके अभाव में सर्जन शुष्क एवं नीरस होगा। अतएव साहित्यकार द्वारा कलात्मक रूपों में इन्हे बाँधने के

प्रयत्न को हम देय नहीं ठहरा सकते। देय है वह प्रतिभा और बुद्धि जो उपन्यास को कलाकृति मानकर भी 'प्लेटो' की तरह उसके गणराज्य से इसका निष्कासन करना पसन्द करती है। यहाँ औचित्य की बात विचारणीय अवश्य है। इस संदर्भ में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि ऐसे तत्त्वों का उपन्यास में एक निश्चित सीमा में प्रयोग होना चाहिए।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में जिस प्रकार निउनियाँ की मृत्यु हो गयी है, उसी प्रकार चारुचन्द्रलेख में 'मैना' की आत्महत्या का प्रसंग है। मैं यह कदापि मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि यहाँ पर द्विवेदीजी ने अभारतीय पद्धति को प्रश्रय दिया है। आज देश-काल की सांस्कृतिक सीमा के अन्दर भारतीय एवं 'अभारतीय' साहित्य तत्व की व्याख्या एक विडम्बना है। समाज का जो स्वरूप द्विवेदीजी ने प्रस्तुत किया है उसमें उनके क्रान्तिकारी मस्तिष्क की पूरी झाँकी मिलती है। इस प्रकार के उत्पीड़न एवं शोषण में जहाँ मानव घुट-घुटकर अपना दम तोड़ देता है, उसकी अस्मत और इज्जत खुले बाजार बिकती है, उसके असन्तोष पर फब्तियाँ कसी जाती हैं, उसकी इच्छाओं को अमानवीय मानकर उनका तिरस्कार किया जाता है, अपनी कुण्ठा समाप्ति का मार्ग ही क्या है? अगर समाज आज अपने आदर्श नहीं बदलता तो पुराने और खोखले आदर्शों को भी अपनाने की अनधिकार चेष्टा इनको रोक नहीं सकती। परन्तु विचारणीय यह है कि क्या एक पुरुष को माननेवाली दो स्त्रियों अथवा दो स्त्रियों को मानने वाला एक पुरुष उनका भरण-पोषण नहीं कर सकता? क्या उस समय समाज में चलती हुई बहुपत्नी प्रथा को मान्यता नहीं दी जा सकती? पर ऐसा प्रश्न करनेवालों के लिए द्विवेदीजी के 'विशेष भाव से अपने को उत्सर्ग' कर देने वाले सिद्धांत पर भी दृष्टिपात करना चाहिए। मैना ने एक स्थल पर कहा है कि—

"दीदी के धन को देखा—महाराज सातवाहन! ऐसा जान पड़ा जैसे सारे जन्म-जन्मान्तर इसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अनादिकाल से आयोजित करते आ रहे थे। सत्य कहती हूँ प्रधान मन में जो भाव था वह लोभ नहीं था, पा लूँ ऐसी लालसा नहीं थी। केवल यही भाव था कि अपने को निःशेष भाव से उड़ेलकर दे दूँ।'

इसी सन्दर्भ में मैना और चन्द्रलेखा की बात पर भी दृष्टिपात कीजिए—

'क्यों री, महाराज अस्वस्थ हो गये तो तुमने सचमुच पैर दबाये?'

'सचमुच दीदी।'

'और आज तूने उनके पैर धोये हैं?'

'देर तक दीदी।'

रानी ने एक झटके से चिल्लाकर कहा, 'मैना तू चोर है......।'

'बिल्कुल नहीं दीदी......।'

रानी ने व्याकुल भाव से पूछा 'क्या महाराज को यहाँ ले आयी है?'

'एकदम ।'

'मैना तू चोर है'

'हाँ दीदी'

'तू मेरा धन नहीं ले सकती'

'थोड़ा भी नहीं'

ऊपर के सन्दर्भ में 'मैना' ने निःशेष भाव से उड़ेलकर देने की बात कही है। और नीचे के सन्दर्भ में 'दीदी' के धन को किसी भी अंश में ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा करती है। कैसा अन्तर्द्वन्द्व है ? निःशेष भाव तक देने का प्रश्न तो उसके आत्मत्याग एवं शांतिपूर्ण कृत्यों से पूर्ण हो गया है। अब तो प्रश्न रानी के धन को न छूने का है। सातवाहन की अपने प्रति आसक्ति से भी वह परिचित है। अतएव उसके सामने इसके अतिरिक्त और साधन ही क्या बचता है कि वह मार्ग से हट जाय। यहाँ द्विवेदीजी का वह वाक्य 'मैं स्त्री-शरीर को देव मन्दिर तुल्य पवित्र मानता हूँ' चरितार्थ होता है। द्विवेदीजी के उपन्यासों में नाटकीयता एवं प्रबन्धात्मक कौशल प्रचुर रूप में पाया जाता है। शैली पाण्डित्यपूर्ण एवं प्रांजल है। प्रायः भौतिक एवं आध्यात्मिक चिन्तन का सामंजस्य ही उनकी कृति की प्रमुख विशेषता है। इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति की जिस त्रयी की ओर मैंने आरम्भ में संकेत किया है वह द्विवेदीजी की इसी मनोवृत्ति का परिचायक है। उपन्यास के अन्त में 'मैना' अर्थात् क्रियाशक्ति का उन्होंने परित्याग कर दिया है। अच्छा होता वे उसे पुनः अर्जित करके अन्य कोई सामाजिक 'आत्मकथात्मक उपन्यास' प्रस्तुत करते।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' के निर्माण में द्विवेदीजी ने ऐतिहासिक वातावरण को सजीव एवं विश्वसनीय बनाने के लिए तत्कालीन संस्कृत काव्यों का साक्ष्य पाठकों के सम्मुख रखा है पर चारुचन्द्रलेख में वह इसलिए संभव नहीं था कि इसकी कथा सामग्री जिस काल को आधार मानकर संग्रहीत है वह साहित्य और संस्कृति के लिए संकट का काल था। तुर्कों के प्रभाव में भारतीय राजनीति बड़ी तेजी से परिवर्तित होती जा रही थी। इस राजनैतिक अस्थिरता के काल में जिस निराशामय वातावरण की सृष्टि हुई थी और परिणामस्वरूप समूचे उत्तर भारत में जिस प्रकार नाथों और सिद्धों का विस्तार बढ़ चला था उनके मूल कारणों का स्वाभाविक सप्राण विवेचन करना ही उपन्यासकार का इसमें अभीष्ट रहा है। पर उसने अपनी परम्परागत साहित्य की गतिविधियों की उपेक्षा नहीं की है। संस्कृत के सुभाषित पद्यों की आत्माएँ अपनी स्वाभाविक छटा के साथ उपन्यास में वर्तमान मिलती हैं। एक श्लोक तो द्विवेदीजी को इतना प्रिय है कि उन्होंने इसे नाटी माँ से इस उपन्यास में अनेक बार गवाया है, जिसे देखकर हिन्दी के सरस कवि 'मंडन' आँखों के सामने खड़े हो जाते हैं।

गताहं कालिन्दी गृहसलिल मानेतु मनसा
घनोद्घूर्णैर्मेघैर्गगनममितों मेदुरमभूत ।
मृशं धारासारैरपतमसहाया क्षितितले
जयत्क्के गृहण्मन् पटुनटकला कोपि चपलः ॥
(चा० च० लेख से उद्धृत)

अलि हौं तो गई जमुना जल को सो कहा कहौं वीर विपत्ति परी ।
घहराय के कारी घटा उनई, इतनेई में गागरि सीस धरी ॥
रपट्यो पग, घाट चढ्यो न गयो, कवि मंडन ह्वै कै बिहाल गिरी ।
चिरजीवहु नन्द को बारो अरी, गहि बांह गरीब ने ठाढ़ी करी ॥

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में जिस प्रकार भगवान् मंडन वाराह की मूर्ति का प्रयोग प्रतीकात्मक ढंग से किया गया है, उसी प्रकार उपर्युक्त संस्कृत-श्लोक का प्रयोग इस उपन्यास में हुआ है ।

देश-काल और वातावरण—

चारुचन्द्रलेख में वर्णित घटनाओं की ऐतिहासिकता प्रमाणित करना कठिन है । पर उनके सम्बन्ध में यह भी नहीं कहा जा सकता कि इतिहास से उनका विरोध है । जिस काल को आधार बनाकर इस उपन्यास की रचना हुई है वह ऐतिहासिक दृष्टि से संक्रान्ति अथवा अन्धकार का काल था । देश में चली आ रही हिन्दू राज-व्यवस्था पूर्णतः लड़खड़ा चुकी थी और देश की सीमाओं को लाँघकर यवन राजनीति की घुसपैठ शुरू हो गयी थी । दिल्लीश्वर पृथ्वीराज चौहान आन्तरिक कलह के कारण पराभूत हो देश की सीमा से बाहर जा अपने को महाकाल को अर्पित कर चुका था । कन्नौज के जयचन्द भी नहीं रहे और महोबा के परमर्दिदेव का भी सूर्य अस्त हो चुका था । प्रस्तुत उपन्यास में द्विवेदीजी ने बारहवीं शताब्दी के उत्तर भारत के धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक पक्षों को मात्र सूक्ष्म ढंग से चित्रित करने का सफल प्रयत्न किया है । संकट के इस युग में तुर्कों के निरन्तर होनेवाले आक्रमणों से एक आतंक का वातावरण सर्वत्र व्याप्त था तथा मन्दिर और विहार ध्वस्त हो चले थे । सामान्य जनता निराश हो चली थी और कर्म पर से लोगों का विश्वास उठने लगा था । देश के सामने ऐसी स्थिति क्यों आयी? इसके मूल में पैठकर द्विवेदीजी ने समाधान ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है । हिन्दू राजाओं के पारस्परिक कलह एवं उनकी विलासी वृत्तियों ने देश को पतन के गर्त तक पहुँचाया । राजाओं की निरंकुशता, उनकी नारी-विषयक दुर्बलता, आंतरिक युद्ध का कारण बनती रही और प्रजा के मन में उनके प्रति आदर का भाव समाप्त हो चला था । यही कारण था कि विदेशी आक्रमणों के समय वह तटस्थ हो पराभूत हुई ।

विकल्प के रूप में द्विवेदीजी जिस व्यवस्था का समर्थन करते हैं उसकी ही अभिव्यक्ति इस उपन्यास में आये उनके ऐतिहासिक और कल्पित पात्रों के माध्यम से हुई है। परमर्दिदेव और उनके इतिहास-प्रसिद्ध वीर आल्हा-ऊदल के यश-गायक राजकवि जगनिक, परमर्दिदेव के पतन के बाद सातवाहन की सभा में आश्रय पाते हैं। इस घटना की पुष्टि इतिहास द्वारा भले ही न हो पर यह कल्पना इतिहास विरुद्ध है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। युद्ध में जगनिक की मृत्यु का कहीं कोई उल्लेख नहीं हुआ है। अतः इसकी पूर्ण सम्भावना है कि वे हिन्दू राजाओं के पतन के बाद भी जीवित रहे। इसी प्रकार जयतिचन्द्र के पतन के बाद उनके यशस्वी मन्त्री विद्याधर का भी जीवित रहना तथा राजा सातवाहन के साथ मिलकर दिल्ली के सुल्तान को मार भगाने का प्रयत्न करना इतिहास विरुद्ध नही। पौरुषहीनता के इस काल में बचे कुछ इतिहास पुरुष यदि इतिहास की भूलों को सुधारकर नये संघर्ष का शुभारम्भ करते हैं तो उसे इतिहाससम्मत मान लेने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। एक ओर जहाँ इस उपन्यास के ऐतिहासिक पात्र अपनी उपस्थिति से हिन्दू राजाओं द्वारा की गयी ऐतिहासिक भूलों की साक्षी के रूप में प्रस्तुत हो देश के नवनिर्माण की नये सिरे से कल्पना करते हैं, वहीं दूसरी ओर चन्द्रलेखा और मैना ऐसी कल्पित नारी पात्रों के द्वारा जिस आदर्श की सृष्टि की गयी है उसकी आवश्यकता उस समय देश को थी। सातवाहन को जिस प्रकार चन्द्रलेखा ऐसी नारी मिली उसी प्रकार यदि पृथ्वीराज के लिए संयोगिता प्रेरणादायिनी होती तो देश का इतिहास ही दूसरा होता।

लगता है द्विवेदीजी इस उपन्यास के माध्यम से इतिहास के इसी तथ्य की ओर इशारा करना चाहते हैं। उपन्यास में चंद्रलेखा के द्वारा सैनिकों को द्विवेदीजी ने जो अत्यन्त ओजपूर्ण उद्‌बोधन दिलाया है उससे तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है।—"वीरो, अपनी मातृभूमि की रक्षा किसी जाति विशेष का पेशा नहीं है, वह सबका जन्मसिद्ध अधिकार और विधिविहित धर्म है। तुम्हारी आँखों के सामने देखते-देखते सारा देश हत-दर्प, छिन्न-विच्छिन्न और पराजित दिखाई दे रहा है, उसके मूल मे यह भावना है।....सारा समाज धर्म की झूठी कल्पना के कारण जर्जर हो गया है, शतधा विच्छिन्न हो गया है, आत्मगौरव की भावना से हीन हो गया है। युद्ध में सफलता तभी मिल सकती है जब समूची प्रजा में आत्मगौरव और प्रतिरोध की भावना उत्पन्न हो।....जब तक प्रजा निश्चित रूप से नहीं समझ पाती, तब तक जब कभी जो कोई चाहेगा उसे परास्त कर देगा। मेरा उद्देश्य है हमेशा के लिए युद्ध समाप्त कर देना। सीमान्त के उस पार से दस्यु पददलित और पराजित करने का स्वप्न देखते हुए बार-बार आक्रमण कर रहे हैं। उनके मन में यह धारणा बद्धमूल हो गयी है कि इस देश की प्रजा को वे आसानी से निगल जायेंगे और पचा लेंगे, जिससे संसार भर में युद्ध का घिनौना भाव होता है, सहस्रों अनाथ और पंगु,

बालक और वृद्ध, श्रमण और ब्राह्मण, बेटियाँ और बहुएँ मृत्यु एवं अवमानना की शिकार होती हैं। हमें कुछ ऐसा करना है कि सारी प्रजा दुर्भेद्य चट्टान की तरह एक हो जाय और किसी को उसकी ओर आँख उठाने का साहस हो न रहे। वीरों, पश्चिम द्वार के कपाट रूप शाकम्भरी नरेश पृथ्वीराज समाप्त हो गये, उत्तरापथ के एकछत्र सम्राट दलयंगुर महाराज जयच्चिन्द्र बालू की भीत की तरह ढह गये और प्रबल पराक्रमी चदेल नरेश परमर्दिदेव बिदेशी आक्रमण की आँधी में कुलद्रुम की भाँति भहरा गये। इतनी बड़ी पराजय के बाद किस बल पर अवन्तिका के क्षीण बल राजा सातवाहन दुर्गतिग्रस्त प्रजा की रक्षा का साहस कर सकते हैं? चारो ओर केवल अन्धकार ही अन्धकार दिखाई दे रहा है।[1]

इस प्रकार द्विवेदीजी ने अत्यन्त कलात्मकता के साथ चन्द्रलेखा के इस कथन के माध्यम से न केवल तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का वर्णन ही किया है बल्कि उनके मूल में वर्तमान त्रुटियों की ओर स्पष्ट संकेत भी किया है।

पौरुषहीनता के इस काल में यह अत्यन्त स्वाभाविक था कि समाज में मिथ्याडम्बर, धार्मिक अन्धविश्वास और अतिचार की भावना बलवती होती। यही कारण है कि इस उपन्यास में द्विवेदीजी ने चन्द्रलेखा द्वारा रसमर्दन की प्रक्रिया, तत्पश्चात् महामाया त्रिपुर भैरवी का अपने पिशाच, शृंगाल, गीध आदि के साथ प्रवेश और उनका नागनाथ पर आक्रमण, त्रिपुर भैरवी और गोरखनाथ के बीच वाद-विवाद, वायु संयमन द्वारा हठयोग साधना तथा खेचर सिद्धि का वर्णन, अनंग वज्र की शव-साधना, बौद्ध एवं शाक्त तन्त्रों की शक्ति, मान्यताओं में समानता, गोरक्षा और कुण्डलिनी योग एवं सहज समाधि का व्यापक वर्णन करके तांत्रिक वातावरण की सृष्टि की है।

यह काल तन्त्र-साधना के लिए जितना अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करनेवाला था उतना ही निराश जनमानस में इसके द्वारा भक्तिभावना का भी विकास हुआ। द्विवेदी जी ने नटी माता के द्वारा तत्कालीन भक्ति सम्बन्धी गतिविधियों का भी चित्रण किया है। अतः इसमें संदेह नहीं कि द्विवेदीजी ने इतिहास के एक ऐसे काल को इस उपन्यास में अत्यन्त सजीव रूप में प्रस्तुत किया है जिसके सम्बन्ध में लिखित प्रामाणिक सामग्री का अत्यन्त अभाव है।

चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह उपन्यास उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि उनके अन्य उपन्यास। इसमें ऐतिहासिक और अनैतिहासिक दोनों प्रकार के पात्र हैं। चन्द्रलेखा, जल्हण, करनाटकी, गोरखनाथ, सीदो मौला आदि ऐतिहासिक पात्र हैं तथा बोधा, मैना और विद्याधर आदि काल्पनिक। उपन्यास के सभी चरित्रों में मानवीय

---

१. चारुचन्द्रलेख—पृ० ९८-१००।

अनुभूतियों का अभाव दीखता है। उपन्यास में सिद्ध साधना का इतना बाहुल्य है कि उसमें चरित्रों की स्वाभाविकता खो गयी है। मैना ऐसे एकाध पात्रों को छोड़कर सभी पात्र उपन्यासकार के विचारों से अत्यन्त दबे होने के कारण अपनी स्वाभाविकता खो बैठे हैं। पात्रों में अन्तर्द्वन्द्वों की सृष्टि करने की ओर द्विवेदीजी की रुचि विशेष रही है जिससे अधिकांश चरित्रों का निर्माण मनोवैज्ञानिक आधार पर हुआ है। उपन्यास के अधिकांश पात्र अपनी निजी विशेषताओं के साथ प्रस्तुत किये गये हैं। विद्याधर कूटनीतिज्ञ के रूप में, धीर शर्मा विद्वान के रूप में, सीदी मौला प्रगतिवादी विचारक के रूप में, चन्द्रलेखा सौन्दर्य एवं प्रेरणा के प्रतीक के रूप में, राजा सातवाहन, शूर एवं उदार पति के रूप में, नटी माता भक्ति के रूप में, बघेला राजपूतो आन के रूप में था मैनसिंह बुद्धि, सेवा, साहस और बल के प्रतीक के रूप में उपन्यास में प्रस्तुत हैं। समूचे उपन्यास में इन पात्रों को अपने लक्ष्य की ओर घूमते दिखलाया गया है।

सातवाहन यद्यपि इस उपन्यास का नायक है, फिर भी उसके चरित्र का विकास जितने स्वतंत्र रूप में होना चाहिए था, नहीं हो पाया है। उपन्यास के अन्य पात्रों की अपेक्षा उसका व्यक्तित्व निष्क्रिय है और एक वीर में जिस प्रकार की निर्णय-शक्ति की आवश्यकता होती है उसका इसमें अत्यन्त अभाव है। वह अपने सहयोगी पात्रों पर इतना आश्रित हो जाता है कि उसका कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व ही नहीं बनने पाया है।

सातवाहन की सी ही स्थिति उपन्यास को नायिका **चन्द्रलेखा** की भी हैं। उसका जीवन अन्तर्द्वन्द्व की एक विचित्र कहानी बनकर रह गया है। उपन्यास के आरम्भ में चन्द्रलेखा के व्यक्तित्व में उपन्यासकार ने जिस तेज का समावेश किया है वह तेज धार्मिक साधनों के चक्कर में पड़कर ऐसा नष्ट हुआ कि उससे उसका व्यक्तित्व ही विकृत हो गया। इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि रानी चन्द्रलेखा उपन्यास का एक ऐसा पात्र है जिसे उपन्यासकार ने विविध प्रयोगों के लिए चुना है। अतः उसमें स्वाभाविकता ढूँढ़ना उसके साथ अन्याय करना है।

चन्द्रलेखा की अपेक्षा **मैना** का चरित्र अधिक स्वाभाविक बन पड़ा है। डेढ़ वर्ष की अवस्था में ही मैना देवदासी के रूप में मंदिर को दी जा चुकी थी जहाँ से लाकर नटी माता ने अपने आश्रम में उसका पालन-पोषण किया। बोधा प्रधान की प्रेरणा से उसने पुरुष वेश में मैन सिंह बनकर देश के विभिन्न अंचलों में जाकर सेना संगठित करने का कार्य किया। मैना का समूचा जीवन त्याग, तपस्या, सेवा, शौर्य-साहस और सूझ-बूझ से भरा पड़ा है जिससे राजा सातवाहन प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। एक ओर जहाँ उसमें आत्मसमर्पण को भावना का प्राधान्य है वहीं दूसरी ओर उसमें ऐसी प्रबल इच्छा शक्ति का विकास हुआ है कि कठिन से कठिन परिस्थितियों में

भी न तो वह विचलित होती है और न तो तांत्रिक अतिचार आदि का उसपर प्रभाव पड़ता है। अपने को दलित द्राक्षा की तरह क्षरि करदेने वाली दुर्दम जिजीविषा से पूर्ण मैना इस उपन्यास में इतनी महान बन जाती है कि सहृदय पाठक उसे भूल नहीं पाता।

नटी माता सहज भाव से भक्ति करने वाली एक अनुभवी नारी हैं जो जयति-चन्द्र के यहाँ नर्तकी रह चुकी हैं और उनके राज्य के नष्ट हो जाने के बाद जंगल में कुटी बनाकर भक्ति-भावना में लीन रहती हैं। आश्रम सभ्यता के अनुरूप नटी माता ने आश्रम के आध्यात्मिक वातावरण में मैना का पालन-पोषण कर उसे एक ऐसा व्यक्तित्व प्रदान किया जो यथावसर अपने सबल व्यक्तित्व के साथ राष्ट्रहित में समर्पित हो जाता है। अतः नटी माता भक्ति की एक प्रतिमूर्ति हैं जो मैना के माध्यम से सामाजिक गतिविधियों में सक्रिय योगदान करती हैं।

सीदी मौला के माध्यम से मंगोलों की परम्परा, रहन-सहन, साधना-पद्धति तथा उनकी आक्रमण शक्ति आदि का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। सिद्ध साधक सीदी मौला एक ऐतिहासिक पात्र हैं जिनके माध्यम से उपन्यासकार ने बौद्ध एवं शाक्त तांत्रिक सम्प्रदाय की वीभत्सता, यौगिक साधनों एवं चमत्कारों, प्राणायाम एवं रसायन योग आदि को प्रस्तुत किया है। उपन्यास का यह एक फक्कड़, बेफिक्र, निर्द्वन्द्व एवं दूरदर्शी पात्र है।

विद्याधर भट्ट एक ऐसे तेजस्वी चरित्र के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं जिनकी तेजस्विता के सामने राजा भी हतप्रभ रह जाता है। ज्योतिष और सिद्धियों में विश्वास रखते हुए भी विद्याधर भट्ट धीर शर्मा की भाँति ज्योतिष में ही जीनेवाले पात्र नहीं, बल्कि राजनीति, रणनीति और कूटनीति में अच्छी पैठ रखनेवाले हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विद्याधर भट्ट इस उपन्यास के अन्य पात्रों से कुछ भिन्न उपन्यासकार के व्यक्तित्व को प्रकट करनेवाले हैं।

बोधा, धीर शर्मा, अमोघ वज्र, अशोकचल्ल, जल्हण, अक्षोभ्य भैरव, अलहना बघेला, विष्णुप्रिया तथा **तापसबाला** आदि अन्य पात्रों के माध्यम से द्विवेदीजी ने उपन्यास में तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक चेतना को प्रस्तुत करने में सहायता ली है।

१० | पुनर्नवा

प्रकाशन क्रम में 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' के पश्चात् 'पुनर्नवा' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का तीसरा उपन्यास है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' में विशेषकर 'बाणभट्ट की आत्मकथा' ऐतिहासिक भित्ति पर कल्पना के रंगीन चित्रों द्वारा निर्मित है। ये काल्पनिक चित्र तत्कालीन साहित्य की सहायता से अतीत को वर्तमान के संदर्भ में प्रस्तुत कर उपन्यास के सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना में योगदान देते हैं। द्विवेदीजी ने अपनी विशिष्ट औपन्यासिक शैली के द्वारा 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' में प्रस्तुत घटनाओं एवं मानवमूल्यों को जो विश्वसनीयता प्रदान की है उससे इन उपन्यासों को ऐतिहासिक उपन्यास की संज्ञा देना अनुचित नहीं जान पड़ता। इन सांस्कृतिक उपन्यासों को अधिकांश समीक्षकों ने ऐतिहासिक उपन्यास की कोटि में रखा है। पुनर्नवा उपन्यास की स्थिति इन दोनों उपन्यासों से भिन्न है। इसे देखने से स्पष्ट जान पड़ता है कि इस बिन्दु पर पहुँचकर आचार्य द्विवेजी का उपन्यास शिल्प तथा उनके द्वारा प्रस्तुत मानव मूल्य नयी दिशा की ओर उन्मुख हुए हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' में कथामुख और उपसंहार जोड़कर जिस औपन्यासिक छल को शिल्प का अविभाज्य अंग बनाया गया था, उससे पुनर्नवा बिल्कुल मुक्त है। 'पुनर्नवा' की कथा का आरम्भ बिना किसी भूमिका के उपन्यासकार ने स्वयं इस उपन्यास के एक प्रमुख पात्र देवरात के परिचय से किया है। 'देवरात साधु पुरुष थे। कोई नहीं जानता था कि वे कहाँ से आकर हल-द्वीप मे बस गये थे। लोगों में उनके विषय में अनेक प्रकार की किंवदन्तियाँ थीं।' इस प्रकार आरम्भ कर द्विवेदीजी देवरात का एक लम्बा परिचय दे जाते हैं। उपन्यास की कथा के देवरात सूत्रधार हैं और लगातार छः सर्गों तक उनका वर्चस्व बना रहता है। इस कथा की सीमा के भीतर लगभग उपन्यास के उन सभी पात्रों का प्रवेश अथवा उल्लेख हो गया है जिनकी सहायता से आगे चलकर उपन्यास की कथा में गति अथवा पूर्णता आती है। उपन्यास की कथा साधारण व्यवधान के साथ निरंतर आगे बढ़ती रही है और यथासमय उसमें आवश्यकतानुसार छोटे-बड़े तथा नये-पुराने पात्र आकर मिलते रहे हैं। कुछ काल के लिए उपन्यास के श्यामरूप और गोपाल आर्यक जैसे महत्वपूर्ण पात्र दृश्य से ओझल हो जाते हैं अवश्य, पर वे पाठकों के मन में किसी विशेष कुतूहल वृत्ति की सृष्टि नहीं करत, क्योंकि उपन्यास के कथा प्रवाह में कोई गतिरोध नहीं आने पाया है। इसके विपरीत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की सृष्टि विचित्र रही है

कि जिसमें प्रस्तुत प्रत्येक महत्वपूर्ण पात्र एवं घटनाएँ अपने में रहस्य छिपाये रहती हैं और कथा की बुनावट इतनी सघन उलझी हुई है कि पाठक की उत्सुकता कहो-कहीं तो सीमा का अतिक्रमण करने के लिए भी उतावली हो जाती है। कथा का विकास भी सहज ढंग से उत्तरोत्तर आगे नहीं बढ़ा है बल्कि कथा स्मृति के आधार पर बराबर आगे-पीछे भागती रही है। पाठक जब तक उपन्यास समाप्त नहीं कर लेता उसको बहुत सी उलझनें सुलझ नहीं पातीं और न तो उसकी जिज्ञासा वृत्ति को ही तृप्ति मिलती है। इतना तो नहीं पर 'चारुचन्द्रलेख' की कथा-सृष्टि की भी स्थिति ऐसी ही है। आत्मकथात्मक शैली के सिद्धहस्त स्रष्टा द्विवेदीजी ने शिल्प की इस चारुता से पुनर्नवा उपन्यास को मुक्त कर दिया है जिससे सहृदय पाठक बिना किसी तनाव के सहज भाव में आश्वस्त हो पुनर्नवा की कथा का रसास्वादन करता है। पुनर्नवा की कथात्मकता पात्रों के माध्यम से मूल्यों एवं ऐतिहासिक रस की यदि सहज सृष्टि कर पाने में द्विवेदी जी सफल न हुए होते तो 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' के विज्ञ एवं सहृदय पाठकों को बड़ी निराशा होती। जिन सामाजिक मूल्यों एवं सांस्कृतिक दृष्टियों की अदृप्त सृष्टि द्विवेदीजी ने अपने आरम्भिक दो उपन्यासों में की थी, लगता है अब वे उनका खुलासा करना चाहते थे। अपने पुराने पात्रों एवं आदर्शों को जिस बिन्दु पर छोड़कर उनके आरम्भिक दोनों उपन्यास पूर्णता पर पहुँचने के पूर्व ही समाप्त हो गये थे अथवा अनावश्यक रूप से जिन प्रश्नों को उठाकर टाल दिया गया था, लगता है पुनर्नवा में द्विवेदीजी का उपन्यासकार साहस कर समाधान तक पहुँचने की चेष्टा करता है। चेष्टा शब्द का व्यवहार मैं जानबूझकर कर रहा हूँ। मेरा संकेत स्त्री-पुरुष के विवाहित और अविवाहित प्रेम-प्रसंगों से है जो द्विवेदीजी के सभी उपन्यासों के प्रतिपाद्य का मूल बिन्दु रहा है। पुनर्नवा में साहसपूर्वक उपन्यासकार ने पात्रों को आगे बढ़ने दिया है पर कोई निश्चित परिणाम निकलने के पूर्व ही वे अपनी पुरानी पद्धति के अनुसार उपन्यास को समाप्त कर देते हैं। इतना अवश्य है कि इसमें समाधान के संकेत अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट हैं। पुरुष पात्र इसमें भी संकोचनशील हैं पर नारियाँ अपेक्षाकृत अधिक साहसशीला हैं और सूक्ष्म दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो जहाँ तक संस्कृति के मूल स्वर का सम्बन्ध है, सभी उपन्यासों का एक जैसा है। केवल प्रस्तुतीकरण और भंगिमा में परिवर्तन दिखलाई पड़ता है जिसकी चर्चा मैं अन्यत्र करूँगा।

यहाँ इतना कह देना मेरा उद्देश्य है कि शैली, भाव एवं भाषा सभी दृष्टियों से पुनर्नवा के उपन्यासकार में बदलाव आया है। इतिहास के नाम पर यज्ञसेन, समुद्र-गुप्त, रुद्रसेन एवं चन्द्रसेन जैसे प्रमुख पात्रों के नामोल्लेख के सिवा और कुछ नहीं है। अपनी शैली मात्र से द्विवेदीजी ऐतिहासिकता का आभास कराने में सिद्धहस्त हैं जिससे इस उपन्यास की कथा में भी ऐतिहासिकता का पूर्ण आभास पाठक को होता है जबकि

कल्पना के विलास से ही इतिहास के विविध काल खण्डों को देशकाल और स्थान की सीमा का विचार किये बिना उन्होंने पुनर्नवा की कथा में इस प्रकार ढाल दिया है कि पाठक सम्मोहित होकर संगति और असंगति का विचार किये बिना उसे ग्रहण करने लग जाता है। इस उपन्यास में कुषाण राज्य के पतन से लेकर समुद्रगुप्त की दिग्विजय तक के समय को आधार तो बनाया गया है पर पात्रों तथा उनसे सम्बन्धित घटनाओं को इतिहास की अपेक्षा लोक जीवन में सुरक्षित लोक कथाओं तथा प्राचीन संस्कृत साहित्य के सदर्भों से ही अधिक ले लिया गया है। इतिहास और कल्पना का समन्वय करने में द्विवेदीजी को अपने सभी उपन्यासों में सफलता मिली है और पुनर्नवा भी इसका अपवाद नहीं है। इसमें प्रस्तुत काल्पनिक घटनाओं को इस कौशल के साथ द्विवेदीजी ने उपस्थित किया है कि इतिहास से कहीं भी उनका विरोध नहीं दिखता। जैसा कि मैंने ऊपर संकेत किया है कि कुछ इतिहास प्रसिद्ध महापुरुषों को ऐतिहासिकता का आभास कराने के लिए उपन्यास में महत्वपूर्ण बिन्दु पर प्रतिष्ठित किया गया है, पर ऐतिहासिक कंकाल में मांसलता एवं जिजीविषा की सृष्टि करनेवाले प्रमुख पात्र 'गोपाल आर्यक', 'श्यामरूप', 'मंजुला, 'मृणाल', 'चन्द्रा, 'सुमेर काका', 'चन्द्रमौलि' तथा 'माढव्य' आदि काल्पनिक हैं। राजा के सभापतित्व में मंजुला का नृत्य, मंजुला का देवरात के घर जाना, देवरात के आश्रम में गोपाल आर्यक, श्यामरूप एवं बाद में मृणाल मंजरी का पलना एवं शिक्षा लेना, श्यामरूप का पाठशाला से नटमण्डली के साथ भाग जाना और वहाँ माँदी से उसका परिचय होना, माँदो और श्याम रूप के बीच उत्पन्न प्रेम को लक्ष्य कर इस भय से कि माँदी कहीं हाथ से निकल न जाय, नटमंडली के सरदार जम्मल का माँदी को गणिका के दलाल के हाथ बेच देना और श्यामरूप का माँदी को खोज में निकल पड़ना, चन्द्रा का गोपाल आर्यक के पीछे पड़ना और लोकापवाद के भय से आर्यक का छिपना आदि उपन्यास के प्रमुख काल्पनिक प्रसंग हैं। इन घटनाओं को द्विवेदीजी ने ऐसे ढंग से कथा में बुन दिया है कि कहीं भी इतिहास की रेखाओं से उनका रंग अलग होता नहीं दिखता।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास का शीर्षक व्यक्तिपरक था पर 'चारुचन्द्रलेख' से लेकर 'अनामदास का पोथा' तक के तीनों उपन्यासों का शीर्षक भावपरक है। यद्यपि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का बाणभट्ट जिन मूल्यों का प्रतीक है यदि उसे दृष्टि में रखा जाय तो उसे भी भावपरक शीर्षक की कोटि में लाया जा सकता है। इस उपन्यास का शीर्षक 'पुनर्नवा' इसलिए व्याख्या की अपेक्षा रखता है कि इसे दृष्टि में रखकर ही उपन्यासकार ने मूल्यों की, न केवल नूतन व्याख्या ही की है बल्कि उन्हें स्वीकार करने का आग्रह भी किया हैं। औषधिशास्त्र में पुनर्नवा एक ऐसी वनस्पति का नाम है जो अनेक रोगों में औषधि का काम करती है। देहात में इसे 'गदहपुन्ना' कहते हैं। एक मुहावरा प्रसिद्ध है—"देश की दवाई गदहपुन्ना"। यह फोड़े की अचूक दवा है।

इस मुहावरे से जो ध्वनि निकलती है इससे उसकी सर्वसुलभता एवं उपयोगिता पर प्रकाश पड़ता है। मैं बलपूर्वक यह नहीं कहता कि आचार्य द्विवेदी ने अपने उपन्यास का नाम जब पुनर्नवा रखा तो उन्हें इससे प्रेरणा मिली होगी और मिली हो तो कोई आश्चर्य नहीं। द्विवेदीजी के अध्ययन का क्षेत्र विशाल था, अनुभव एवं अध्ययन क्रम में आये साधारण से लेकर असाधारण तक की सभी वस्तुओं का वे उपयोग बड़ा ही चारुतापूर्वक अपनी रचनाओं में कर लिया करते थे। द्विवेदीजी का कहना है— 'अगर निरन्तर व्यवस्थाओं का संस्कार एवं परिमार्जन नहीं होता रहेगा तो एक दिन व्यवस्थाएँ तो टूटेंगी ही, अपने साथ धर्म को भी तोड़ देंगी।' यह एक अत्यन्त सरल, सुलभ एवं उपयोगी सिद्धान्त है जिसे जीवन में उतारने के लिए बहुत भटकने की आवश्यकता नहीं है। शरीर व्याधि को बनाये रखना और सहज सुलभ औषधि 'गदहपुन्ना' का उपयोग न करना शरीर को संकट में डालना है। समाज रूपी शरीर को भी व्याधियों से बचाने के लिए युग की प्रासंगिकता को सहज ही स्वीकार करने की आवश्यकता है अन्यथा उसका परिणाम व्यक्ति और समाज दोनों के लिए भयंकर होगा। 'पुनर्नवा' शीर्षक का सार्थक प्रयोग सामाजिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के लिए सदैव उपयोगी है। मैंने इस शब्द को वनस्पति के साथ इसलिए जोड़ना चाहा है कि समूचे उपन्यास में आये विविध प्रसंगों को सही ढंग से समझने के लिए शीर्षक की व्याप्ति को दृष्टि में रखना समीचीन होगा। फिर से नया करना पुनर्नवा का शाब्दिक अर्थ है जिससे स्पष्ट है कि प्राचीन को फिर से नया करना अर्थात् द्विवेदीजी के शब्दों में कहें तो बासी को ताजा करना ही इस शीर्षक के माध्यम से उपन्यास का प्रमुख प्रतिपाद्य है। मनुष्य प्रकृति का महत्वपूर्ण चेतन तत्व है। प्रकृति स्वयं नित्य नवीन परिवेश धारण करती रहती है। वह प्राचीनता की केंचुल उतारकर नवीन बनती रहती है इसलिए विकासमान है। उसके जड़ तत्व जिसमें परिवर्तनशीलता नहीं है वे निरन्तर घिसते-पिटते रहते हैं और एक दिन अपना अस्तित्व समाप्त कर बैठते हैं। मानवीय सृष्टि को इस जड़ता से पुनर्नवता ही बचा सकती है। देवरात ऐसे तेजस्वी महापुरुष अपनी प्रिय पत्नी शर्मिष्ठा को खोकर ऐसे जड़ीभूत हुए कि उन्होंने राज प्रासाद को छोड़कर हलद्वीप में आश्रम की शरण ले ली। यदि उन्होंने मंजुला के रूप में अपनी प्रिय पत्नी शर्मिष्ठा की छाया न देखी होती और पुनर्नवा के सिद्धान्त को न आयत्त किया होता तो वे जड़ीभूत हो जीवित मृत रहते। पुनर्नवा की इस प्रक्रिया में जीवन से भागे महापुरुष देवरात को पुनः अपने आश्रम जीवन को मल्लशाला से लेकर पाठशाला तक ले जाना पड़ा तथा उन्होंने गोपाल आर्यक, श्याम रूप तथा मृणाल मंजरी जैसे उपन्यास के महत्वपूर्ण पात्रों को गुरु की गरिमा एवं पिता का वात्सल्य देकर जो पुनः नूतन आदर्श गार्हस्थ जीवन का दायित्व संभाला वह इस उपन्यास में विचारणीय एवं स्पृहणीय है। देवरात कहते हैं—"पुनर्नवा देवी तुम नित्य नवीन होकर मानस पटल पर

उदित होती हो। जानती नहीं, किस मर्मवेदना को जगा जाती हो, किस बासी घाव को नया कर जाती हो। देवरात स्वयं मुरझा गया है. उसमें पुनर्नवा के स्वागत करने की क्षमता नहीं है……पुनर्नवा बनकर नित्य आती रहो तुम्हारा थोड़ा कष्ट किसी को हरा कर जाय तो किसी को क्या हर्ज है ? देवि। नहीं तुम नित्य नवीन होकर हृदय में उतरा करो। नित्य नवीन होकर, पुनः-पुनः नवीन होकर मेरी पुनर्नवा रानी।'' इस प्रकार पुनः नवीन, पुनः जागरित एवं पुनः जीवन्त होने की चेतना समूचे उपन्यास में अनुस्यूत है। उपन्यास के अधिकांश प्रमुख पात्र इस चेतना से अभिभूत हो व्याकुलता का अनुभव करते हैं।

द्विवेदीजी के अन्य उपन्यासों की भाँति उपन्यास का नायक बिखरी घटनाओं को मणिमाला सूत्र की भाँति गूथने एवं कथा का आधार प्रस्तुत करने का कार्य करता है और उपन्यास के प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने में अन्य पात्रों एवं घटनाओं की भूमिका अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण होती है। प्रसाद के प्रमुख नाटकों की भाँति इनके उपन्यासों में भी नायक की समस्या है। नायक निर्णायक का मात्र आधार कथा भाग में उसकी अधिकाधिक उपस्थिति है। इसी दृष्टि से पुनर्नवा उपन्यास का नायक होने का गौरव गोपाल आर्यक को दिया जा सकता है। जबकि इसमें देवरात, श्यारूप, चन्द्रा तथा मृणालमंजरी ऐसे अन्य पात्र हैं जो उपन्यासकार के मन्तव्य को स्पष्ट करने एवं उपन्यास को जीवन्त बनाने में अपेक्षाकृत अधिक सक्षम हैं। द्विवेदीजी गोपाल आर्यक को इस उपन्यास का नायक बनाना ही चाहते हैं जिससे वे उसकी दुर्बलता को सबलता के रूप में प्रस्तुत कर उपन्यास के प्रत्येक मोड़ बिन्दु पर या तो उसकी चर्चा करते हैं या तो उसे उपस्थित कर देते हैं। गोपाल आर्यक व्यवस्थाओं में सुधार लाने में न तो रुचि रखता है और न तो उसे सफलता ही मिली है वह युद्धवीर, प्रेमवीर, आत्मसंयमी तथा साहसी सब कुछ है, पर रूढ़िग्रस्त लोकापवाद से डरता है। वह डरता ही नहीं रहता, कायरों की भाँति छिपता भी रहता है। आरम्भ में जब तक वह सीधे देवरात के प्रभाव में रहा, एक साहसी एवं क्रान्तिकारी पुरुष के रूप में उसका उदय हुआ। उसने वेश्यापुत्री मृणालमंजरी को धर्मपत्नी के रूप में स्वीकार कर अपनी क्रान्तिकारिता का परिचय दिया, पर ज्योंही चन्द्रा प्रसंग उससे आकर जुड़ता है वह लोकापवाद के भय से भाग खड़ा होता है। उसकी सारी क्रान्तिकारिता ध्वस्त हो जाती है। इस प्रकार इन विरोधी प्रवृत्तियों को उपन्यास नायक वीर गोपाल आर्यक में ही प्रस्तुत कर लगता है द्विवेदीजी उसके नायकत्व की उपेक्षा कर उसे अपने अभिनव प्रयोग के लिए चुन लेते हैं। लगता है वे उसके माध्यम से समाज में व्याप्त अवांछित परम्परा एवं स्वस्थ प्रगतिशीलता का संघर्ष दिखलाना चाहते हैं और इस उपन्यास के लम्बे कथा भाग में प्रस्तुत यह संघर्ष यथास्थान वास्तविक जीवन मूल्यों की व्याख्या प्रस्तुत करने का अवसर प्रदान करता है।

उपन्यास में वर्णित घटनाओं के विभिन्न अंश भिन्न-भिन्न स्रोतों से उपन्यासकार द्वारा एकत्रित किये गये हैं। कालिदास के पात्र उपन्यास में यथास्थान झलक मारते देखे जा सकते हैं। जिसने उनका अभिज्ञान शाकुन्तलम् पढ़ा होगा उसे कण्व ऋषि के आश्रम की शकुन्तला पुनर्नवा की मृणालमंजरी में सहज ही दिख जायेगी। दुष्यन्त के पास भेजते हुए कण्व ऋषि की जो स्थिति अभिज्ञान शाकुन्तलम् में हैं, पुनर्नवा में देवरात की स्थिति उससे भिन्न नहीं। उपन्यास के उत्तरार्द्ध की उज्जयिनी में घटी घटनाएँ शूद्रक कृत मृच्छकटिक की याद दिलाती हैं। लोरिक चन्द्रा जैसे उपाख्यान से मृणालमंजरी और चन्द्रा सर्वाधिक प्रभावित हैं। उपन्यास में वर्णित साहसी घटनाओं पर भी इस उपाख्यान का अक्षुण्ण प्रभाव है। नगर श्री मंजुला जिससे कि एक प्रकार से उपन्यास का आरम्भ ही हुआ है, बौद्ध-काल में घटी वासवदत्ता की घटना तथा कविकुल गुरु रवीन्द्र नाथ टैगोर की 'अभिसार' कविता की याद दिलाती है। आचार्य देवरात के आश्रम में मंजुला का आना तथा देवरात को अपने घर आने के लिए आमंत्रित करना और देवरात का यह कहना कि यथावसर तुम्हारी यह कामना पूरी होगी एवं नगर में महामारी के प्रकोप के अवसर पर रोगग्रस्त मरणासन्न मंजुला के घर देवरात का पहुंचकर यह कहना—"हाँ देवि, आज मैंने तुम्हारा निमन्त्रण स्वीकार किया, साहस न छोड़ो सब ठीक हुआ, हो जाता है।" स्पष्टतः उपर्युक्त पूर्व प्रसंगों से प्रभावित घटना है और वसन्तसेना, चारुदत्त और मदनिका से सम्बन्धित उपन्यास में आयी घटनाएँ शूद्रक के मृच्छकटिक से इतना साम्य रखती हैं कि लगता है कि उपन्यासकार ने उसमें परिवर्तन लाने की भी आवश्यकता का अनुभव नहीं किया है।

कथा

उपन्यासों को विश्वसनीयता प्रदान करने के लिए 'द्विवेदीजी' अपने उपन्यासों की प्रमुख कथा को तत्कालीन प्रख्यात ऐतिहासिक घटना अथवा राजपुरुष से सम्बद्ध अवश्य करते हैं, पर उसकी संरचना में उनकी उर्वर कल्पना-विलास का ही चमत्कार रहता है। 'पुनर्नवा' की कथा का प्रसार कुषाणराज्य के पराभव काल से लेकर समुद्रगुप्त के दिग्विजय अभियान तक देखने को मिलता है। अन्य उपन्यासों की अपेक्षा इसमें राजनैतिक उथल-पुथल की भी अधिक चर्चा है, पर उपन्यास के प्रतिपाद्य पर उस चर्चा का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इन घटनाओं के माध्यम से उपन्यास की कथा को भली प्रकार से फैलने का अवसर मिला है और चित्रित संघर्षों के बीच में उपन्यास के प्रमुख पात्रों को रखकर द्विवेदीजी ने उनके वाह्य एवं आंतरिक संघर्षों को प्रस्तुत करने का सहज ही अवसर निकाल लिया है। जहाँ तक कथा की समग्रता का प्रश्न है, द्विवेदीजी ने उसके लिए ऐतिहासिक पात्रों एवं घटनाओं की अपेक्षा कल्पित पात्रों पर

ही विशेष बल दिया है। यह दूसरी बात है कि उनकी कल्पना ऐतिहासिकता के आधार पर खड़ी है और उसका उससे कहीं विरोध नहीं होने पाया है।

बलिया जिले में स्थित हल्दीगाँव जो वर्षाॠतु में द्वीप के समान हो जाता है, उपन्यास की कथा का केन्द्र स्थल है। साधुपुरुष देवरात इसी हलद्वीप में आकर बस गये थे और वहाँ के किसी भी व्यक्ति को इसकी जानकारी नहीं थी कि वे किस स्थान से आये थे। इतना अवश्य था कि लोग उनका आदर करते थे और हलद्वीप के राज-परिवार में तो उनका बड़ा सम्मान था। महासरयू के तट पर हलद्वीप से सटा हुआ उनका आश्रम था, जिसमें अपार श्रद्धा के साथ च्यवन भूमि के चौधरी वृद्धगोप बराबर आया करते थे। वृद्धगोप के पूर्वपुरुष भी शुंग राजाओं की सेना के साथ मथुरा से आकर वहीं बस गये। नन्दगोप के वंशधर होने के कारण वृद्धगोप का कुल जनता की श्रद्धा और विश्वास का पात्र था। लोग उनपर बड़ी श्रद्धा रखते थे। वृद्धगोप ही उपन्यासनायक के भाग्यशाली पिता हैं। एक ब्राह्मणसुत श्यामरूप को उन्होंने पुत्र की तरह ही पाला-पोषा था साँवला रंग होने के कारण वृद्धगोप ने ही उसे श्यामरूप नाम दिया था। इस प्रकार उनके एक ही नहीं गोपाल आर्यक और श्यामरूप नामक दो लड़के थे। आर्यक उम्र में श्यामरूप से लगभग चार वर्ष छोटा था, फिर भी आठ-नौ वर्ष की अवस्था में जब वृद्धगोप श्यामरूप को, देवरात के आश्रम में पढ़ने के लिए ले गये तो आर्यक भी जाने के लिए मचल उठा। अतः दोनों पाठशाला जाने लगे। आर्यक को वृद्धगोप मल्ल और ब्राह्मण कुमार होने के कारण श्यामरूप को शास्त्रज्ञ पंडित बनाना चाहते थे। देवराज को इन बालकों में कृष्ण और बलराम दिखलाई पड़े, भले ही दोनों के रंग बदले हुए थे। द्वापर के बलराम गौरवर्ण और कृष्ण श्याम वर्ण थे पर देवरात के बलराम श्याम और कृष्ण गौर थे, मात्र इतना ही अंतर था। उपन्यास में दोनों की भूमिका बलराम और कृष्ण जैसी ही है। देवरात को सामुद्रिक विद्या का ज्ञान था अतः उन्हें दिग्विजयी के लक्षण दिखे।

हलद्वीप की आभिमानिनी गणिका मंजुला को छोड़कर देवरात के शील-सौजन्य ने हलद्वीप की जनता का मन मोह लिया था। देवरात कला पारखी थे, अतः वे किसी भी कलाविद् की प्रशंसा करने में पूर्ण संयम से काम लेते थे। मंजुला की कलाचातुरी की आलोचना करने में हलद्वीप के राजा भी हिचकते थे। सरस्वती विहार में राजा के सभापतित्व में हुए मंजुला के नृत्य में देवरात भी निमंत्रित थे और नृत्य के बारे में राजा के पूछने पर वे प्रशंसा करते-करते रुक गये जिसमें मंजुला को अपनी आलोचना का आभास हुआ। देवरात ने सिर्फ इतना ही कहा था कि 'तुमने जानबूझ कर ही भावानुप्रवेश की उपेक्षा की होगी। इस अवसर पर हुई मंजुला की प्रतिक्रिया भगवतीचरण वर्मा कृत 'चित्रलेखा' की प्रतिक्रिया के ही समान है। एक अन्य आयोजन में वह देवरात पर अपनी जय स्थापित करती है, पर हृदय से जीत

कर भी हार जाती है। एक दिन नगरवासियों ने देखा कि नगर की अभिमानिनी गणिका मंजुला देवरात के आश्रम की ओर चली जा रही है। देवरात ने मंजुला में देवत्व की प्रतिष्ठा की। उसमें वे अपनी सती पत्नी शर्मिष्ठा का साक्षात्कार करते हैं। मंजुला में शर्मिष्ठा का साक्षात्कार करने के कारण देवरात का बासी घाव ताजा हो जाता है। मंजुला के महामारी का शिकार बनने के कारण देवरात के हृदय पर घाव पर घाव होता है। मंजुला अपनी एक नन्हीं सी बच्ची मृणालमंजरी को एक प्रतोलिका के साथ देवरात के लिए छोड़कर अपनी ऐहिक लीला समाप्त करती है। अपने इस जीवन के अन्तिम समय में वह देवरात से बड़ी कठिनाई से निवेदन कर पाती है कि वह नहीं जानती कि इस पुत्री का पिता कौन है, पर भाव रूप में देवरात ही इसके पिता हैं, जिनपर इस नन्हीं सी बच्ची का भार छोड़कर वह जा रही है। इस स्थल पर द्विवेदीजी ने कुछ ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है कि स्पष्टतः इसे जान पाना बड़ा कठिन हो जाता है कि मंजुला की ऐहिक लीला समाप्त हो गयी। क्योंकि उसके शव के सम्बन्ध में उन्होंने किसी भी प्रकार का संकेत नहीं दिया। उपन्यास के उत्तरार्द्ध में जब कथा उज्जयिनी पहुँचती है तो 'माता संन्यासिनी' को देखकर आर्यक के ही मन में यह भ्रम नहीं उत्पन्न होता कि वे उसकी सास मंजुला ही हैं, बल्कि पाठक भी भ्रम में पड़े बिना नहीं रहता। इस प्रकार के शिल्प-विधान के द्वारा द्विवेदीजी ने 'पुनर्नवा' उपन्यास को रहस्यमय बनाने की चेष्टा की है जिसका सुन्दर निर्वाह वे अपने उपन्यास बाणभट्ट की आत्मकथा में पहले ही सफलतापूर्वक कर चुके थे। नन्हीं बच्ची मृणाल-मंजरी के साथ प्रतोलिका को लेकर भग्नहृदय देवरात जब आश्रम लौटे तो वृद्ध गोप और गोप पत्नी पहले से ही उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। दूसरे दिन वृद्ध गोप दम्पत्ति आश्रम से विदा लेकर जब अपने घर लौटने लगे तो वृद्ध गोप की पत्नी बालिका को अपने साथ ले जाना चाहती थी, पर देवरात के कारण ऐसा नहीं हो सका। देवरात ने बालिका के साथ प्राप्त प्रतोलिका को सुरक्षा की दृष्टि से वृद्ध गोप दम्पति के हवाले कर दिया और याचना की—"भद्र, यदि अनुचित न मानें तो इस पेटिका को आप ही कहीं सुरक्षित रख दें। बालिका के विवाह के अवसर पर ही इसे खोला जायेगा। इसमें 'मुमूर्षु' माता का आशीर्वाद है। इस न्यास को रखने के लिए सुरक्षित स्थान मेरे आश्रम में नहीं है। यथा अवसर इसे मुझे लौटा दें।" ये शब्द देवरात के कण्ठ से बड़ी कठिनाई से निकले थे। वृद्ध गोप ने उनकी बात मान ली। इस प्रकार देवरात के ऊपर एक नन्हीं सी बालिका के पालन-पोषण का भार आ पड़ा। वे वैरागी से गृहस्थ हो गये। मृणाल आश्रम में श्यामरूप और गोपाल आर्यक के साथ बड़ी होती गयी। श्यामरूप शास्त्रों का अध्ययन नहीं कर सका क्योंकि मल्ल विद्या में अपेक्षाकृत उसकी रुचि अधिक रही। इच्छा के विरुद्ध अध्ययन हेतु मन्दिर में भेजे जाने पर एक दिन वह वहाँ से भाग खड़ा होता है। श्यामरूप के

चले जाने पर गोपाल आर्यक का मन भी उचट जाता है और वह श्यामरूप को खोजने के लिए आश्रम छोड़कर निकल पड़ता है। एक दिन मृणालमंजरी को सुमेर काका से यह समाचार मिला कि गंगा के किनारे-किनारे जो युवा दल का संगठन बना है, उसका नेतृत्व गोपाल आर्यक ही कर रहा है और वह इस प्रकार 'लहुरावीर' का सेवक बन गया है। इस बीच राजा का स्वर्गवास हो गया और युवराज के राज्याभिषेक के उपलक्ष्यमें हलद्वीप में समारोहों का ताँता लग गया। ग्रामीण मुखरा वधुओं ने मृणालमंजरी को बतलाया कि वह प्रसिद्ध अभिमानिनी गणिका मंजुला की ही बेटी है जो इस प्रकार के समारोहों की रानी रह चुकी है। नये राजा के अनियंत्रित उल्लास के कारण हलद्वीप के नागरिकों की प्रतिष्ठा सुरक्षित न रही और एक दिन चन्दनक से अपमानित होने के कारण मृणाल को अपनी रक्षा के लिए आर्यक का आश्वासन प्राप्त करना पड़ा। किंचित् व्यवधान के पश्चात् आर्यक और मृणालमंजरी परस्पर परिणय के सूत्र में बँध गये। कुछ दिनों बाद वृद्ध गोप की मृत्यु के पश्चात् देवरात भी घर से निकल पड़े। उपन्यास की कथा आरम्भ से लेकर इस बिन्दु तक बिना किसी व्यवधान के कालक्रमानुसार बढ़ती चली आयी। कथा को हलद्वीप से द्विवेदीजी को बाहर निकालना था अतः उन्होंने पाठशाला से भागे श्यामरूप की कथा को लाकर इस स्थान पर जोड़ दिया। आश्रम से भागने के पश्चात् श्यामरूप एक नटमण्डली में जा मिलता है जहाँ वह श्यामरूप से छबीला पंडित बन जाता है। यह यायावर नटमण्डली अपने साथ अनेक भगाकर लाई गई स्त्रियाँ भी रखती थी, जिनका कुत्सित व्यापार नटमण्डली के मालिक जम्भल चौधरी का प्रमुख काम था। मांदी नामक एक बालिका, जो इस नट मण्डली के चंगुल में आ गई थी, सहज ही श्यामरूप का हृदय जीत लेती थी। एक दिन स्त्रियों के परिहास से घबराकर श्यामरूप नटमण्डली को भी छोड़कर भाग खड़ा होता है, पर मांदी के लिए उसके हृदय में कसक बनी रहती है। मांदी को जम्भल चौधरी ने किसी गायिका के दलाल के हाथ बेच दिया था। मांदी को ढूँढ़ने के प्रयास में श्यामरूप मथुरा जाता है जहाँ पंच वृष्णिवीर मन्दिर में उसका परिचय एक पुजारी से होता है। मथुरा में राजा के साले भानुदत्त के प्रिय मल्ल मागू को पछाड़ देने के कारण श्यामरूप, जो यहाँ छबीला पंडित से शार्विलक बन गया था, चण्डसेन की विशेष कृपा का भाजन बनता है। यहीं पर शार्विलक का परिचय वीरक से होता है जो हलद्वीप का रहनेवाला था और मथुरा में आने के पूर्व गोपाल आर्यक की मण्डली का एक विश्वासपात्र सदस्य था। वीरक के माध्यम से बीच की छूटी कथा उपन्यास में आकर जुड़ जाती है। वीरक, गोपाल आर्यक की लोकापवाद के कारण भागनेवाली बात तथा स्वयं आपबीती कहानी से श्यामरूप को परिचित कराता है और उपन्यास की कथा की क्रमबद्धता को, जो बीच में टूट सी गयी थी, जोड़कर मथुरा तक लाने का प्रयत्न करता है। श्यामरूप

भी आपबीती सुनाकर कथा को विश्वसनीय एवं समृद्ध बनाता है। वीरक के द्वारा ही उसे ज्ञात होता है कि जम्भल चौधरी ने मांदी को जिन लोगों के हाथ बेचा है, वे लोग उसे बेचकर और अच्छा धन प्राप्त करने की आशा में उज्जयिनी की ओर बढ़ रहे हैं। श्यामरूप अर्थात् 'शार्विलक' मांदो को ढूँढ़ने की दृष्टि से उज्जयिनी जाने की योजना बनाता है जो चण्डसेन की कृपा से सफल हुई। चण्डसेन अपने परिवार को मथुरा में असुरक्षा के भय से शार्विलक के साथ उज्जयिनो भेज देते हैं। चण्डसेन मथुरा और उज्जैन दोनों ही राजवंशों के पितृव्य थे।

अनेक सामाजिक एवं राजनैतिक उथल-पुथल के बावजूद उज्जयिनी लोगों के आकर्षण का केन्द्र बनी रही। विदिशा से होकर उज्जयिनी जानेवाले मार्ग पर माढव्य और चन्द्रमौलि एक दूसरे से मिले और साथ हो लिये। ये दोनों आगे बढ़ ही रहे थे कि किसी के यह कहने पर वे वहीं छिप जाते हैं—"यदि उज्जयिनो जा रहे हो तो यहीं रुक जाओ, वहाँ ताण्डव हो रहा है। म्लेच्छ सेना पीछा करती हुई आ रही है।" यहीं छिपे हुए माढव्य और चन्द्रमौलि से गोपाल आयक की भी भेंट होती है और वे परस्पर एक दूसरे से परिचित होते हैं। अतः एक लम्बे अन्तराल के बाद उपन्यास की कथा में गोपाल आर्यक पुनः प्रकट होता है और माढव्य तथा चन्द्रमौलि जैसे कथा में दो नवीन पात्रों द्वारा उपन्यास के उत्तरार्ध की कथा को अपने इर्द-गिर्द लाने का अवसर पा जाता है। एक प्रकार से उपन्यास की कथा का तीसरा चरण यहीं से आरम्भ होता है। प्रथम चरण का केन्द्र हलद्वीप बना, दूसरे चरण में कथा मथुरा के आसपास घूमती रही और तीसरे चरण में वह उज्जयिनी की ओर उन्मुख हो जाती है। प्रथम चरण के प्रमुख पात्र जैसे श्यामरूप, और गोपाल आर्यक ही आगे चलकर क्रम से द्वितीय और तृतीय चरण में नये पात्रों के साथ कथा का विकास करते हैं। कथा का तीसरा चरण, जो उज्जयिनो के आसपास पूरा होता है, इस दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है कि सभी बिछुड़े पात्र, जो इस लम्बी अवधि में जीवित बच रहे, उज्जयिनी में इकट्ठे हो जाते हैं। कुछ मिलते हैं, कुछ मिलने का प्रयत्न करते हैं और कुछ उपस्थिति की सूचना मात्र से सन्तुष्ट रह जाते हैं। उपन्यास की कथा की स्वाभाविकता को यह चरण इसलिए आघात पहुँचानेवाला है कि देश-काल की सीमाओं का अतिक्रमण कर अधिकांश पात्र संयोग के आधार पर उज्जयिनी में एकत्र कर दिये गये हैं। यद्यपि उपन्यासकार ने पात्रों के उज्जयिनी आगमन की पूर्व सूचना के आधार पर संगति प्रदान करने की चेष्टा की है, पर उसे चेष्टा के रूप में ही स्वीकार करना पड़ेगा। कथा को समेटने के लिए विविध दिशाओं में बिखरे हुए पात्रों को कथा के माध्यम से लक्ष्य की ओर ले जाने की दृष्टि से इस पद्धति के सिवाय और कोई दूसरा चारा नहीं था।

चन्द्रमौलि कवि और माढव्य विदूषक हैं। उन लोगों के बीच गोपाल आर्यक को ऐसा लगा कि कवि वाणी के रूप में चन्द्रमौलि उसके मनके द्वन्द्व और लोकापवाद के चोर को अनजान में ही प्रकट कर रहा है। परिणामस्वरूप अवसर पाकर गोपाल आर्यक उन दोनों का साथ छोड़कर भाग जाता है। इसे संयोग ही कहें कि देवरात की भी भेंट चन्द्रमौलि से हो जाती है और बातचीत में देवरात को पता लगा कि वह उसकी दिवंगत पत्नी शर्मिष्ठा की बहन सुनीता का ही पुत्र है। देवरात के हृदय का घाव एक बार फिर ताजा हो जाता है। उसके जीवन में पुनर्नवा की यह दूसरी महत्व-पूर्ण घटना घटती है। पहली बार उसने मंजुला के रूप में शर्मिष्ठा को देखा था, तब घाव ताजा हुआ था और दूसरी बार शर्मिष्ठा की बहन सुनीता के पुत्र को देखकर शर्मिष्ठा की स्मृति ने घाव को पुनः ताजा कर दिया। देवरात को चन्द्रमौलि से ही गोपाल आर्यक का समाचार प्राप्त होता है। उज्जयिनी में एक दिन अचानक शार्विलक को मांदी चारुदत्त के यहाँ मिलती हैं। उज्जयिनी में विद्रोह की आग प्रज्वलित होती है और अचानक यह समाचार फैल जाता है कि गोपाल आर्यक ने नपुंसक राजा को यमलोक भेजकर भानुदत्त को बन्दो बना लिया है। उज्जयिनो में विद्रोह की लपटें उठ रही हैं पर गोपाल आर्यक ने शासन सम्भाल लिया है। विद्रोह को दबाने में शार्विलक की भूमिका कम महत्वपूर्ण नहीं थी। शीघ्र ही शान्ति स्थापित हुई और गोपाल आर्यक ने सम्राट् समुद्रगुप्त द्वारा सहायतार्थ भेजी सेना के नायक भटार्क के ऊपर उज्जयिनी का भार सौंप दिया। चारुदत्त की पत्नी धूता के विशेष आग्रह के कारण गोपाल आर्यक ने सम्राट् से मिलने के लिए मथुरा के लिए प्रस्थात किया। सेनापति भटार्क ने गोपाल आर्यक के लोकापवाद के भय से भाग जाने के कारण जितनी भी लड़ाइयाँ जीतीं, उन सबका श्रेय वह गोपाल आर्यक को ही देता रहा, एक विश्व-सनीय अनुचर की भाँति। उज्जयिनी का भार सम्भालने के लिए गोपाल आर्यक उसे बड़ी कठिनाई से ही राजी कर सका था। गोपाल आर्यक के मथुरा के लिए प्रस्थान के साथ ही उपन्यास की कथा का चौथा चरण आरम्भ होता है। उसके प्रस्थान के पूर्व उज्जयिनी में घटी घटनाओं की सूचना सम्राट् समुद्रगुप्त द्वारा भेजे गये आदेशों की पुष्टि से मिलती है जो सहजभाव से उपन्यास की कथा का अंग बन जाती है—'इसी समय धनंजय ने आकर अभिवादन किया। सम्राट् ने पूछा कि उनके आदेशों का कैसा अनुपालन हुआ? धनंजय ने बताया कि सेनापति भटार्क को आदेश दे दिया गया है कि वे आर्य चण्डसेन को उज्जयिनी का नरेश बनाने की व्यवस्था करें। सम्राट् स्वयं तिलक देने उज्जयिनी पहुंचेंगे। आर्य चारुदत्त और महामल्ल शार्विलक के राजकीय सम्मान के आयोजन का भी आदेश भेज दिया गया है। यह भी व्यवस्था की गई है कि राजकीय सम्मान के बाद आर्य शार्विलक के हलद्वीप जाने की पूरी व्यवस्था कर दी जाय। सम्राट् ने सन्तोष के साथ कहा—बहुत ठीक।'

उपन्यास की कथा के बीच ही में सन्दर्भ निकालकर उपन्यासकार ने सूचना दे दी थी कि गोपाल आर्यक के भाग जाने के बाद चन्द्रा हलद्वीप में आकर मृणालमंजरी के साथ सगी बहन जैसी रहने लगी है। उसके सद्‌व्यवहारों के कारण मृणालमंजरी का एकमात्र शिशु शोभन चन्द्रा को ही सगी माँ समझने लगा है। मृणालमंजरी से दूर चली जाने के बाद चन्द्रा ने जिस तन्मयता के साथ गोपाल आर्यक की सेवा की थी उसे जानकर मृणाल के मन का मैल भी धुल गया और वह उससे श्रद्धा करने लगी है। सुमेर काका की सहायता से चन्द्रा और मृणाल बटेश्वर तीर्थ की यात्रा जलमार्ग से करती हैं। सम्राट् समुद्रगुप्त स्वयं चुने हुए सैनिकों के साथ प्रच्छन्न रूप में सुरक्षा की दृष्टि से यात्रा के सहभागी बनते हैं। इस स्थल पर उपन्यासकार ने सम्राट् समुद्रगुप्त के व्यक्तित्व को उभाड़कर रखने का प्रयत्न किया है। बटेश्वर तीर्थ में आकर कथा रुक जाती है और एक अन्तराल के बाद गोपाल आर्यक की मथुरा वापसी के साथ यह कथा उपन्यास की कथा को पूर्णता की ओर ले चलने में सहयोग देती है। कथा का यह चौथा चरण उपन्यासकार द्वारा इतनी शीघ्रता में समाप्त कर लिया गया है कि जिससे ऐसा जान पड़ता है कि उसे उपन्यास समाप्त करने की बहुत जल्दी थी। बटेश्वर तीर्थ में आकर सम्राट् समुद्रगुप्त, सुमेर काका, चन्द्रा और मृणाल एक दूसरे से मिलते हैं। अपने उपन्यासों में अधूरी आकर्षक कथा कहने की कला में पटु द्विवेदीजी इस उपन्यास में एक दूसरे ही कथा-शिल्प का निर्माण करते हैं। कुछेक पात्रों को छोड़कर सबका राज-पाट ही नहीं लौटता बल्कि वे अपनी कथा को अत्यधिक सुखान्त बनाने की लपेट में बहुपत्नीत्व का भी समर्थन करते जान पड़ते हैं। उज्जयिनी में धूता और बसन्तसेना प्रेम और सहयोगपूर्वक चारुदत्त के साथ रहने लग जाती हैं। बटेश्वर तीर्थ में मृणालमंजरी और चन्द्रा प्रेमपूर्वक गोपाल आयक के साथ पटवास में चली जाती हैं। शार्विलक को उज्जयिनी में मांदी मिली, जिसे छोड़कर उसके जीवन में दूसरी नारी आई ही न थी। मात्र देवरात एक ऐसे महत्वपूर्ण पात्र हैं जो अपनी वेदना लिये कथा के अन्त का स्पर्श नहीं कर पाये, पर बटेश्वर तीर्थ में यदि वे होते तो गोपाल आर्यक और मृणालमंजरी के सुख को देखकर उनसे अधिक सुखी व्यक्ति और कोई दूसरा न होता। परिणामतः सहृदय पाठक उपन्यास की सुखान्त कथा में भी देवरात की करुण वेदना में डूबा रह जाता है, चाहे वह करुणा शर्मिष्ठाजन्य हो अथवा मंजुलाजन्य। अतः बटेश्वर तीर्थ में अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक समाप्त उपन्यास की कथा सुखान्त होते हुए भी वेदना को एक टीस छोड़ जाती है जिसकी सृष्टि में द्विवेदीजी का उपन्यासकार सदैव सिद्धहस्त रहा है। और बहुत कुछ जानने की इच्छा लिये हुए पाठक उपन्यास की कथा पूरी कर लेता है।

देश-काल

'पुनर्नवा' उपन्यास में वर्णित घटनाएँ अनेक स्रोतों से ली गई हैं जिनमें देश-काल का

भी अंतर है। कुछ घटनाओं को द्विवेदीजी ने इतिहास से जोड़ने का प्रयत्न अवश्य किया है, किन्तु उनमें से अधिकांश घटनाएँ या तो उनकी कल्पना की उपज हैं अथवा उन्हें संस्कृत साहित्य के किसी प्रख्यात कथानक से उन्होंने ले लिया है। लोकजीवन में चली आ रही प्रेम-गाथाओं से भी घटनाओं को ले लेने में द्विवेदीजी ने संकोच नहीं किया है। इसका उल्लेख किया जा चुका है। ऐसी स्थिति में उपन्यास में चित्रित देश-काल की प्रामाणिकता की परीक्षा कठिन हो जाती है। इतना अवश्य है कि द्विवेदी-जी ने कुषाण राज्य के पतन से लेकर समुद्रगुप्त की दिग्विजय तक की सीमा के भीतर ही उपन्यास में वर्णित समस्त घटनाओं को समेट लिया है। इतिहास के इस काल में राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ उनसे पूर्णतः मेल खाती हैं। उपन्यासकार द्विवेदीजी इतिहास से हटकर ऐतिहासिक संगति की रक्षा करते हुए जो कल्पना करते हैं, उसका कहीं भी विरोध इतिहास से नहीं होने पाता। अपनी इस कला का परिचय उन्होंने अपने अन्य उपन्यासों में भी दिया है अतः कुषाण राज्य के पतन से लेकर समुद्रगुप्त की दिग्विजय तक का इतिहास किसी न किसी रूप में 'पुनर्नवा' में सुरक्षित है।

देवरात

उपन्यास के आरम्भ में ही देवरात का प्रवेश उपन्यासकार के इस कथन के साथ होता है कि "देवरात साधु पुरुष थे।" इस वाक्य के साथ ही द्विवेदीजी ने 'पुनर्नवा' उपन्यास का आरम्भ किया। उपन्यास के आरम्भ में देवरात को प्रस्तुत करने का यह तात्पर्य होता है कि यह उपन्यास का केन्द्रवर्ती चरित्र है जिसके प्रभामंडल में उपन्यास की संरचना को पूर्णता मिलनी है। यद्यपि देवरात उपन्यास के अन्त में फलागम के समय आशीर्वाद देने के लिए प्रस्तुत न हो सके, पर समूचे उपन्यास पर उनके विराट् व्यक्तित्व का प्रभाव परिलक्षित है। यह एक ऐसा पात्र है जिसके माध्यम से उपन्यास-कार ने अपनी मान्यताओं को अपने व्यक्तित्व की शक्ति देकर प्रस्तुत किया है। जयशंकर प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक के 'चाणक्य' की भाँति सब कुछ करने की प्रेरणा देकर वह उपन्यास की फलसिद्धि के समय दृश्य से दूर रहकर सहृदय पाठक के हृदय मे वेदना की एक टीस छोड़ जाता है। अपने अन्य उपन्यासों से हटकर सभी पात्रों के सुखमय जीवन की व्यवस्था करने एवं उपन्यास में आयी सभी छोटी-बड़ी कथाओं को पूर्णता तक ले जाने का जो संकल्प इस उपन्यास में द्विवेदी जी ने लिया था उसे पूरा करने मे उन्हें सफलता तो अवश्य मिली पर देवरात उनके हाथों से बाहर निकल गया। उपन्यास के ढाँचे को तोड़कर देवरात के चरित्र का स्वतंत्र विकास हुआ और अपनी अनुपस्थिति की वेदना से उसने न केवल उपन्यास में दुःखान्त की सृष्टि की, बल्कि उसने अपनी अधूरी गाथा के साथ इस उपन्यास को भी द्विवेदीजी के प्रसिद्ध उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के साथ लाकर छोड़ दिया।

द्विवेदीजी के गहन अध्ययन, चिंतन एवं मौलिक सूझ-बूझ के द्वारा जिस साहित्यिक व्यक्तित्व का सृजन हुआ था उसकी चरम परिणति के रूप में देवरात को देखा जा सकता है। अनेक भारतीय महापुरुषों के व्यक्तित्वों का सर्वोत्तम अंश देवरात के चरित्र में सुलभ है। प्रख्यात यौधेय क्षत्रिय वंश में जन्म लेनेवाले युवराज 'देवरात' ने पश्चिमी सीमान्त पर हुए हूणों के आक्रमण पर तो विजय पा ली, पर विमाता की कुटिलता के कारण प्रिय पत्नी शर्मिष्ठा को खोकर अपने जीवन की बाजी हार गये। राजपाट छोड़कर वे ऐसे रमता राम बने कि हलद्वीप के निवासी यह भी नहीं जान सके कि वे कहाँ से आकर वहाँ बस गये थे। पौरुष एवं प्रेम के धनी 'देवरात' की विरक्ति समाज के लिए और भी कल्याणकारक बनी। वे दीन-दुखियों की सेवा में ऐसे तत्पर हुए कि अपने आसपास एक ऐसी आश्रम-सभ्यता का उन्होंने विकास किया कि उनमें कण्वऋषि एवं विदेह राजा 'जनक' के दर्शन एक साथ हो जाते हैं।

देवरात के व्यक्तित्व में एक ऐसा सम्मोहन था कि जिसके कारण नगरश्री मंजुला ऐसी अभिमानिनी गणिका भी उसके प्रभाव को झेल नहीं पाती और अहम् का त्याग कर एक दिन उसे हृदय से अपनी हार स्वीकार करनी ही पड़ती है। भगवतीचरण वर्मा द्वारा चित्रित 'चित्रलेखा' की भाँति जब एक दिन मंजुला नगरवासियों को चकित करती हुई आश्रम में आ धमकती है तो लोगों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। इतना अवश्य है कि भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' के 'कुमार गिरि' से द्विवेदीजी कृत 'पुनर्नवा' के 'देवरात' बिल्कुल भिन्न हैं। गृहस्थाश्रम की उपेक्षा करके बना तपस्वी कुमार गिरि अपनी साधना में असफल हो उपहास और निन्दा का विषय बनता है, पर गृहस्थाश्रम की लोकमंगलकारी चेतना से जुड़े रहने के कारण देवरात अपनी लोक-साधना में सफल होते हैं। वैयक्तिक प्रेम का लोकोन्मुख पर्यवसान जैसा देवरात के चरित्र में देखने को मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्रिय पत्नी शर्मिष्ठा की मृत्यु ने उन्हें जनसेवी बना दिया। सामन्ती संस्कृति की 'देवरात' अनुपम उपलब्धि हैं और भारतीय संस्कृति की सम्पूर्ण स्वस्थ चेतना का विकास उनके व्यक्तित्व में देखने को मिल जाता है। सच्चे अर्थों में देवरात एक संस्कृत राजपुरुष हैं जो आश्रम जीवन की मोक्षकामी तपश्चर्या को लोक-कल्याण के साथ जोड़ने में समर्थ हुए हैं। वे विदेह संस्कृति के अवशेष[1] और विरक्त होकर लोकहित कामना से सद्गृहस्थ हैं। तापस एवं राजन्य संस्कृति का अद्भुत समन्वय देवरात के चरित्र में देखने को मिलता है। कला के सच्चे पारखी देवरात नगर की अभिमानिनी गणिका मंजुला के नृत्य में भी त्रुटि देख लेते हैं, पर शिष्ट इतने कि उस त्रुटि को इस ढंग से प्रस्तुत करते हैं कि मंजुला के सम्मान में भी किसी प्रकार की ठेस न लगने पाये। नृत्य में भावानुप्रवेश को वे आवश्यक मानते हैं

१—पुनर्नवा, पृष्ठ १३

जिसका अभाव मंजुला के मोहक नृत्य में था। मंजुला को सम्बोधित करके उनका यह कहना कि "अपने को खोकर ही अपने को पाया जा सकता है। तुम्हारा नृत्य इसी महासाधना की ओर अग्रसर हो रहा है। इस महाविद्या के बल पर ही एक दिन तुम स्वयं को दलित द्राक्षा की तरह निचोड़कर महा अज्ञात के चरणों में दे सकोगी। फिर यह सोचकर कि मंजुला के चित्त को ठेस न पहुँच जाये, वे फिर उसी को सम्बोधित करके बोले 'अज्ञ जन दया का पात्र होता है, देवि! अवश्य ही तुमने कुछ समझकर ही भावानुप्रवेश की उपेक्षा की होगी। मैं तो अज्ञ श्रद्धालु के रूप में ही यह सब कह रहा हूं। इसे अन्यथा न समझना।" यह उनके कलामर्मज्ञ एवं संस्कृत होने का परिचायक है।

'देवरात' कलामर्मज्ञ होने के कारण सौन्दर्य के प्रशंसक अवश्य हैं, पर वासना उनके पास तक भी नहीं फटक पाती। मंजुला में वे अपनी प्रिय पत्नी शर्मिष्ठा को देखते अवश्य हैं, पर वे मंजुला के बाह्य रूप में नहीं बल्कि उसमें निहित देवत्व में ही अनुरक्त हैं। वे मिट्टी के गाहक नहीं, भावना के पुजारी हैं। महामारी की शिकार मंजुला के घर जाकर उसकी बच्ची को ले आना उनके चरित्र की लोकमंगलकारी उपलब्धि है, अतः साधु पुरुष देवरात का आश्रम गृहस्थाश्रम में बदल जाता है जहाँ श्यामरूप, गोपाल आर्यक तथा मृणालमंजरी का पालन-पोषण एवं बौद्धिक विकास होता है। स्वभावतः उनकी स्थिति कण्व ऋषि की हो जाती है जिसे मृणालमंजरी के विवाहोपरान्त देखा जा सकता है। इस प्रकार द्विवेदीजी ने पुनर्नवा के इस प्रतिनिधि पात्र द्वारा अपनी मान्यताओं को प्रस्तुत करने में सफलता प्राप्त की है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के 'भट्ट' की भाँति 'देवरात' भी नारी में देवता का निवास देखते हैं "तुम जिस पाप जीवन की बात कर रही हो वह मनुष्य की बनाई हुई विकृत सामाजिक व्यवस्था की देन है। चिन्ता न करो देवि, इससे उद्धार हो सकता है। तुम्हारा देवता तुम्हारे भीतर बैठा हुआ अवसर की प्रतीक्षा कर रहा है।"[1] देवरात में एक पिता के गुणों का सम्यक् विकास हुआ है। वे मृणाल को पुत्री के समान ही प्यार देते हैं। मंजुला द्वारा दी गई प्रतोलिका और उसमें रखे पत्र को जब वे देखते हैं तो उनकी स्थिति अत्यन्त कारुणिक हो जाती है। उनका सारा जीवन लोकोपकार में बीता। उन्होंने श्यामरूप और गोपाल आर्यक ऐसे नररत्नों का निर्माण किया जिनपर किसी भी देश-जाति को गर्व हो सकता है। इस प्रकार देवरात के रूप में अनजान में ही उपन्यासकार ने एक ऐसे चरित्र का निर्माण कर दिया है जो उपन्यास की कथा में बहुत कम प्रकट होकर भी उसपर छाया रहता है। जयशंकर प्रसाद के 'चाणक्य' की भाँति वह सब कुछ करता है पर प्रसन्नता के अवसर पर अनुपस्थित हो पाठक में वेदना की एक टीस छोड़ जाता है।

१—पुनर्नवा, पृष्ठ २२

गोपाल आर्यक

उपन्यास की कथा को सर्वाधिक आगे ले चलने के कारण गोपाल आर्यक को उपन्यास का नायक कहा जा सकता है। वैसे इस उपन्यास में एकाधिक ऐसे पात्र हैं जो कथा के आरम्भ से लेकर अन्त तक किसी न किसी रूप में वर्तमान रहते हैं। उदाहरण के लिए श्यामरूप का नाम लिया जा सकता है। उपन्यास में फल की प्राप्ति वस्तुतः गोपाल आर्यक को ही होती है और उपन्यास में घटनेवाली सभी महत्वपूर्ण घटनाओं का वह सूत्रधार भी है। गोपाल आर्यक में विकट से विकट संघर्षों को झेलने की पुरुषोचित क्षमता है पर वह झूठे लोकापवाद को झेल पाने में असमर्थ है। अपनी इसी कायरता के कारण वह एक भगोड़े की भाँति भागता रहता है जिससे उसके नायकत्व पर प्रश्नवाची चिह्न लग जाता है। आरम्भ में द्विवेदीजी ने गोपाल आर्यक में मूल रूप में जिन गुणों की प्रतिष्ठा की है वह उनके विकास में पूर्णतः असफल रहा है। पिता द्वारा आश्रम में देवरात के संरक्षण में रखे जाने पर उसने जिस प्रकार अपने व्यक्तित्व का विकास किया तथा लहुरावीर के सेवक के रूप में नवयुवकों के बीच जिस प्रकार के ओजस्वी नेतृत्व का परिचय दिया उसे देखकर उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जो सम्भावनाएँ लक्षित होती हैं यदि हम उसकी आशा उपन्यास में उसके व्यक्तित्व से करेंगे तो निराशा ही हाथ लगेगी। मृणालमंजरी ने अपनी रक्षा के लिए गोपाल आर्यक के पास संदेशा भेजा था जिसपर हुई गोपाल आर्यक की प्रतिक्रिया को देखकर पाठक को ऐसा लगता है कि हमें गोपाल आर्यक के रूप में इस उपन्यास में एक धीरोदात्त चरित्र मिलनेवाला है। पिता की इच्छा के विरुद्ध गणिका पुत्री मृणालमंजरी को पत्नी के रूप में स्वीकार कर आरम्भ में उसने जिस क्रान्तिकारिता का परिचय दिया है, उसका वह ओज आगे चलकर न जाने कहाँ चला जाता है और वह लोकापवाद के भय से इधर-उधर भागा-भागा फिरता है।

गोपाल आर्यक ऐसा महत्वपूर्ण व्यक्ति, जिसकी वीरता का डंका आर्यावर्त में बज चुका है, जो अनेक युद्धों का विजेता है, सम्राट् समुद्रगुप्त के नये सखा बनने का जिसे सौभाग्य प्राप्त है तथा हलद्वीप का जो राजा बनने की क्षमता रखता है, वह लोकापवाद के भय से बाग-बगीचों से लेकर अनजान गाँव-गिराँव में भटकता रहता है और चन्द्रा छाया की भाँति उसका पीछा करती रहती है और लोग उसे पहचान पाने में भी सक्षम नही हैं—आदि ऐसे प्रसंग हैं जो उसके चरित्र की स्वाभाविकता नष्ट किये बिना नही रहते। परिणीता पत्नी मृणाल के सामने भी इसलिए नहीं जाता कि चन्द्रा उसके पीछे हाथ धोकर पड़ गई है। पुरुष की इस स्थिति का चित्रण द्विवेदीजी ने बाण-भट्ट की आत्मकथा में भी किया है। निपुणिका और भट्टिनी दोनों ही बाणभट्ट से प्रेम करती हैं पर उनमें से कोई भी बाणभट्ट की परिणीता नही है तथा उनका प्रेम अतृप्त

है। इतना अवश्य है कि बाणभट्ट में भी संकोच और संयम की पराकाष्ठा है। पुनर्नवा की चन्द्रा इस अर्थ में उनसे भिन्न है कि वह अत्यन्त मुखरा है और समाज के वाह्य संयम और नियम को अपनी तेजस्विता से तोड़ डालती है। भगोड़े गोपाल आर्यक का पीछा करती वह अनेक अवसरों पर उसकी अत्यन्त निकटता प्राप्त करने में सफलता प्राप्त करती है फिर भी उसका नैकट्य गोपाल आर्यक को विचलित नहीं कर पाता। चन्द्रा स्वीकार भी करती है कि गोपाल आर्यक मन से ठंडा है। बाणभट्ट की भूमिका सांस्कृतिक है और वह केवल परिस्थियोंवश राजनीति से जुड़ता है। पर गोपाल आर्यक आरम्भ से ही राजनीति से जुड़ता ही नहीं उसमें सक्रिय भूमिका का निर्वाह भी करता है। अत्यन्त सामान्य परिवार में जन्म लेकर अपनी योग्यता के कारण गोपाल आर्यक अपने जीवन में वैभव के शिखर का स्पर्श करता है पर उसके भगोड़ेपन की संगति को ठीक-ठीक बैठा पाना कठिन है। उपन्यासकार ने उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास को ऐसा अवरुद्ध किया है कि यह चरित्र उसके हाथ की कठपुतली बनकर रह गया है।

'पुनर्नवा' उपन्यास की कथा में देश-काल और पात्र का जो बाहुल्य एवं विस्तार करना उपन्यासकार को अभीष्ट था उसके लिए ही लगता है उसने गोपाल आर्यक के चरित्र की स्वाभाविकता की बलि दी है।

उपन्यास की कथा का विस्तार इतना अधिक है और संयोग के आधार पर उपन्यास में घटनाएँ इतने अप्रत्याशित रूप में घटती हैं कि उन्हें उपन्यास के बिखरे पात्रों को देश और काल की सीमा की चिन्ता किये बिना एक स्थान पर इकट्ठा कर जोड़ पाना कठिन था। गोपाल आर्यक के लचीले चरित्र के कारण ही यह संभव हो सका है। ऐसी स्थिति में गोपाल आर्यक का उपन्यासकार के हाथ का खिलौना बन जाना स्वाभाविक है। उपन्यासकार ने उसमें साधारण-असाधारण तथा लौकिक-अलौकिक इतने गुणों का समन्वय किया है कि वह पारसीक रंगमंच का अभिनेता जान पड़ता है जिसकी स्वाभाविकता की चिन्ता नाटककार को कभी नहीं रहती। इतना अवश्य है कि द्विवेदीजी ने इस पात्र के माध्यम से यह स्पष्ट कर दिया है कि वीरता, प्रजाप्रियता एवं राज्य-संचालन की दक्षता केवल राजवंश की ही बपौती नहीं। अत्यन्त साधारण परिवार-जाति एवं अंचल में उत्पन्न होनेवाला व्यक्ति भी अपने गुणों के आधार पर राष्ट्र के सर्वोच्च शिखर पर आसीन हो सकता है। निश्चित रूप से इसके माध्यम से द्विवेदीजी ने राजवंश की निस्सारता और उस प्रजातन्त्र में आस्था व्यक्त की है जो गुणों के आधार पर किसी भी व्यक्ति को देश का सर्वोच्च सम्मान प्रदान करने का अवसर प्रदान करता है। मूल रूप में गोपाल आर्यक में औदात्य एवं मानवीय आदर्श गुण वर्तमान हैं। उसके समूचे चरित्र को एक साथ सामने रखकर स्वाभाविकता की दृष्टि से यदि हम विचार न करें और विविध संदर्भों में प्रस्तुत होनेवाले उसके

चरित्र को अलग-अलग देखने का प्रयास करें तो हमें उसमें अनेक सद्‌गुणों की झाँकी मिलती है। वह एक आदर्श पुत्र, आश्रम की मर्यादा का पालन करनेवाला एक आदर्श शिष्य, बन्धुत्व का निर्वाह करनेवाला एक आदर्श भाई, परिणीता पत्नी के प्रति आस्था रखनेवाला एक आदर्श पति, लोकापवाद से भयभीत रहनेवाला पर एक आदर्श प्रेमी तथा एक अजेय आदर्श सैनिक के रूप में इस उपन्यास में प्रस्तुत है।

वृद्धगोप के सम्मुख जिस विनय एवं आज्ञाकारिता का गोपाल आर्यक परिचय देता है उससे उसके एक आदर्श पुत्र होने का प्रमाण मिल जाता है। श्यामरूप यद्यपि उसका सगा भाई न होकर उसके पिता वृद्धगोप द्वारा पालित ब्राह्मणकुमार था फिर भी उसके साथ जिस बंधुत्व का परिचय गोपाल आर्यक ने दिया है उससे कृष्ण और बलराम का चरित्र सहज ही पाठकों की आँखों के सामने झूम जाता है। आश्रम से भाग जाने पर गोपाल आर्यक भी आश्रम छोड़कर श्यामरूप की तलाश के लिए जो निकल पड़ता है उससे उसके बंधुत्व का सहज ही परिचय मिल जाता है। यद्यपि लोकापवाद के भय से वह परणीता पत्नी मृणालमंजरी को छोड़कर भाग जाता है पर उसने कभी भी अपने हृदय के आसन से मृणालमंजरी को वंचित नहीं किया और एक पति अपनी पत्नी को जो सम्मान एवं विश्वास दे सकता है गोपाल आर्यक हृदय से उसे देता रहा है। जिस चन्द्रा के कारण उसे दर-दर भटकना पड़ा, स्वजनों से मुँह छिपाना पड़ा उससे वह कभी भी घृणा नहीं करता, बल्कि उसकी सेवाओं से अभिभुत रहता है। यह दूसरी बात है कि लोकमर्यादा और प्रेमी जीवन के औचित्य के बीच उसके मन में बराबर अन्तर्द्वन्द्व बना रहा, जिसके कारण आरम्भ में, वह किसी निर्णय पर पहुंचने में असमर्थ रहा। अवसर आने पर धूता के प्रोत्साहन से वह लोकापवाद को नकार चन्द्रा को स्वीकार करने की ओर आगे बढ़ता है जिसकी चरम परिणति उसकी साध्वी पत्नी मृणालमंजरी की सदाशयता से संभव हुई। इस प्रकार द्विवेदी-जी ने आर्यक के चरित्र को निष्कलंक रखते हुए पत्नी और प्रेमिका को एक साथ रख जड़ीभूत सामाजिक सभ्यताओं की उपेक्षा करते हुए नवीन दाम्पत्य-जीवन को मान्यता प्रदान की है। कुछ लोगों को इसमें बहुपत्नीत्व के समर्थन की गंध आ सकती है, पर चन्द्रा के प्रेम का जो स्वरूप आगे चलकर विकसित हुआ है उससे तो वह मृणालमंजरी और गोपाल आर्यक की ऐसी सेविका बन जाती है कि उसमें प्रेम की ऐसी अलौकिकता के दर्शन होते हैं कि जिसके सम्मुख न जाने कितनी सती-साध्वी एवं पतिव्रता पत्नियों को निछावर किया जा सकता है। प्रेम के क्षेत्र में वह रणछोड़ कृष्ण तो अवश्य है पर युद्ध के क्षेत्र में वह कभी भी न विचलित होनेवाला अजेय योद्धा है।

द्विवेदीजी के उपन्यासों के प्रायः सभी नायक प्रेम का त्रिकोण बनाकर घुटन के शिकार बने रहते हैं, पर गोपाल आर्यक का त्रिकोण एक सीधी लकीर बन जाता है।

अत: एक कुंठाहीन पात्र के रूप में गोपाल आर्यक उपन्यास के अंत में प्रस्तुत हो, द्विवेदीजी द्वारा उपन्यास में प्रस्तुत सामाजिक मूल्यों पर नये ढंग से पाठकों को सोचने के लिए विवश करता है।

श्यामरूप

इस उपन्यास में श्यामरूप, उपन्यास नायक गोपाल आर्यक का सहयोगी पात्र है। श्यामरूप देवरात को, शिष्य रूप में गोपाल आर्यक के पिता वृद्धगोप से मिलता है। श्यामरूप ब्राह्मणकुमार था जिसे वृद्धगोप ने पुत्र के समान पाला था। वृद्ध-गोप के इच्छानुसार देवरात ने श्यामरूप को संस्कृत शास्त्र की शिक्षा के लिए मंदिर में भेज दिया, पर वह वहाँ से भाग खड़ा हुआ। ऐसा इसलिए हुआ कि श्यामरूप की रुचि शास्त्र की अपेक्षा मल्ल-विद्या में अधिक थी। श्यामल वर्ण होने के कारण वृद्धगोप ने श्यामरूप नाम रखा था। श्यामरूप गोपाल आर्यक से वय में बड़ा था, पर छोटे भाई की भाँति वह गोपाल आर्यक का अनुगत रहा। गोपाल आर्यक गोरे वर्ण का था पर उसकी भूमिका इस उपन्यास में कृष्ण जैसी रही। श्यामरूप और गोपाल आर्यक इस उपन्यास में द्वापर के बलराम और कृष्ण की याद दिलाते हैं। दोनों के वयक्रम में तो यहाँ भी कोई अंतर नहीं है, पर वर्ण में अन्तर आ गया है। यहाँ श्यामरूप के रूप में बलराम श्याम वर्ण के, और गोपाल आर्यक रूप में कृष्ण गोरे वर्ण के चित्रित जान पड़ते हैं। श्यामरूप और गोपाल आर्यक आश्रम जीवन में थोड़े ही दिनों तक साथ रहकर बिछुड़ जाते हैं और एक लम्बे अर्से के बाद उस समय मिलते हैं जब उज्जयिनी का विप्लव समाप्ति पर था और गोपाल आर्यक को विजयश्री लगभग मिल चुकी थी। महाभारत की समाप्ति पर जैसे बलराम अंतिम दृश्य पर उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार उपन्यास की घटनाओं की लगभग समाप्ति पर ही उज्जयिनी में श्यामरूप उपस्थित हो गोपाल आर्यक के लिए सम्बल बनता है। श्यामरूप के व्यक्तित्व के यद्यपि कई आयाम हैं, पर उसके चरित्र में कहीं भी कोई उलझाव नहीं दीखता। आश्रम छोड़कर वह इसलिए भाग जाता है कि उसकी इच्छा मल्ल बनने की है। मल्ल बनने की इच्छा से वह जम्भल चौधरी की नटमंडली के सम्पर्क में आता है, जहाँ मांदी नामक एक बालिका के प्रति उसके हृदय में सरस भाव उत्पन्न हो जाता है। मांदी अपनी इच्छा के विरुद्ध इस नटमंडली के हाथ लग गयी थी जिसे कहीं अच्छे दाम पर बेचकर पैसा प्राप्त करना जम्भल चौधरी का मुख्य उद्देश्य था।

नटमंडली में आकर श्यामरूप छबीला पण्डित के नाम से विख्यात हुआ। एक दिन स्त्रियों के परिहास से घबराकर छबीला पंडित नटमण्डली से भी भाग खड़ा होता है, पर उसके हृदय में मांदी के लिए एक कसक बनी ही रहती है, जिसे जम्भल चौधरी ने

किसी गणिका के दलाल के हाथ बेच दिया था। मांदी की तलाश में जब श्यामरूप मथुरा पहुंचता है तो वह वहाँ पहुँचकर छबीला पण्डित से शार्वलिक बन जाता है। श्यामरूप को मांदी मथुरा में भी न मिली। वह उसे उज्जयिनी में चारुदत्त के यहाँ अचानक मिल जाती है। मांदी की खोज में ही अवसर निकालकर श्यामरूप मथुरा से उज्जयिनी आया था। यहीं उसे अचानक समाचार मिलता है कि गोपाल आर्यक ने नपुंसक राजा को यमलोक पहुँचा दिया है और उज्जयिनी में विद्रोह हो गया है। विद्रोह को दबाने में श्यामरूप की भूमिका महत्वपूर्ण रही, जिससे उपन्यास में गोपाल आर्यक के सहयोगी पात्र के रूप में श्यामरूप का एक महत्वपूर्ण स्थान है। उपन्यास का यह एक ऐसा पात्र है जो अखाड़े में उच्च कोटि का मल्ल और जीवन में उत्तम कोटि का बन्धु तथा प्रेमी है। मांदी का अदृप्त प्रेम श्यामरूप के लिए इतना आकर्षक प्रमाणित हुआ कि उसे पाने के लिए उसने आकाश-पाताल एक कर दिया और अन्त में उसकी साहसिक प्रेम-यात्रा पूर्ण होकर रही। नटमंडली से लेकर गणिका की क्रीत दासी के रूप में नर्क में पड़ी मांदी का श्यामरूप ने उसी प्रकार उद्धार किया था। जिस प्रकार महावाराह ने धारित्री का उद्धार किया था। बाणभट्ट की आत्मकथा में बाणभट्ट और भट्टिनी का जो प्रेम अदृप्त रहने के कारण घुटन की ही सृष्टि करता रहा, पुनर्नवा में वही प्रेम आकर श्यामरूप और मांदी के रूप में अत्यन्त मुखर हो सफल दाम्पत्य जीवन का कारण बना है। इस प्रेम-यात्रा की सफलता में श्यामरूप के चरित्र की स्वाभाविकता तो नष्ट हुई है, पर एक पुरुषोचित आदर्श की स्थापना में उपन्यासकार को सफलता मिली है।

इस प्रकार श्यामरूप इस उपन्यास का एक ऐसा जीवन्त पात्र है जिसमें एक आदर्श भाई, एक मल्ल, एक आदर्श प्रेमी तथा एक आदर्श योद्धा के गुणों का सहज समन्वय हुआ है।

अन्य पुरुष पात्र

देवरात, गोपाल आर्यक और श्यामरूप इस उपन्यास के महत्वपूर्ण पात्र अवश्य हैं पर इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे पुरुष पात्र इस उपन्यास में हैं जो अल्पकाल के लिए उपन्यास के एकाधिक स्थल पर उपस्थित हो उपन्यास की कथा में रंग भरने एवं उसे गति प्रदान करने में सहायक सिद्ध होते हैं। वृद्धगोप, सम्राट् स्कन्दगुप्त, सुमेर काका, चन्द्रमौलि, माढव्य और चारुदत्त आदि इस उपन्यास के ऐसे पात्र हैं जो उपन्यास में थोड़े समय के लिए आते हैं पर अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ जाते हैं। वृद्धगोप एक सहृदय, सद्गृहस्थ एवं आदर्श पिता के रूप में चित्रित किये गये हैं। सम्राट् समुद्रगुप्त अपनी प्रशासकीय दक्षता, दृढ़ता एवं सूझ-बूझ के अतिरिक्त एक श्रेष्ठ मानव के रूप में चित्रित किये गये हैं जो सम्राट् होने के अतिरिक्त एक आदर्श सखा

और सहृदय युवक हैं। सुमेर काका इस उपन्यास के एक मस्तमौला एवं फक्कड़ पात्र हैं जो अपने सनकी स्वभाव के कारण उपन्यास की नीरसता को समाप्त कर उसमें पठनीयता की सृष्टि करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि इनका व्यक्तित्व पाठकों को अत्यधिक प्रभावित करनेवाला है। चन्द्रमौलि एक सहृदय युवक कवि है जो गुप्तकालीन साहित्यिक एवं सांस्कृतिक चेतना को प्रस्तुत करनेवाला पात्र है जिसमें कालिदास की स्पष्ट छाया दिखलाई पड़ती है। वह बहुत थोड़े समय के लिए उज्जयिनी के मार्ग पर माढव्य का दोस्त बनता है और इसी क्रम में देवरात की भी उससे भेंट होती है। देवरात और चन्द्रमौलि एक दूसरे के निकट सम्बन्धी हैं जिनकी जानकारी होने पर देवरात के हृदय का घाव एक बार फिर ताजा हो जाता है। माढव्य की सृष्टि उपन्यास में हास्य के लिए हुई है जो नाटकों में प्रस्तुत किये जानेवाले विदूषकों की स्मृति दिलाता है। चारुदत्त के रूप में एक अत्यन्त लोकप्रिय सुन्दर व्यक्तित्व-वाला मानवीय गुणों से युक्त एक ऐसा पात्र इस उपन्यास के द्वारा प्राप्त होता है जो एक आदर्श पति के साथ ही साथ एक सच्चा प्रेमी भी है। प्रेमिका वसन्तसेना एवं धूता के साथ जैसा निष्कपट आचरण चारुदत्त के द्वारा सम्भव हुआ है उससे वे तत्कालीन सामंती संस्कृति की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत करते हैं।

मंजुला

पुरुष पात्रों की अपेक्षा द्विवेदीजी के नारी पात्रों में अधिक जीवन्तता देखने को मिलती है और वे उपन्यास के प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने एवं उपन्यासकार द्वारा चित्रित मूल्यों को प्रस्तुत करने में अपेक्षाकृत अधिक सक्षम प्रमाणित हुई हैं। मंजुला उपन्यास का एक ऐसा ही चरित्र है जो समाज में दोहरा जीवन जीने के लिए विवश है। नारीविषयक सामाजिक दृष्टि की निस्सारता प्रकट करने के लिए ही द्विवेदीजी ने इस पात्र की सृष्टि की है। मंजुला हलद्वीप की एक ऐसी अभिमानिनी गणिका है जिसकी कायिक चेष्टाओं, स्थूल सौन्दर्य एवं कलात्मक नृत्य पर ही समाज की दृष्टि है जिसके कारण उसने भी जीवन में अहंकार पाल रखा है और कोई सोच भी नहीं सकता कि उस अहंकार शिला के नीचे सहज नारी-जीवन की स्रोतस्विनी प्रवाहित है जो यथावसर प्रकट होकर ही रहेगी। अपने अहंकार के कारण ही वह देवरात के प्रति ईर्ष्यालु है। कला-मर्मज्ञ देवरात अन्य लोगों की भाँति मंजुला के चमत्कृत करनेवाले कलात्मक नृत्य पर नहीं रीझते क्योंकि वे आन्तरिक गुणों के प्रशंसक हैं। देवरात की इस स्थिति को मंजुला झेल नहीं पाती और जिस भावानुप्रवेश की कमी की ओर देवरात ने संकेत किया था, एक अन्य आयोजन में सफलतापूर्वक उसे प्रस्तुत कर देवरात को अपने नृत्य के प्रति प्रशंसा करने के लिए विवश करती है। पर वह जीत-कर भी हार जाती है। भगवतीचरण वर्मा कृत 'चित्रलेखा' की भाँति वह देवरात

के आश्रम की ओर चल पड़ती है। भगवतीचरण वर्मा कृत कुमारगिरि चित्रलेखा में देवत्व की प्रतिष्ठा करने में असफल रहे पर देवरात ने मंजुला में देवत्व की प्रतिष्ठा की। मंजुला के इस परिवर्तन के मूल में उसका वह आंतरिक जीवन है जिसे वह एक अपमानिनी गणिका के समानान्तर जी रही थी। देवरात के प्रति उसका सहज स्वाभाविक आकर्षण उसकी नारीसुलभ विशेषता है जो परिस्थितियों के कारण मांसलता से ऊपर उठकर भावात्मकता की ऐसी ऊँचाई पर पहुँच गया है कि वह सचमुच गणिका से देवी बन गई है। मंजुला अपने को खोकर पाने की महाविद्या के बल पर एक दिन दलित द्राक्षा की तरह निचुड़कर महाअज्ञात के चरणों में समर्पित होने में जो सक्षम हो सकी उससे उसका नारी जीवन चरितार्थ हो गया। मंजुला से देवरात का यह कहना कि—"देवता न बड़ा होता है न छोटा, न शक्तिशाली होता न अशक्त। वह उतना ही बड़ा होता है जितना बड़ा उसे उपासक बनाना चाहता है।"—मंजुला के जीवन में परिवर्तन का कारण बना। और हम देखते हैं कि इसके बाद उपन्यास में एक ऐसी नई मंजुला का अवतरण होता है जिसमें देवरात अपनी सती पत्नी शर्मिष्ठा का साक्षात्कार करते हैं और पाठक जिसमें एक सती साध्वी तपस्विनी जैसी ज्वालामयी नारी की ज्योति देखते हैं जिसपर अबतक गणिका जीवन की पंकिल राख जमी हुई थी। भावरूप में देवरात को अज्ञात पिता द्वारा प्राप्त अपनी पुत्री के पिता के रूप में स्वीकार करनेवाली मंजुला जब महामारी का शिकार बनती है तो अपने महल में चिरअभिलषित देवरात को पाकर कृतकृत्य हो जाती है। इस अवसर पर पाठक मंजुला में बौद्ध कालीन गणिका वासवदत्ता की झाँकी देखते हैं, जिसका आतिथ्य प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु ने स्वीकार किया था। मृणालमंजरी के रूप में वह अपनी स्मृति छोड़कर उपन्यास की कथा से विदा ले लेती है। पर यह एक ऐसा केन्द्रवर्ती नारी-चरित्र है जिसके आधार पर ही इस उपन्यास का ढाँचा खड़ा है।

मृणालमंजरी

'बाणभट्ट की आत्मकथा' की भट्टिनी की भाँति ही मृणाल मंजरी का चरित्र इस उपन्यास में अत्यंत गौरवशाली है। देवरात के आश्रम में पली मृणालमंजरी अपने सौंदर्य एवं शील के कारण कालिदास के शकुन्तला की याद दिलाती है। मेनका पुत्री शकुन्तला को भाँति ही गणिका पुत्री मृणालमंजरी कण्व ऋषि रूपी देवरात द्वारा पालित हो एक आदर्श भारतीय नारी का चरित्र प्रस्तुत करती है। उसमें नारी सद्-गुणों का पूर्ण विकास देखने को मिलता है। आरम्भ में एक लज्जाशीला बालिका के रूप में गोपाल आर्यक का नाम लेने पर भी जब हम उसे शरमाते देखते हैं तो सहज ही उसके भावी नारी जीवन स्वरूप की कल्पना हमारे मन में बनने लगती हैं। लोका-

पवाद के भय से गोपाल आर्यक के भाग जाने तथा उसके साथ चन्द्रा के नाम के जुड़ जाने के बाद भी उसके मन में गोपाल आर्यक के प्रति जो अटूट आदर एवं विश्वास बना रहता है उससे वह अपने आन्तरिक सद्गुणों का परिचय देती है। देवरात, मृणाल-मंजरी का विवाह गोपाल आर्यक से कर देने के बाद आश्रम छोड़कर चले जाते हैं। गोपाल आर्यक के पिता वृद्धगोप भी दिवंगत हो जाते हैं तथा गोपाल आर्यक के भाग जाने से वह अपने छोटे से शिशु शोभन के साथ नितान्त अकेली रह जाती है। हलद्वीप की रानी होते हुए भी वह राजकाज से अलग रह एक साधारण नारी जीवन का निर्वाह करती है पर कहीं भी झंझावातों के बीच उसका मन नहीं डिगता।

विकट से विकट परिस्थितियों में धैर्य रखनेवाली मृणाल केवल एक पत्नी और आदर्श माता ही नहीं बल्कि एक ऐसी भारतीय नारी भी है जो संकट की घड़ियों में देशवासियों में प्रेरणा का मन्त्र भी फूंकती है और आवश्यकता पड़ने पर युद्धक्षेत्र तक में जाने की बात करती है। अपने छोटे से शिशु का पालन-पोषण करते मृणाल-मंजरी भगोड़े पति गोपाल आर्यक के सन्दर्भ में हमें प्रसाद कृत कामायनी की श्रद्धा की याद दिलाती है। यह दूसरी बात है कि श्रद्धा और मृणाल के संदर्भ भिन्न हैं। मृणाल इस उपन्यास में अत्यन्त उदारमना आदर्श पत्नी के रूप में चित्रित है जो चन्द्रा ऐसी नारी को भी क्षमा कर देती है जिसके कारण ही उसे सारे संकट झेलने पड़े हैं, वह चन्द्रा को केवल क्षमा ही नहीं करती बल्कि उसे बहन जैसा सम्मान भी देती है। जिस प्रकार धूता, वसन्तसेना और चारुदत्त एक सुखमय गार्हस्थ्य जीवन का निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार मृणाल की सहायता के कारण ही गोपाल आर्यक, चन्द्रा तथा मृणाल परस्पर साथ रहकर गार्हस्थ्य जीवन की सृष्टि करते हैं। मृणाल इस उपन्यास का आदर्श नारी चरित्र है जिसे उपन्यासकार की सर्वाधिक सहानुभूति मिली है।

चन्द्रा

चन्द्रा इस उपन्यास का सर्वाधिक विवादास्पद नारी चरित्र है। द्विवेदीजी के अन्य उपन्यासों में जिन नारी मूल्यों की स्थापना की गई है चन्द्रा उनसे भिन्न जान पड़ती है। बाणभट्ट की आत्मकथा की निपुणिका यह जानते हुए भी कि भट्ट के हृदय में भट्टिनी के प्रति अनुराग है वह एक आदर्श प्रेमिका के रूप में निष्काम भाव से भट्ट के प्रति निछावर रहती है। भट्ट निपुणिका की सेवा-भावना के प्रति आदरवान अवश्य है पर उसके हृदय में भट्टिनी के प्रति जो प्रेम भाव है वह निपुणिका के प्रति नहीं। निपुणिका और भट्टिनी के बीच किसी प्रकार की ईर्ष्याजन्य कटुता नहीं बल्कि दोनों में परस्पर ऐसा सद्भाव है कि किसी प्रकार का कहीं भी कोई ऐसा संकट उत्पन्न नहीं होता जो प्रायः एक पुरुष के प्रति दो स्त्रियों के समान रूप से प्रेम करने के कारण उत्पन्न होता है। उपन्यास के अन्त में अभिनय के समय निपुणिका ने अपनी ऐहिक लीला

समाप्त कर प्रेम के त्रिकोण को एक सीधी रेखा में परिवर्तित कर दिया। उसने भट्टिनी का मार्ग प्रशस्त कर भट्ट को भी अपनी ओर से मुक्त कर एक आदर्श नारी मूल्य की स्थापना की। चारुचन्द्रलेख में भी मैना मृत्यु को प्राप्त कर चन्द्रलेखा और सातवाहन के बीच से हट जाती है। भट्टिनी और निपुणिका दोनों प्रेमिकाएँ हैं, उनमें से किसी का परिणय बाणभट्ट से नहीं हुआ था। चन्द्रलेखा, सातवाहन की रानी बन चुकी थी। पर दोनों ही स्थितियों में द्विवेदीजी ने प्रेम की एकोन्मुखता अथवा एकपत्नीव्रत का समर्थन किया है। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि वे बहुपत्नीत्व की भावना को समाज के लिए श्रेयस्कर नहीं मानते। पुनर्नवा में आकर चन्द्रा के प्रसंग को लेकर वे बिल्कुल बदल जाते हैं जिससे पाठक को थोड़ी परेशानी होती है और उसके मन में सहज जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि द्विवेदीजी ने ऐसा क्यों किया? बहुपत्नीत्व का समर्थन कर वे किस सामाजिक मूल्य की स्थापना करना चाहते हैं चन्द्रा के सम्बन्ध में पाठक इस प्रश्न का उत्तर चाहता है। उपन्यासकार द्विवेदीजी अपने अन्य उपन्यासों में गृहीत कथानक को ऐसे बिन्दु पर लाकर छोड़ देते हैं कि पाठक की जिज्ञासा बनी रह जाती है और वह उसकी पूर्णता की अपने ढंग से कल्पना करता है। प्रमुख पात्रों के जीवन के सम्बन्ध में भी अधूरा वृत्त ही सामने आता है जिससे उनके भावी जीवन के सम्बन्ध में अनुकूल एवं प्रतिकूल संभावनाएँ पाठक के मन में उठती हैं। शिल्प की दृष्टि से भी पुनर्नवा उन उपन्यासों से इसलिए भिन्न है कि द्विवेदीजी इसमें आयी सभी कथाओं एवं पात्रों को पूर्णता तक पहुंचा देना चाहते हैं। पूर्णता तक कथाओं को ले चलने के कारण ही द्विवेदीजी ने अपने अन्य उपन्यासों में जिन प्रश्नों को आवश्यक समझकर उठाया था—चाहे वे सामाजिक रहे हों, चाहे वे पारिवारिक रहे हों अथवा प्रेम सम्बन्धी—उनका समाधान न देकर जो संकेत करके छोड़ दिया था उनके समाधान के लिए पूर्ण साहस के साथ पुनर्नवा उपन्यास की उन्होंने संरचना की। उपन्यासकार के इस उद्देश्य की पूर्ति में सर्वाधिक योगदान करनेवाला नारी चरित्र चन्द्रा का है जिसके माध्यम से द्विवेदीजी ने एक ऐसे क्रान्तिकारी नारी चरित्र की सृष्टि की है जो जीवन की वास्तविकता को स्वीकार कर सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक विपरीत परिस्थितियों में भी सत्य के लिए विद्रोह करता है। उसे न तो लोकापवाद का भय है, उसे न तो परिवार का डर है और न तो वह आड़े आनेवाली राज्य-व्यवस्था से भयभीत है। प्रेम की एकनिष्ठ पुजारी चन्द्रा सेवा की एक ऐसी मूर्ति है जिसने अपने प्रिय के लिए अपना सब कुछ निछावर कर दिया। उसे न समझने के कारण लोग उसे कुलटा कहते हैं। मृणाल और आर्यक के जीवन में कष्ट लानेवाली पुँश्चली नारी कहते हैं और पति के रहते हुए भी गोपाल आर्यक के पीछे हाथ धोकर पीछा करनेवाली व्यभिचारिणी कहते हैं। चन्द्रा के सम्बन्ध में कोई भी निर्णय तबतक उचित नहीं होगा जबतक कि हम उपन्यासकार

का मंतव्य नहीं जान लेते अथवा उपन्यास में उसकी वास्तविक भूमिका का हमें ज्ञान नहीं हो जाता। द्विवेदीजी का बराबर आग्रह रहा है कि यदि धर्म और संस्कृति को समयानुसार परिवर्तित नहीं किया गया और रूढ़ियों का अन्धानुकरण होता रहा तो समाज व्यवस्था टूटकर रहेगी। जिस पुरुष से चन्द्रा का विवाह हुआ था उसे उसने कभी पति के रूप में स्वीकार नहीं किया। विवाह के पूर्व ही वह गोपाल आर्यक को मनसा अपना पति स्वीकार कर चुकी थी। एक तो इच्छा के विरुद्ध उसका विवाह किया गया और विवाह भी एक ऐसे पुरुष के साथ किया गया जिसमें पुंसत्व का अभाव था।

चन्द्रा उपन्यास में एक स्थान पर आक्षेप का उत्तर देते हुए प्रश्न करती है कि क्या नारीका विवाह नारी के साथ हो सकता है? अर्थात् उसका पति पुरुष नहीं नारी है। गोपाल आर्यक ही उसका वास्तविक पति है जिसे विवाह के पूर्व ही वह मनसा स्वीकार करती आयी है। इस संदर्भ में द्विवेदीजी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाने के लिए विवाह के पूर्व कन्या की स्वीकृति आवश्यक है। पारिवारिक अहं एवं धर्म के नाम पर 'पुंसत्व विहीन' पति किसी भी समाज व्यवस्था के लिए मान्य नहीं है। यदि इसे स्वीकार कर समाज नहीं चलेगा तो अत्यन्त प्राचीन विवाह संस्था टूटकर रहेगी और उसका वही परिणाम होगा जो चन्द्रा के विवाह का हुआ। अन्त में चलकर द्विवेदीजी ने मृणाल और चन्द्रा दोनों को गोपाल आर्यक के साथ रहने की मान्यता प्रदान कर दी। इसे कुछ लोग बहुपत्नीत्व के समर्थन की संज्ञा देकर अनुचित ठहरा सकते हैं पर इस प्रसंग को दूसरे ढंग से सोचना होगा और यदि उपन्यास में वर्णित काल में इस प्रकार के प्रमाण मिलते हैं तो देश-काल की दृष्टि से इसे अनुचित नहीं ठहराया जा सकता। गुप्तकाल को इस उपन्यास में रचना का आधार बनाया गया है जिसमें राजा एवं वीर पुरुष एकाधिक पत्नियाँ रखने के लिए स्वतन्त्र थे। ध्रुवस्वामिनी अथवा ध्रुवा इच्छा के विरुद्ध सम्राट रामगुप्त को ब्याह दी गयी थी। रामगुप्त अपनी पौरुषहीनता के कारण राज्य की रक्षा नहीं कर पाता और सन्धि के उपहारस्वरूप साम्राज्ञी ध्रुवस्वामिनी को शकराज के पास भेजना चाहता है तो वह रामगुप्त को पति मानने से इनकार कर पौरुषवान युवक चन्द्रगुप्त को पति के रूप में स्वीकार कर लेती है जिसका समर्थन पुरोहित भी साहस के साथ करता है। रामगुप्त तो केवल कायर था, पुंसत्वविहीन नहीं पर चन्द्रा का पति तो पुंसत्वविहीन था। ऐसी स्थिति में चन्द्रा के विद्रोह का समर्थन न करना समाज में कार्य करनेवाली प्रगतिशील शक्तियों के विद्रोह को नकारना होगा।

द्विवेदीजी ने नारी शरीर को देवमंदिर कहा है और अपनी इस बात को वे सभी उपन्यासों में बार-बार दोहराते हैं। मंदिर में देवता का निवास होता है और द्विवेदीजी नारी में जिस देवत्व की प्रतिष्ठा के पक्षधर हैं वे उपन्यास के नारी पात्रों के माध्यम

से उसे उजागर करना चाहते हैं। व्यक्तिगत जीवन में भी वे बराबर इस बात पर बल देते रहे कि पुरुषों द्वारा की गयी नारी-निन्दा को मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता। लोगों का यह कहना कि सैकड़ों व्यक्ति एक साथ रह सकते हैं पर एक पुरुष के साथ दो पत्नियाँ सौहार्दपूर्वक नहीं रह सकतीं, द्विवेदीजी की दृष्टि में नितान्त भ्रामक है। पुरुष समाज की एकांगी दृष्टि ने केवल नारी शरीर को सामने रखकर नारी विषयक ऐसी धारणा बना ली है। यदि उसके देवत्व की ओर उसकी दृष्टि जाती तो वह इस प्रकार की आपत्तिजनक बातें नारियों के विषय् में न करता। चन्द्रा और मृणाल को गोपाल आर्यक के साथ प्रसन्नता एवं सौहार्दपूर्वक रखकर द्विवेदीजी ने नारी हृदय की उदात्तता और सदाशयता का उद्‌घाटन किया है। इसके अतिरिक्त यदि संकीर्ण दृष्टि से विचार किया जाय तो चंद्रा और गोपाल आर्यक को समाज के जिस वर्ग से लेकर उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है उस वर्ग में आज भी इस प्रकार के प्रेम-प्रपंच चलते रहते हैं। एक स्त्री एक पुरुष को छोड़कर दूसरे पुरुष को तथा एक पुरुष एक स्त्री को छोड़कर दूसरी स्त्री को स्वीकार कर लेता है और उसे किसी प्रकार की सामाजिक निन्दा का भाजन नहीं बनना पड़ता है। चन्द्रा ने जिस निर्भीकता एवं निर्लज्जता के साथ गोपाल आर्यक का पीछा किया उसके माध्यम से द्विवेदीजी ने एक जाति विशेष की आंचलिकता का बड़ा ही सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। द्वापर के कृष्ण पर जान निछावर करनेवाली गोपियाँ भी तो कृष्ण का साहचर्य प्राप्त करने के लिए अपने साहस और निर्लज्जता का परिचय देती हैं। पर उन्हें एक पछतावा रह गया था—

> **मोकौं माई जमुना जम ह्वै रही।**
> **कैसें मिलौं स्याम सुन्दर कौं बैरिनि बीच बही।।**
> **कितिक बीच मथुरा अरु गोकुल, आवत हरि जु नहीं।**
> **हम अबला कछु मरम न जान्यौ, चलत न फेंट गही।।**
> **अब पछितातिं प्रान दुख पावत, जाति न बात कही।**
> **सूरदास प्रभु सुमिरि-सुमिरि गुन, दिन-दिन सूल सही।।**

चन्द्रा फेंट गह लेती है और गोपियों की भाँति वह पछताती नहीं। इस प्रकार चन्द्रा के रूप में द्विवेदीजी ने एक ऐसे नारी चरित्र का निर्माण किया है जो सामाजिक कुरीतियों को लात मार सकती है, जो सत्य का गला घोंट देनेवाली धार्मिक रूढ़ियों को नकार सकती है, जो अपने प्रेमी को प्राप्त करने के लिए सारी सामाजिक व्यवस्था और यहाँ तक कि सम्राट से भी टकरा सकती है। सेवा की मूर्ति चन्द्रा बाणभट्ट की निपुणिका का परिवर्द्धित रूप है। इसके माध्यम से इस उपन्यास को एक ऐसा नारी चरित्र मिला है जो आज भी सर्वाधिक प्रासंगिक है। उपन्यास की शिल्प की दृष्टि से तो यह चरित्र इतना महत्वपूर्ण है कि यदि इसे निकाल लिया जाय तो न तो उप-

न्यास की कथा का विस्तार हो सकता है और न तो उपन्यासकार जो कुछ कहना चाहता है, उपन्यास में कह पाने में उसे सफलता ही मिल सकती है। वह मेहराब की एक ऐसी ईंट है कि जिसे निकाल लेने पर उपन्यास का सारा महल ही ढह जायेगा।

अन्य नारी पात्र

उपन्यास के अन्य नारी पात्र यथासमय उपन्यास में देश-काल के ही चित्रण के लिए तथा उपन्यास की कथा को गति प्रदान करने के लिए प्रस्तुत किये गये हैं। इस संदर्भ में नट मंडली के सरदार जम्भल के साथ चलनेवाला नारियों का काफिला महत्वपूर्ण है। श्यामरूप के साथ की गयी उनकी छेड़छाड़ एक कबीले के जीवन्त जीवन पर प्रकाश डालनेवाली है। इसी के बीच से मांदी अथवा मदनिका का एक ऐसा मोहक चित्र उभरता है कि जिससे श्यामरूप ऐसा पुरुष भी प्रभावित हुए बिना न रहता। वह राहु ग्रसित चन्द्रिका के समान है जो यथासमय अपनी शुभ चाँदनी बिखेर कर ही रहती है। श्यामरूप को पति के रूप में पाकर उसका नारी जीवन सार्थक हो गया। नारी जाति पवित्र है। उसमें देवता का निवास है। परिस्थितिजन्य पड़ी गर्द उसकी कांति को अधिक समय तक ढँक नहीं सकती। द्विवेदीजी की इस मान्यता को मांदी के चरित्र ने प्रमाणित कर दिया है।

धूता और वसन्तसेना, मृणाल मंजरी एवं चन्द्रा के या तो बीज चरित्र हैं अथवा इनके लघु संस्करण। इनके माध्यम से गुप्तकालीन संस्कृति की झाँकी प्रस्तुत की गयी है। वसन्तसेना में द्विवेदीजी ने एक साध्वी पत्नी का-सा भाव दिखलाकर यह प्रमाणित करना चाहा है कि समाज में हम जिनसे घृणा करते हैं उनके भीतर के देवता को हम पहचान नहीं पाते। घृणा उन परिस्थितियों से करनी चाहिए जिन्होंने मंजुला एवं वसंतसेना को गणिका जीवन स्वीकार करने के लिए विवश किया।

धूता एक ऐसी प्रेरणामयी नारी है जो न केवल अपने गणिकागामी पति चारुदत्त की पूर्ण समर्पिता पत्नी ही है बल्कि वह अपने अनुभव के आधार पर श्यामरूप तथा गोपाल आर्यक के अन्तर्द्वन्द्वों को मिटाकर सत्य को स्वीकार करने के लिए उद्बोधन देनेवाली स्पृहणीय नारी है।

संन्यासिनी माता इस उपन्यास में एक ऐसा नारी चरित्र है जो उपन्यास शिल्प में रहस्य की सृष्टि करनेवाला है और जीवन के अनेक रहस्यों को सुलझाने वाला है। उनमें अलौकिकता का समावेश कर उपन्यासकार ने उन्हें साधारण नारी धरातल से बहुत ऊपर उठा दिया है। इस प्रकार द्विवेदीजी के इस उपन्यास में चित्रित नारियाँ जाति, समाज एवं धर्म के संकीर्ण दायरे से बहुत ऊपर उठकर मानवता का संदेश देनेवाली हैं जिनके चारित्रिक औदात्य से उपन्यास मूल्यवान हुआ है।

११ | अनामदास का पोथा

'अनामदास का पोथा' का आख्यान छान्दोग्योपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के प्रथम खण्ड पर आधारित है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने काम मनोविज्ञान तथा व्यवहार के सन्दर्भ में इस आख्यायिका को नया अर्थ दिया है। उपनिषद् में रैक्व को युग्वा अर्थात् गाड़ीवाला बताया गया है। वह गाड़ी की छाया में बैठकर तत्व-चिन्तन में लीन रहता है तथा पीठ खुजलाता रहता है—'सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपोप विवेश तं हाश्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक्व इत्यहंह्यराह्न इतिदृप्रतिज्ञसे सह क्षन्ताविदम् इति प्रत्येयाय।''

राजा जानश्रुति उससे उपदेश ग्रहण करना चाहते हैं तथा छः सौ गौएँ, एक हार और एक खच्चरियों से जुता हुआ रथ लेकर उसके पास आते हैं किन्तु रैक्व इस उपहार को ठुकरा देते हैं तब वह इस उपहार के साथ अपनी सुन्दरी कन्या को भी ऋषि की सेवा में ले जाते हैं—'तदुह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्त्रंगवां निष्कभ प्रतिश्वतरी रथं दुहितरं तदादाय चक्रये।' रैक्व ने उस कन्या के मुख को विद्या का द्वार मानते हुए उपदेश देना स्वीकार किया— 'तस्या ह मुखमुपोद गृहणन्नुवाचा जहादेमाः शूदानेनैव मुखेनालापयिष्यथा इति ते है ते रैक्वपर्णा नाम महावृषेषु यत्तास्या उपास स तस्मै ह्वेवाच।' आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में गाड़ी के नीचे बैठने, पीठ खुजलाने का कोई तात्पर्य नहीं दिया। अन्य उपहारों को ठुकरा देने किन्तु कन्यारत्न के मुख को देखकर उपदेश देने की विवशता पर उनकी टिप्पणी है, क्योंकि हंस से गाड़ीवाले की प्रशंसा सुनकर राजा को ईर्ष्या हुई थी (हंष वचन श्रवणाच्छुगेनमाविविशः तेनासव शुचा) आवेश हुआ था, इसलिए उसे शूद्र कहकर उपेक्षा के योग्य सोचा अथवा धन द्वारा ज्ञान खरीदने की इच्छा के कारण उसे शूद्र समझकर (शूद्रवद्वा धनेनैवैनं विधाग्रहणायोपजगाम न च शुश्रूषया) किन्तु कन्यादान करने पर राजा की जिज्ञासागत निष्ठा का पता चला। किसी भी कल्याणकारिणी विद्या को ग्रहण करने के लिए मनुष्य को कितने त्याग, तप, सेवा, विनय की आवश्यकता है, इसका पता इस घटना से चलता है कि राजा ने अपनी कन्या देकर भी उस विद्या को ग्रहण करने में हिचकिचाहट नहीं दिखायी। विद्यादान के छः तीर्थ हैं—ब्रह्मचारी, धनदायी, मेधावी, श्रोत्रियः प्रियः। विद्यया वा विद्यां प्राहृतानि तीर्थानि षष्मम्—ब्रह्मचारी, धन देने वाला, बुद्धिमान, श्रोत्रिय, प्रिय और विद्या के बदले विद्या का उपदेश करनेवाले छः तीर्थ हैं। स्पष्ट है कि आचार्य शंकर ने कोई तर्कसंगत कारण कन्या

का मुँह देखकर उपदेश करने का नहीं दिया। इससे तो रैक्व की छवि धूमिल होती है। धन का तिरस्कार कर किन्तु नारी के सौन्दर्य से अभिभूत हो वह उपदेश के लिए तैयार हो जाता है इससे उसकी कामलिप्सा का परिचय मिलता है। राजा कामलोलुप ऋषि को धन से नहीं झुका सका तो मांसल सौन्दर्य के पासे से हरा देता है। 'प्रिय तीर्थ' का संकेत-सूत्र द्विवेदीजी समझते हैं इसीलिए वह नयी व्याख्या करते हैं।

आचार्य द्विवेदी ने इन असंगतियों के निराकरण के लिए मनोवैज्ञानिक आधार पर कथा का सूत्र बुना है। जानश्रुति की मातृविहीना कन्या जाबाला का मौसी के घर जाना, अकस्मात् आँधी का आना, रथ हाँकनेवाले रथी का बैलों द्वारा कुचला जाना, जाबाला का मूर्छित हो जाना, लोक-व्यवहार से अनभिज्ञ कुमार रैक्व का वहाँ पहुँचना, जाबाला के सौन्दर्य से अभिभूत होना तथा पीठ पर बैठाने के लिए अनुरोध करना उस आशय को स्पष्ट करने के लिए है, कि वह गाड़ी के नीचे क्यों बैठा रहता है तथा पीठ क्यों खुजलाता है ?

गाड़ी स्मृति प्रतीक है जाबाला और रैक्व के प्रथम अनासक्तिपूर्ण दर्शन का तथा पीठ की सनसनाहट मन के कोने में छिपी हुई दुर्दम अभिलाषा भावना की देन है, अचेतन में जाबाला को पाने की इच्छा गहराई में धँसी है जो खुजलाहट के रूप में व्यवहार की पोषिका है। इसका स्पष्टीकरण औषस्ति की ब्रह्मवादिनी पत्नी ऋतम्भरा करती है। रैक्व का जीवन-दर्शन वायु द्वारा संचारित है। वायु को वह एक मात्र जगत का कारण मानता है। वायुर्वाव संवर्गो—अर्थात् सब वायु से ही उत्पन्न होते हैं और वायु में ही विलीन हो जाते हैं। द्विवेदीजी ब्रह्माण्ड स्थित वायु और पिण्ड स्थित वायु (प्राण) को आधार बनाकर गुत्थी सुलझाते हैं। पिण्ड स्थित वायु जिजीविषा है जो सामर्थ्य और सम्भावनाओं का द्वार खोलती है। और ब्रह्माण्ड स्थित वायु जगत की सत्ता और विकास की सूचक है। गाड़ी हाँकनेवाले की पत्नी उजुआ (ऋजुका) का रैक्व के प्रति संवेदन, समान घटना-भोग की त्रासदी के कारण है जो रैक्व को मानवीय करुणा और सेवा का पाठ पढ़ाता है। द्विवेदीजी ने इसे वैश्वानर की उपासना कहा है—विश्व-नर अर्थात् सारे कृत्रिम बन्धनों और सीमाओं से ऊपर उठकर विश्व भर का आदमी पहले आदमी है और फिर और कुछ। जाबाला के प्रति आसक्ति, शास्त्राध्ययन, खोज, सामाजिक सुधार, सिद्धि तथा साहित्य सृजन के लिए प्रेरक कारण है। काम मनोविज्ञान के सन्दर्भ में यह बात द्विवेदीजी ने स्पष्ट की—यद्यपि उन्होंने शास्त्राभ्यास को ही सदा ध्यान में रखा पर प्रच्छन्न रूप से इसे प्रेरणा देनेवाली शक्ति शुभा ही थी। बीच-बीच में उनके पीठ की सनसनाहट असह्य हो जाती। अकालग्रस्त जनता की सेवा के लिए गाड़ी हाँकने का काम रैक्व लेते हैं। यह कल्पना जितनी उदात्त है, उतनी ही यथार्थ भी। युग्वा होने की सार्थकता यही है। ब्रह्मविद् निजी मुक्ति की परिकल्पना में एकांगी है पर विश्व-नर की उपासना उसे सामाजिक बनाती है और लोक तथा व्यक्ति को जोड़ने

वाली यह कामाध्यात्म की डोर द्विवेदीजी का सप्रयोजन रचना संकल्प है। रैक्व कहते हैं—मैंने लोगों को भूखे मरते देखा है, बच्चों को दाने-दाने के लिए तरसते देखा है। प्राणों की रक्षा को मैं सबसे बड़ा कर्त्तव्य समझता हूँ। जो प्राण की उपेक्षा करता है, वह परम वैश्वानर की उपासना का अधिकारी नहीं हो सकता। भगवन्, शास्त्रों का अध्ययन-मनन करने के बाद भी मैं प्राण-तत्व की महिमा नहीं भूल पाता—वायुसंवर्ग की यह द्विवेदीजी की अपनी व्याख्या है जो समाज रक्षा के प्रयोजन के परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त मूल्यवान है।

काम-ग्रन्थि के निरसन के लिए कोहलीयों की योजना भी नितान्त मौलिक है। गन्धर्व और कन्दर्प की चर्चा तो वे अशोक के फूल में भी कर चुके हैं। नाट्य वेद्य की महिमा तथा रेचन द्वारा कामोद्वेग का उपचार गन्धर्व पूजन का उपादेय पक्ष है। यह द्विवेदीजी की अपूर्व सूझ किन्तु पश्चिमी उपचार का भारतीय आधार प्रस्तुत करने-वाला उपक्रम सिद्ध होता है। जटिल मुनि या व्रात्य मुनि की विवाह तथा उद्वाह की व्याख्या मनोहर है, विवाह में प्रिय पदार्थ पर एकाधिकार के कारण आत्मसंकोच रहता है, उद्वाह में वह रचनात्मक और प्रेरक प्रेम भाव के कारण आत्मविस्तार करता है। रैक्व कन्या से विवाह नहीं, उद्वाह करते हैं, रैक्व के पूर्ण तथा सृजनशील व्यक्तित्व के निर्माण में कन्या का मुख प्रेरक है, उद्वाह से उसकी रचनाधर्मिता खिली है, विवाह से वह कुन्द हो जाती है। तभी जाबाला से रैक्व कहते हैं—"उस गाड़ी के बिना क्या मैं समाधि लगाऊँगा ? वह गाड़ी मुझे अपार शक्ति देती है।"

संयोग सुख और मृत्यु का त्रास दोनों ही गाड़ी से जुड़े हैं। और शास्त्र-सृजन तथा लोकसेवा द्वारा रैक्व जीवन को गाड़ी को मृत्यु के मोड़ से उतारकर ले जाते हैं क्योंकि उन्हें मानवीय प्रेम में अपूर्ण विश्वास है। इस प्रकार इस उपन्यास का यही वह मुख्य विचार-बिन्दु है जहाँ रैक्व ऋतंभरा से कहते हैं—**मां, यह विवाह नहीं, उद्वाह है—सृजन की प्रेरणा है, ऊपर ले जाने का परत पर परत उपाय है।** आचार्य शंकर के भाष्यार्थ से द्विवेदीजी का तात्पर्यार्थ अधिक सहज है, जीवनसुलभ है और इसी योजना के कारण अनामदास का पोथा आधुनिक कामग्रन्थिग्रस्त व्यक्तित्व को परिष्कार में दिशा-निर्देशक भूमिका अदा कर सकता है। उत्थान-पतन, पुण्य-पाप रचना-सापेक्ष है, क्रियासापेक्ष है। काम सृजनोन्मुख होकर लोकग्राह्य है, ऋषत्व इसके स्पर्श के बिना एकांगी है। आश्वलायन और औदुम्बरायण इससे अपरिचित हैं, व्रात्य मुनि इसे दमन की नहीं, जीवन की सहजता के रूप में लेते हैं। स्पष्ट है कि रैक्व आर्य तथा व्रात्य संस्कारों का सम्मिलित दर्शन है और इसी दर्शन की रूप-रेखा द्विवेदीजी अपनी अन्य रचनाओं में भी देते रहे हैं। याज्ञवल्क्य, जनक की उक्तियों का इसी सन्दर्भ में पल्लवन द्विवेदीजी ने किया है। छान्दोग्य स्वयं दोनों जीवन-धाराओं की विचारणाओं का समन्वय प्रस्तुत करनेवाला ग्रन्थ है। द्विवेदीजी अतिवादिता के

ऋषि नहीं, वे अन्विति रास्ता खोजनेवाले हैं, तभी तो पद और पदार्थ में वे अन्विति का सूचक प्रत्यय मानते हैं। प्रत्यय आत्मा का धर्म है, बाहरी बोध अपूर्ण है, प्रत्यय उसे पूर्णता देता है। अनामदास का पोथा प्रत्यय या निजी सत्य की परख अथवा अनुभव का पोषक है। शुभा या जाबाला रैक्व के अधूरे दर्शन को इसी प्रत्ययवाद से पूर्ण बनाती है।

मूल्यांकन

समय-समय पर होनेवाले विदेशी आक्रमणों के कारण भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता को झंझावातों से गुजरना पड़ा है। इसे विदेशी राज्यलिप्सु लुटेरों तथा धर्मान्ध आक्रमणकारियों ने अनेक बार पददलित ही नहीं किया वरन् उन्होंने यहाँ के पौरुष को अवमानित कर अनेक बार विदेशी साम्राज्यों की स्थापना भी की। इतिहास साक्षी है कि न जाने क्यों हमारी जातीय संस्कृति को वे मिटा नहीं सके जब कि उसके बचे रहने का कोई कारण नहीं दिखलाई पड़ता। भारतीय संस्कृति सदैव से लोकजीवन का अंग रही है जो समय-समय पर महापुरुषों एवं महाकवियों की वाणी में अभिव्यक्त हो इतिहास की परम्परा में मात्र जीवित ही नहीं रही, बल्कि उसने इतिहास का दिशा-निर्देशन भी किया। इतना अवश्य है कि निरंतर होनेवाली राजनीतिक उथल-पुथल के कारण भारतीय इतिहास की कड़ियाँ बीच-बीच में टूटती रही हैं। शृंखलाबद्ध भारत का प्रामाणिक इतिहास आज भी उपलब्ध नहीं है। विदेशी शासक अपने हित में समय-समय पर इतिहास लेखन को प्रभावित भी करते रहे हैं। इसके भी पर्याप्त प्रमाण हैं कि वे प्राप्त भारतीय इतिहास को नष्ट करने से भी विरत नहीं रहे। इस ओर आचार्य द्विवेदी का ध्यान गया था और वे इतिहास में टूटी सांस्कृतिक शृंखला को एकसूत्रता प्रदान करना चाहते थे। उनकी दृष्टि में भारतीय संस्कृति की प्रवहमान धारा कभी अवरुद्ध नहीं हुई। समय की चट्टानों को तोड़ती अथवा अन्तःसलिला स्रोतस्विनी बनकर वह निरंतर युग-प्रवाह के साथ गतिमान रही है। जो लोग राजनीति अथवा राजनैतिक दृष्टि से लिखे गये इतिहास में उसे ढूंढ़ने का प्रयत्न करते हैं 'द्विवेदीजी' की दृष्टि में वे भटके हुए लोग हैं। उसे देखने के लिए ऐसे साहित्य के पास जाना होगा जिसमें एक प्रवाह के रूप में समय-समय पर भारतीय संस्कृति संचित होती रही है। वे अपने उपन्यासों के माध्यम से इसी भारतीय संस्कृति का शृंखलाबद्ध इतिहास प्रस्तुत करना चाहते हैं, उनकी दृष्टि में जिसकी धारा कभी अवरुद्ध नहीं हुई। यही कारण है कि उन्होंने अपने उपन्यासों के लिए जो सामग्री संगृहीत की है, उसका प्रमुख स्रोत इतिहास नहीं बल्कि साहित्य है।

भारतवर्ष का लिखित इतिहास लगभग चार हजार वर्षों का है, जिससे किसी भी ऐतिहासिक उपन्यास लेखक को इस काल-सीमा से बाहर जाकर विषय-चयन का

अधिकार नहीं है। 'अनामदास का पोथा' को छोड़कर उनके शेष तीनों उपन्यास इसी काल-सीमा के भीतर की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इनका प्रथम उपन्यास 'बाण-भट्ट की आत्मकथा' हर्षवर्द्धन, द्वितीय उपन्यास 'चारुचन्द्रलेख' पृथ्वीराज के पराभव अर्थात् तुर्क कालीन भारत एवं 'पुनर्नवा' समुद्रगुप्त काल की ऐतिहासिक पीठिका पर लिखे गये हैं। इन कालों का लिखित इतिहास उपलब्ध है, पर उनमें जो सांस्कृतिक दृष्टि से त्रुटियाँ इतिहासकारों की निजी सीमाओं के कारण रह गई थीं, उनको सही ढंग से प्रस्तुत करने की आवश्यकता थी। इतिहास की इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए 'द्विवेदीजी' के सांस्कृतिक उपन्यास लिखे गये। अध्ययन, मनन एवं वर्तमान चिंतन के आधार पर अतीत को प्रस्तुत करना और इतिहास की त्रुटियों से अप्रभावित रहना सरल कार्य नहीं होता, पर द्विवेदीजी ने इस कठिन कार्य का सम्पादन किया और इस ढंग से किया कि भारतीय संस्कृति का शृंखलाबद्ध इतिहास एक प्रवाह के रूप में उनके उपन्यासों में प्रस्तुत हो गया। 'अनामदास का पोथा' लेखन क्रम में सबसे बाद की रचना है। इसमें औपनिषदिक युग का चित्र प्रस्तुत है। इस युग की इतिहास के रूप में कोई भी लिखित सामग्री उपलब्ध नहीं है, जिससे उपन्यास-कार के लिए इस बिन्दु से लेखन आरम्भ करना कठिन था और यदि वह लिखता भी तो उसकी विश्वसनीयता संदिग्ध रहती। वर्तमान युग के निकट के इतिहास से तादात्म्य स्थापित कर द्विवेदीजी ने सोपान की निचली चढ़ाई से यात्रा आरंभ की है और उनकी यह यात्रा इतिहास के शिखर को भी पार कर प्रागैतिहास काल तक चलती रही। यही कारण है कि द्विवेदीजी अपने पाठकों को विश्वास में ले सके हैं और वे इस सीमा तक उनपर विश्वास करने लगे हैं कि इतिहास की काल-सीमा को पार कर भी जब द्विवेदीजी 'अनामदास का पोथा' में औपनिषदिक युगीन भारत का चित्र उरेहने लगते हैं तो पाठक उनपर सन्देह नहीं करता।

'अनामदास का पोथा' को छोड़कर उनके शेष तीनों उपन्यासों की परीक्षा उनमें वर्णित इतिहास को सामने रखकर की जा सकती है, पर 'अनामदास का पोथा' के सम्बन्ध में यही सबसे बड़ी कठिनाई है कि इसकी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता की परीक्षा के लिए इतिहास की किस सामग्री को सामने रखें, यह तो इतिहास-काल की सीमा से परे की रचना है। इसमें औपनिषदिक युग को विवेचन का आधार बनाया गया है। 'वृहदारण्यक' और 'छान्दोग्य' से इस उपन्यास के वर्णन सर्वाधिक प्रभावित हैं। अतः वर्णित सामग्री की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के निर्धारण के लिए 'उपनिषद' को ही आधार बनाना पड़ेगा। इस सन्दर्भ में हम इतना ही कह सकते हैं कि उपन्यास का कितना अंश उपनिषद से लिया गया है और कितना उपन्यासकार की कल्पना की उपज है। औपनिषदिक तत्त्वों के आलोक में उपन्यासकार की कल्पना की संगति पर भी विचार किया जा सकता है। अतः इस उपन्यास के

मूल्यांकन का कोई ऐतिहासिक आधार हमारे पास नहीं है। "उपन्यास में प्रस्तुत रैक्व, जाबाला, जानश्रुति, अरुन्धती, भगवती ऋतम्भरा, ऋजुका, मामा, जटिल मुनि आदि की कथा अपने औपनिषदिक आधार के बावजूद वर्तमान रूप में कल्पित है। इस कथा के विवरणों को जाँचने का कोई ऐतिहासिक आधार हमारे पास नहीं है। इतना जरूर माना जा सकता है कि औपनिषदिक काल में जिस प्रकार के राजा होते थे 'अनामदास का पोथा' का राजा जानश्रुति उनसे बेमेल नहीं है। उपन्यास के अन्य पात्र भी उस युग के व्यक्तियों के अनुरूप हैं और तद्वत् आचरण करते हैं। रैक्व का चरित्र आधुनिक पाठक को थोड़ा 'विचित्र' जरूर लग सकता है, पर जिन परिस्थितियों में उसका बचपन बीता है, उन्हें देखते हुए उसे अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। अन्य पात्र भी तत्कालीन साहित्य में वर्णित पात्रों के समान आचरण करते हैं। चूँकि तत्कालीन इतिहास के साक्ष्य भी ये ही ग्रन्थ अर्थात् वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, वेदांग आदि हैं, अतः 'अनामदास का पोथा' के ऐतिहासिक यथार्थ का परीक्षण करने के लिए हमारे पास कोई भिन्न ऐतिहासिक कसौटी नहीं है।" रैक्व, जानश्रुति, जाबाला और औषस्ति तो किसी न किसी रूप में 'छांदोग्य' में मिल भी जाते हैं पर ऋजुका, अरुन्धती, मामा, आश्वलायन और जटिल मुनि द्विवेदीजी की कल्पना की उपज हैं, पर वे इस उपन्यास में जिस प्रकार आचरण करते दिखलाये गये हैं, उससे उनकी संगति उस काल के चरित्रों से बैठ जाती है।

निरन्तर नवीन प्रयोग की ओर द्विवेदीजी की रुचि रही है, जिसे उनके उपन्यासों में देखा जा सकता है। वे अपने इस उपन्यास को 'गप्प' की संज्ञा देते रहे और इसे कई भागों में प्रस्तुत करना चाहते थे। उनके स्वर्गवासी हो जाने के कारण 'अनामदास का पोथा' आगे नहीं लिखा जा सका, पर जो उपलब्ध है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि द्विवेदीजी औपनिषदिक भारतीय संस्कृति को क्रमबद्ध रूप में इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहते थे कि उसे इतिहास की मूल धारा के साथ जोड़ा जा सके। प्रागैतिहास काल की रहस्यमयी अनबूझ पहेली को वे अत्यन्त विश्वसनीय ढंग से इस उपन्यास की प्रस्तावित श्रृंखला के द्वारा सुलझाना चाहते थे। उपन्यास के लिए यह एक ऐसा क्षेत्र था कि जिसे जानने-समझने के लिए न तो कोई विश्वसनीय आधार था और न तो इस वैज्ञानिक युग में जीनेवाले किसी व्यक्ति में तत्कालीन मानसिकता अर्जित करने की ओर उन्मुख होने का सवाल था। इस दृष्टि से यह एक प्रयोग था जिसे आचार्य द्विवेदी ने सफलतापूर्वक सम्पन्न कर हिन्दी-जगत को चमत्कृत कर दिया है। ऐसी स्थिति में 'अनामदास का पोथा' में वर्णित घटनाओं एवं पात्रों को मूल्यांकित करते समय उपन्यासकार के उद्देश्य को सामने रखना पड़ेगा, न कि सामान्य उपन्यास के समीक्षा सम्बन्धी मानदण्ड को।

---

१. डॉ० गोपाल राय—दस्तावेज में प्रकाशित लेख से उद्धृत, पृ० १५०

लोकमंगल की उपेक्षा कर मोक्ष की कामना में लगी तापस संस्कृति की निस्सारता प्रकट करना, गार्हस्थ्य जीवन की स्वस्थ सामाजिक भूमिका में आस्था व्यक्त करना तथा सेवा धर्म को श्रेष्ठता प्रदान करना इस उपन्यास का प्रमुख उद्देश्य जान पड़ता है। इस उद्देश्य की अभिव्यक्ति के लिए द्विवेदीजी ने 'रैक्व' नामक एक ऐसे पात्र को माध्यम के रूप में चुना है जिसने जीवन में कभी स्त्री देखी ही नहीं है। परकाय प्रवेश के द्वारा द्विवेदीजी ने पाठकों को उस बिन्दु पर ले जाकर सोचने के लिए विवश किया है कि वह कैसी स्थिति रही होगी जब कि पुरुष के सम्मुख पहली बार नारी उपस्थित हुई होगी। किस मानसिक प्रक्रिया के द्वारा पुरुष ने नारी को समझने का प्रयास किया होगा और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा होगा कि नारी पुरुष से भिन्न पदार्थ है। नारी आकर्षण से हीन 'रैक्व' आत्मविस्तार की भावना से बहुत दूर उस ठूँठ वृक्ष के समान है जिसे अपनी इकाई में संकुचित हो समाप्त हो जाना है। नारी ने अपने सम्मोहन के जादू से किस प्रकार 'नारी पदार्थ' से अपरिचित भोले पुरुष को आकर्षित कर उसके मन में सौन्दर्य की पिपासा और हृदय में प्रेम भावना उत्पन्न की। 'कामायनी' की श्रद्धा ने जिस प्रकार वीतराग, उदास और जीवन से निराश 'मनु' को प्रेम का सन्देश दे उसे गार्हस्थ्य जीवन की ओर उन्मुख किया, उसी प्रकार 'अनामदास का पोथा' की 'जाबाला' भी 'रैक्व' को नारी-शक्ति को समझने के लिए विवश कर देती है। अज्ञात भाव से जाबाला की ओर 'रैक्व' खिंचता जाता है और उसके सौन्दर्य को देखने के लिए उसकी आँखें बेचैन हो जाती हैं। यह सत्य है "जाबाला को पढ़ते समय मुझे बार-बार 'प्रसाद' की 'श्रद्धा' याद आती रही, हो सकता है यह मेरा भ्रम हो, लेकिन लगा यही! विदुषी, बुद्धिमती, सुशीला, राजा जानश्रुति की एकलौती कन्या जाबाला को पूरी तन्मयता के साथ गढ़ा गया है। जाबाला उर्फ शुभा बिना बिचारे कुछ नहीं बोलती। वह तेज है। सविता की शक्ति का प्रत्यक्ष विग्रह है, शुभा—तेजोरूपा। वह प्रज्ञा है। उसका ध्यान आते ही 'रैक्व' की नस-नस में प्राणों का उल्लास मुखरित होने लगता है। उसकी वाणी रैक्व को सामगान के समान पवित्र लगती है और उसका सुन्दर मुख उन्हें सोचने के लिए बाध्य कर देता है।"[1] 'मनु' की भाँति 'रैक्व' को भी अच्छा लगनेवाला एक झटका लगा, उसकी आँखें फैल गईं, वह रूप के संभार को आत्मविभोर हो देखता ही रह गया और सामने खड़ी 'जाबाला' की वाणी उसे सामगान का संगीत जान पड़ा।

नारी के अभाव में किए गए तप को निरर्थक माननेवाले द्विवेदीजी 'रैक्व' के जीवन में उपस्थित परिवर्तन की सार्थकता का पूर्ण समर्थन करते हैं। वे तप को नहीं बल्कि जीवन को ही वास्तविक सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं। सामाजिक जीवन को

---

१. अरुणेश नीरन—नाम में क्या रखा है (दस्तावेज में प्रकाशित लेख), पृ० २१७

श्रेष्ठ जीवन स्वीकार करते हुए द्विवेदीजी का कहना है—"एकान्त का तप बड़ा तप नहीं है। देखो संसार में कितना कष्ट है, रोग है, शोक है, दरिद्रता है, कुसंस्कार है। लोग दुःख से व्याकुल हैं। उनमें जाना चाहिए। उनके दुःख का भागी बनकर उनका कष्ट दूर करने का प्रयत्न करो। यही वास्तविक तप है। जिसे यह सत्य प्रकट हो गया कि सर्वत्र एक ही आत्मा विद्यमान है वह दुःख-कष्ट से जर्जर मानवता की कैसे उपेक्षा कर सकता है?"[1] एकान्तवासी तपस्वी 'रैक्व' की समझ में यह बात तब आती है, जब वह 'जाबाला' के सम्पर्क में आता है। उसके जीवन का उद्देश्य ही बदल गया और एकान्त साधना को छोड़कर वह दीन-दुखियों के बीच सेवा कार्य के लिए आ गया। तप के स्थान पर सामाजिक सेवा को प्रतिष्ठित कर उपन्यासकार ने अपनी आधुनिक समाजवादी दृष्टि का परिचय दिया है जो व्यक्ति-व्यक्ति में कोई भेद स्वीकार करने को तैयार नहीं। सभी उपन्यासों में द्विवेदीजी ने प्रेम को एक शक्ति के रूप में स्वीकार किया है और पुनर्नवा उपन्यास में परिणय के रूप में उसे फलीभूत भी होने दिया है। इस उपन्यास में प्रेम-शक्ति का पर्यवसान विवाह में न होकर उद्‌बाह में हुआ है। प्रेम को संकोच एवं संकीर्णता के घेरे से मुक्त कर द्विवेदीजी ने उसे व्यापकता प्रदान की है। यह उनका एक ऐसा मानवतावादी दृष्टिकोण है जो नवीन सामाजिक मूल्य की स्थापना करनेवाला है। यहाँ पर बाणभट्ट की आत्मकथा में चित्रित 'भट्ट', भट्टिनी' और 'निपुणिका' की परिस्थितिजन्य विवशता तथा चारुचन्द्रलेख की 'मैना', प्रेमचन्दकृत 'गोदान' के मेहता और मालती तथा नाटककार प्रसाद के स्कन्दगुप्त और देवसेना की वैयक्तिक परवशता नहीं बल्कि प्रेम का मुक्त औदात्य चित्रित है जिसमें कहीं कुण्ठा का नाम नहीं। इस प्रकार द्विवेदीजी औपनिषदकालीन समाज से भी ऐसे सामाजिक मूल्य ढूँढ लाते हैं जो आज भी प्रासंगिक हैं।

वह व्यक्ति, वह समाज, वह साधना और वह साहित्य द्विवेदीजी की दृष्टि में सारहीन है यदि उसमें लोकमंगल एवं विशेषकर दीन-दुखियों की कल्याणकारी भावनाएँ निहित नहीं हैं। 'अनामदास का पोथा' इस तथ्य को प्रकाशित करने के लिए लिखा गया है। द्विवेदीजी उसी व्यक्ति का जीना सार्थक मानते हैं जिसमें दूसरों को जिन्दगी देने की इच्छा विद्यमान है। व्यक्ति की मोक्षकामी संस्कृति के प्रति इस उपन्यास में उन्होंने अनास्था व्यक्त की है।

विशिष्ट मानवीय मूल्यों की स्थापना और प्रवहमान भारत की सांस्कृतिक चेतना को प्रस्तुत करने की दृष्टि से जहाँ एक ओर द्विवेदीजी के उपन्यास, हिन्दी उपन्यास साहित्य के इतिहास में एक अलग अपना अध्याय जोड़ते हैं वहीं उनके उपन्यासों की शिल्पगत नवता उन्हें अन्य उपन्यासकारों से अलग लाकर खड़ा कर देती है। द्विवेदीजी ने हिन्दी

---

१. अनामदास का पोथा, पृ० ५९

उपन्यास को जो एक अभिनव शिल्प प्रदान किया है, उसके सम्बन्ध में निःसंकोच यह कहा जा सकता है कि न उन्होंने किसी का अनुकरण किया और न आगे कोई उनका अनुकरण कर सकता है। इस सन्दर्भ में बाणभट्ट की आत्मकथा का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। एक औपन्यासिक छल को उपन्यास शिल्प का अंग बनाकर द्विवेदीजी ने न केवल आत्मकथात्मक शैली में लिखे गये हर्षकालीन भारत की सांस्कृतिक चेतना को प्रस्तुत करनेवाले उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा, में विश्वसनीयता उत्पन्न की है बल्कि उससे एक ऐसे शिल्पगत वैशिष्ट्य की सृष्टि की है कि जिसके कारण उपन्यास की पठनीयता और उसकी कलात्मकता में अनुपम वृद्धि हुई है। 'चारुचन्द्रलेख' में भी इस कलात्मकता का सहारा लिया गया है, पर 'पुनर्नवा' के शिल्प को इस परम्परा से मुक्त कर दिया गया है। 'अनामदास का पोथा' के अनामदास उसी औपन्यासिक छल की सृष्टि करते हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की दीदी 'मिस कैराइन' की भाँति अनामदास भी उपन्यास के आरम्भ और अंत में हाजिर हो जाते हैं। परिणामस्वरूप उपनिषद्कालीन समाज की नीरसता अखरती नहीं और उपन्यासकार की प्रतिभा से उत्पन्न कपोलकल्पित कथाएँ (गप्प) उपन्यास की अंग बन गयी हैं। इस प्रकार द्विवेदीजी के शिल्प का 'ट्रेड मार्क' इस उपन्यास में पूर्ण सफलता के साथ प्रस्तुत है।

चरित्र-चित्रण

रैक्व

ऋषिकुमार 'रैक्व' की अपनी अलग एक निजी पहचान है, जो द्विवेदीजी के अन्य उपन्यासों में कहीं ढूँढ़ने से भी नहीं मिलती। 'पुनर्नवा' उपन्यास को छोड़कर उनके शेष आरम्भिक दो उपन्यासों के पात्र उस समय उपन्यास-जगत में प्रविष्ट होते हैं, जब कि दुनियादारी की अच्छी जानकारी उन्हें हो जाती है। ऐसे पात्रों की सृष्टि में उपन्यासकार को इसलिए अपेक्षाकृत अधिक सुविधा होती है कि उसके पास अपनी दुनियादारी का सहारा रहता है जिसके माध्यम से वह पात्रों में प्रवेश कर प्रसंगानुकूल उनकी स्वाभाविक सृष्टि करता है। 'पुनर्नवा' के गोपाल आर्यक, श्यामरूप और मृणाल को उपन्यासकार ने शैशव काल में ही उपन्यास-जगत में प्रस्तुत तो किया है, पर उनके आस-पास का जगत इतना सक्षम है कि वे समयानुसार उससे दुनियादारी की शिक्षा पा लेते हैं। इसके अतिरिक्त इन पात्रों के माध्यम से द्विवेदीजी कोई ऐसा प्रश्न ही नहीं उठाते कि जिसके लिए उनकी बालसुलभ अबोधता बाधक हो। अतः रैक्व की स्थिति सबसे भिन्न है। 'रैक्व' ने जीवन में कभी कोई स्त्री देखी ही नहीं थी। होश संभालने के पूर्व अपनी माता से भी वह बिछुड़ गया था

और उसका पालन-पोषण ऋषियों के बीच आश्रम में ही हुआ। तत्वचिंतन के लिए आश्रम ने अनुकूल वातावरण प्रस्तुत किया जिससे तत्वचिंतन के अतिरिक्त दुनिया की और किसी वस्तु का उसे ज्ञान ही नहीं था। स्त्री, पुरुष से भिन्न कोई वस्तु है, इसका भी ज्ञान उसे तब हुआ जब उसके सम्पर्क में जाबाला आई। अन्न कैसे उत्पन्न होता है, सामाजिक जीवन क्या वस्तु है, पुरुष-स्त्री का क्या भेद है, इन सब बातों से वह बहुत दिनों तक अपरिचित ही बना रहा। कुल मिलाकर आरम्भ से ही वह एक असाधारण पात्र है, जिसके चित्रण का खतरा उपन्यासकार ने उठाया है।

'रैक्व' पूरा भोलेराम है। दीन-दुनिया से बेखबर एक अत्यन्त सीधे-सादे पात्र के रूप में वह उपन्यास के आरम्भ में प्रस्तुत हुआ है। उसकी इसी सरलता पर राज-कन्या जाबाला मुग्ध हो जाती है। रैक्व ने जाबाला के मुलायम बालों को हाथों से अनु-भव करने का प्रयत्न किया। फिर अत्यन्तसरल सहज भाव से उन्होंने देवता के गालों पर भी हाथ फेर दिया और आनन्द कातर भाव से बोले, 'अहा, तुम्हारी अवस्था के ऋषिपुत्रों के तो रूखे-रूखे बाल जम आते हैं, कैसा दिव्य तुम्हारा मुखमण्डल है, कितने लाल-लाल अधर हैं।'[1] रैक्व की इस स्वाभाविक सरलता से यदि जाबाला अभिभूत न होती तो उसका क्या परिणाम होता, इसे सहज ही जाना जा सकता है। अबोध शिशु का नागिन के साथ खेलने जैसी सरलता है 'रैक्व' की, जिसे नागिन डसती नहीं बल्कि हाथों से सरक जाती है। "स्वर्गीय प्राणी ने जरा झिड़ककर कहा, ऋषिकुमार, जरा दूर हटकर रहो। तुम क्या पहली बार किसी स्त्री को देख रहे हो?....देखो ऋषि-कुमार! मैं महाराज जानश्रुति की कन्या हूँ, तुम्हें इतनी तो जानकारी होनी हो चाहिए कि इस तरह से स्त्रियों का स्पर्श करना अनुचित है, पाप है परन्तु मैं तुम्हारी सरलता पर मुग्ध हूँ।"[2] इतने पर भी 'रैक्व' स्त्री-पुरुष का भेद नहीं समझ पाया। वह ज्ञानी है, पद का उसे ज्ञान है, पर पदार्थ से बिल्कुल अपरिचित है। व्याकरण में स्त्रीलिंग और पुल्लिंग उसने पढ़ा है। वह यह जानता है कि 'स्त्रीलिंग' शब्द का भाषा में व्यवहार होता है, पर स्त्री पदार्थ से वह अपरिचित है। आर्ये, भवति, शुभे इत्यादि शब्द भी स्त्रीलिंग के सम्बोधन हैं इसे भी वह व्याकरण के माध्यम से जानता है। जाबाला के कहने पर वह उसे 'शुभे' कहकर पुकारने लगता है। ज्ञानी 'रैक्व' अब भी यह समझ पाने में असमर्थ है कि स्त्री-पुरुष के बीच खिचनेवाली मर्यादा की भेदक रेखा कौन सी है। अपने भोलेपन में वह प्रस्ताव कर बैठता है—'शुभे' तुम जैसा भी आदेश करोगी उसका पालन करना मेरे लिए हर्ष और गौरव की बात होगी। परन्तु तुम्हारे पिता के घर का रास्ता मुझे मालूम नहीं है। तुम्हें अपनी पीठ पर बैठाकर जिधर कहो उधर

१. अनामदास का पोथा—पृ० ३१
२. अनामदास का पोथा—पृ० ३१

पहुंचा दूं।"[1] अपनी दूसरी बार की गयी इस भूल के लिए उसे पुनः जाबाला का उपदेश सुनना पड़ता है। समाज से दूर रहने के कारण ज्ञानी रैक्व दुनियादारी में कोरे हैं, पर मूल रूप में उनमें सभी मानवीय वृत्तियाँ विद्यमान हैं, जिनका आगे चलकर यथावसर प्रस्फुटन होता है। जाबाला का जादू तपस्वी पर चलकर ही रहा जिससे उसकी आँखें उसे देखने के लिए बेताब हो जाती हैं। भावना के धरातल पर उसने पीठ पर ही नहीं, अपने हृदय पर भी जाबाला को आसीन कर लिया है। पीठ को जो स्पर्श सुख का अवसर नहीं मिल सका उससे उसकी कुंठित काम ग्रन्थि सचेत हो जाती है। पीठ की बार-बार की खुजलाहट उसी ग्रन्थि का परिणाम है। "उन्होंने रथ को खींचकर उस स्थान पर रखा जहाँ राजकुमारी बैठी थी। उसी की छाया में बैठकर चिंतन करने लगे। पर पीठ की सनसनाहट बनी रही। वे प्रायः उसे खुजला लेते। उत्तरोत्तर रैक्व में मानवीय भावों का विकास होने लगा और स्थिति इस सीमा तक पहुंच गयी कि वे इठला जाते हैं—नहीं, इस बार मैं कहीं नहीं जाऊँगा। उस बार तुम्हारे कहने से छिप गया था और तुम चुपचाप खिसक गयीं इस बार यह नहीं होगा। मैं तुम्हे नहीं छोड़ूँगा·······तुम जानती नहीं, अब मैं तुम्हारे बिना जी नहीं सकूँगा। पता नहीं मुझे क्या हो गया है। ध्यान नहीं कर सकता, समाधि नहीं लगा पाता, जप-तप भूल जाता हूँ। तुम्हीं मेरी आराध्या हो, पर ब्रह्मस्वरूपिणी।"[2] इस प्रकार जाबाला के सम्पर्क में जाकर 'रैक्व' की मानवीय वृत्ति अपने औदात्य के साथ प्रकट होकर रहती है। उसका जीवन एक ऐसे श्यामपट्ट के समान है जिसपर अभी कुछ लिखा नहीं गया है, जिससे आनेवाले हर परिवर्तन उसे प्रभावित करते हैं। इस स्थिति में एक भारी खतरा भी था कि उसके जीवन की दिशाएँ ऐसा मार्ग भी अपना सकती थीं कि वह कहीं का कहीं जा पड़ता? पर ऐसा इसलिए नहीं हो सका कि आरंभ से ही उसके व्यक्तित्व में ऐसे तत्त्व थे जिन्हें साधारण नहीं कहा जा सकता है। 'रैक्व' के जीवन में भी परिवर्तन आए पर उन परिवर्तनों से उसके व्यक्तित्व का विकास ही हुआ है, ह्रास नहीं। ज्ञानी 'रैक्व' जो समाज से सर्वथा कटा हुआ था, आगे चलकर समाज में ऐसा जुड़ा कि आधुनिक सर्वोदयी नेता भी उसके सामने मुश्किल से ही ठहर सकेंगे। उसके व्यक्तित्व का तेज इस उपन्यास में कहीं बुझने नहीं पाया है। ज्ञान को सब कुछ समझनेवाला 'रैक्व' स्वीकार करता है कि "माँ, जो दीन-दुखियों की सेवा नहीं कर सकता, वह क्या बुद्धि की परीक्षा करेगा! मैं अब थोड़ा-

---

१. अनामदास का पोथा—पृ० ३२

२. अनामदास का पोथा—पृ० ३४

३. अनामदास का पोथा—पृ० १६१

थोड़ा रहस्य समझने लगा हूँ। कोरी वाग्-वितण्डा ज्ञान नहीं है।"[1] इस प्रकार लोगों को 'रैक्व' के चरित्र में अस्वाभाविकता भले ही दिखलाई दे, पर जिस उद्देश्य को लेकर द्विवेदीजी ने उसकी सृष्टि की है, उसमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। वह एक प्रयोग का पुतला भले लगे पर सांस्कृतिक जड़ता को तोड़ने का सन्देश देनेवाला पात्र है। इसके माध्यम से उपन्यासकार ने तप के स्थान पर लोकसेवा भाव की प्रतिष्ठा की है और ऋषियों द्वारा निरूपित विवाह व्यवस्था को उद्बाह में एक ऋषि 'रैक्व' द्वारा परिवर्तित कर समाज के ज्वलंत प्रश्नों के साथ उसे ला जोड़ा है। यही इस पात्र की सार्थकता है और इसी दृष्टि से उसका मूल्यांकन अपेक्षित है।

जाबाला

शूद्र कन्या के रूप में जाबाला का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में है। 'अनामदास का पोथा' में द्विवेदीजी ने उसे राजकन्या के रूप में प्रस्तुत किया है और उसमें राजकन्या के सभी सद्गुणों का विकास दिखलाया है। जाबाला के पिता राजा जानश्रुत शूद्र थे, इसका भी उल्लेख द्विवेदीजी ने आरम्भ में ही टिप्पणी के रूप में कर दिया है। इस प्रकार इसके मूल स्रोत की वास्तविकता की रक्षा करते हुए द्विवेदीजी ने इस नारी पात्र को अपनी प्रतिभा के बल पर ऐसी मौलिकता प्रदान की है कि वह वर्तमान सामाजिक चुनौतियों का समाधान प्रस्तुत करने में पूर्ण सक्षम है। इस उपन्यास की कथा और इसके अधिकांश प्रमुख पुरुष पात्र भले ही द्विवेदीजी के अन्य उपन्यासों से अलग-थलग दिखलाई पड़ते हों पर जाबाला के व्यक्तित्व को जो गरिमा इस उपन्यास में प्रदान की गयी है, वह उनके अन्य उपन्यासों के प्रमुख नारीपात्रों की गरिमा-परम्परा के विकास की अगली कड़ी ही है।

संयोग के आधार पर जाबाला और रैक्व का मिलन एक ऐसी परिस्थिति में उपन्यासकार ने कराया है जब कि तूफान में फँस जाने के कारण जाबाला का जीवन संकटापन्न था—"सामने एक बैलगाड़ी, जिसे उन दिनों रथ कहा करते थे, बुरी तरह कीचड़ में धँसी पड़ी है। बैल उसमें अवश्य जुते हुए थे लेकिन जान पड़ता है कि आँधी के भयंकर वेग से भाग खड़े हुए थे और गाड़ी धँसी पड़ी हुई थी। गाड़ीवान पास ही में मरा पड़ा था। रैक्व के मन में करुणा का उदय हुआ। हाय! बेचारा आँधी-तूफान में मर ही गया लेकिन गाड़ी से कोई दस-पन्द्रह हाथ पर एक और जीव उसी तरह आँधी-पानी से जूझता हुआ शिथिल-मुच्छित पड़ा हुआ था। रैक्व ने पहले तो उसे भी मरा समझा, परन्तु एकाएक अपने चिन्तन से प्राप्त उपलब्धि की याद आ गयी—वायु के बिना कोई जीवित नहीं रहता। देखना चाहिए कि यह जीवित है कि मर गया है।............देखा तो साँस चल रही थी।"[2] जो रैक्व की सहायता

१. अनामदास का पोथा—पृ० ९०

२. अनामदास का पोथा—पृ० २९

से सुरक्षित रह सका। अपने रक्षक को सामने पाकर नारी हृदय का उसके प्रति द्रवीभूत होना सहज स्वाभाविक है। बुद्धिवादी पाठक को यह सब सिने दृश्य की भाँति अस्वाभाविक एवं कपोलकल्पित भले लगे पर एक अकिंचन तपस्वी के प्रति राजकुमारी जाबाला का हार्दिक आकर्षण उसके व्यक्तित्व की महानता का द्योतक है। उसने केवल प्रथम दर्शन में उत्पन्न होनेवाला प्रेम ही नहीं प्रकट किया बल्कि विवाह और बाद में उद्‌वाह के बिन्दु तक उसे विकसित भी किया। रैक्व के माध्यम से उपन्यासकार जो तापस संस्कृति की निस्सारता उपन्यास में प्रकट करता है, उसमें उसे जाबाला ऐसे नारी पात्र के अभाव में कभी भी सफलता नहीं मिल सकती थी। जयशंकरप्रसाद कृत 'कामायनी' की 'श्रद्धा' की भाँति जाबाला प्रेरणादायिनी शक्तिस्वरूपा चित्रित की गयी है जो वीतरागी 'मनु' की भाँति तपस्चर्या में लीन 'रैक्व' को जीवन-क्षेत्र में उतरने के लिए विवश कर देती है। 'अनामदास का पोथा' की जाबाला का कार्य कामायनी की 'श्रद्धा' की अपेक्षा अधिक कठिन था। 'मनु' देवसृष्टि की विलासी संस्कृति का स्वाद चख चुके थे। प्रलय की विभीषिका में नष्ट हुई देवसृष्टि एवं उसकी उपलब्धियों के अभाव ने 'मनु' को विरक्त बनाया था। वे उसकी निस्सारता का अनुभव करने के कारण ही निराश और विरक्त हुए थे जिससे अवसर आने पर अन्तर्मन में छिपी उनकी रागात्मक वृत्तियों का पुनः सचेष्ट हो जाना संभव था। रूपवती श्रद्धा के व्यक्तित्व का जो जादू 'मनु' पर चला, उसके लिए उर्वर भूमि 'मनु' के हृदय में पहले से ही तैयार थी, जिससे 'श्रद्धा' को सफलता के शिखर तक पहुँचने में विशेष कठिनाई नहीं हुई। जाबाला की स्थिति विकट है, उसे 'रैक्व' रूपी ऐसे 'मनु' से पाला पड़ा है कि जो जीवन में 'हवा' को छोड़कर और कुछ जानता ही नहीं। स्त्री कौन-सी बला है इसका भी उसे ज्ञान नहीं है। ज्ञान को छोड़कर जीवन के सभी स्वादों से वह अपरिचित है और जाबाला को ऐसे ही ज्ञानप्रौढ़ अबोध युवक को जीवन-जगत की शिक्षा देनी है जिसके लिए पहले से न तो कोई माध्यम ज्ञात है और न तो 'रैक्व' के हृदय में उसके लिए पूर्व से कोई संस्कार ही विद्यमान है। जाबाला को अबोध मानव की शिक्षिका के रूप में उपन्यासकार ने प्रस्तुत किया है, जिसमें उसे पूर्ण सफलता मिली है। उसने अपने व्यक्तित्व के आकर्षक प्रभाव से न केवल 'रैक्व' के हृदय में नारी के प्रति आकर्षण उत्पन्न किया बल्कि उसने उसे झिड़की देकर लोक व्यवहार की शिक्षा भी दी'।—'देखो ऋषिकुमार! मैं महाराज जानश्रुति की कन्या हूँ, तुम्हें इतनी जानकारी होनी ही चाहिए कि इस तरह से स्त्रियों का स्पर्श करना अनुचित है, पाप है, परन्तु मैं तुम्हारी सफलता पर मुग्ध हूँ।''[1] वह स्त्री-पुरुष में क्या भेद है इसकी भी शिक्षा 'रैक्व' को उसके ज्ञान को माध्यम बनाकर देती है।—''ऋषिकुमार, तुमने व्याकरण पढ़ा है?............तो फिर जानते हो—

१. अनामदास का पोथा—पृ० ३१

व्याकरण में पुल्लिग और स्त्रीलिंग होता है ?····तुम पुल्लिग हो, मैं स्त्रीलिंग हूँ। आगे मुझे सम्बोधित करना हो तो वह व्याकरण-सम्मत स्त्रीलिंग के अनुसार होना चाहिए··· तुम मुझे 'शुभे' कहकर पुकारा करो। मैं देवलोक से नहीं आयी हूँ, इसी पृथ्वी लोक पर महाराज जानश्रुति की कन्या हूँ।"[1] इस प्रकार राजकन्या जाबाला एक मेधावी रूपवती सहृदय नारी के रूप में उपन्यास में चित्रित की गयी है जो किसी भी देश-जाति एवं समाज के लिए वरदानस्वरूप है। 'रैक्व' का ज्ञान जाबाला के बिना अधूरा है और वह उसे ज्ञान का वास्तविक स्वरूप दिखलाती है। 'रैक्व' महाराज जानश्रुति से स्पष्टतः स्वीकार करता है—"मैं उन्हें ही महाभागा शुभा कहता हूँ। उन्होंने ही मुझे ज्ञान का मार्ग दिखलाया है। मैं इस शोभन मुख की उपेक्षा नहीं कर सकता। मैं तो उसके उपोद्ग्रहणमात्र से कृतार्थ हूँ। ज्ञान का अंश मात्र भी मैं नहीं जानता। जानता हूँ केवल इस मुख की अपूर्व उद्ग्राहिका शक्ति, इस मोहन मुख की सभी आज्ञा मेरे लिए श्रुतिवाक्य के समान है।"[2]

जाबाला उद्बुद्ध सहृदय नारी की एक ऐसी आकर्षक चेतन प्रतिमा है जिसमें श्रेष्ठ नारी गुणों का पूर्ण समन्वय हुआ है। जड़ में भी चेतन का संचार करनेवाला उसका ऐसा व्यक्तित्व है कि 'रैक्व' ऐसा उदासी भी उसके प्रति श्रद्धावनत है। उपन्यासकार की कल्पना-कला का सर्वाधिक प्यार इस नारी पात्र को मिला है।

मामा

'मामा' का अनगढ़ व्यक्तित्व 'अनामदास का पोथा' का महत्वपूर्ण आकर्षण है। निपट गँवार और अनपढ़ 'मामा' अपने मानवीय गुणों के कारण इतने स्पृहणीय हैं कि वे लोकप्रियता में उपन्यास के अधिकांश पात्रों को बहुत पीछे छोड़ देते हैं। वे उपन्यास में बहुत थोड़े समय के लिए दिखाई पड़ते हैं, परन्तु सम्पूर्ण उपन्यास पर अपने मोहक व्यक्तित्व के कारण छा जाते हैं। ममता की खान 'मामा' में निहित परोपकार एवं दीन-दुखियों अथवा पीड़ितों को जिलाने की भावना किसी दर्शन अथवा चिंतन के कारण नहीं आयी है और न तो वे उपन्यासकार के अन्य पात्रों की भांति रहस्य आदि के बोझ से दबे हुए ही हैं। परिस्थितियों के सन्दर्भ में अपनी स्वभाव-प्रेरित इच्छाओं के कारण वे लोकोपकार में लगे हैं। अकालग्रस्त क्षेत्र में 'रैक्व' और ऋतंभरा से मामा का मिलन उपन्यास का सर्वाधिक मार्मिक स्थल है और वे अपनी उपस्थिति से दार्शनिकों एवं ज्ञानियों की आँखें खोल देते हैं। ऋषिपत्नी ऋतंभरा यह स्वीकार करने के लिए विवश हो जाती है कि "जिसमें जिलाने की इच्छा है

---

१. अनामदास का पोथा—पृ० ३१

२. अनामदास का पोथा—पृ० १८३

वह जीने की इच्छा का रहस्य जान गया है।"[1] राहत कार्य में लगी सरकारी योजनाओं को मामा का आचरण चुनौती देनेवाला है। इस पात्र के माध्यम से लोकसेवा का ढोंग रचनेवाली शासन व्यवस्था की द्विवेदीजी ने निस्सारता प्रकट की है। सेवा करना ही मामा का धर्म बन गया है और इस प्रकार द्विवेदीजी ने इस पात्र के माध्यम से वास्तविक तपश्चर्या का आदर्श प्रस्तुत किया है। ऋषिपत्नी ऋतंभरा भी स्वीकार करती हैं कि 'मामा' ही वास्तविक रूप में तपस्या कर रहा है। अपने को संकट में डालकर मामा दूसरों के बच्चों के लिए साग-पात, फल-फूल और शहद ले जाते हैं। उन्हें प्रेम से खिलाते हैं और उनका मन बहलाने के लिए झूठी कहानियाँ गढ़कर सुनाते हैं। मामा झूठ बोलता है, पर वह ऐसा झूठ है कि जिसके सामने सत्य की सत्ता ही समाप्त हो जाती है। ऋतंभरा को मामा में परमपिता परमेश्वर की ज्योति दिखाई देती है।[2] वे स्पष्ट घोषित करती हैं—यह झूठ नहीं बोल रहा है। परम वैश्वानर का इंगित समझ रहा है। परमात्मा ने भी तो हमारी प्रसन्नता के लिए माया का यह झूठा संसार रच रखा है।"[3] इसके बाद मामा उपन्यास में सिर्फ एक बार और दिखाई देते हैं।

राजा जानश्रुति द्वारा राहत-कार्य के सन्दर्भ में किये गये नाटक पर मामा की टिप्पणी आज भी प्रासंगिक है। वह 'रैक्व' से कहता है—राम राम ब्रह्मचारीजी, क्या कह रहे हैं आप ? बोझ ढोना आपका काम है ? इसके लिए तो विधाता ने हम लोगों को बना ही रखा है। आप वेद-शास्त्र का अध्ययन करेंगे, धर्म का उपदेश देंगे तभी हम पामर जनों का कल्याण होगा।"[4] 'रैक्व' को आश्चर्य में डालते हुए मामा का यह कहना कि "आप पूछ रहे थे न कि मैं इधर कैसे आया ? राजा ने घोषणा की है कि कोहलियों का गन्धर्व पूजन नाटक होगा। उसके लिए जो लोग रंगभूमि का निर्माण करेंगे उन्हें अन्न दिया जायेगा। सुनते ही चल पड़ा। सेरभर अन्न मिल जाये तो बच्चों को खिलाऊँगा। बिचारों ने बहुत दिनों से अन्न का मुँह नहीं देखा।"[5] दोषपूर्ण शासन व्यवस्था पर एक करारा व्यंग्य है।

मामा इस उपन्यास के अन्य पात्रों की भाँति ज्ञानी, तपस्वी और शास्त्र का ज्ञाता नहीं है, पर वह जीवन के यथार्थ से पूर्णतः परिचित है। मामा का अपना जीवन में कोई स्वार्थ नहीं और न तो कोई उसका अपना है। सब उसके और वह सबका है। उसका "विधाता ने अपना कोई नहीं छोड़ा तो सारा गाँव ही अपना हो गया।" वह सब बच्चों का मामा है। जवानों का भी, बहुओं का भी और सासों का भी। वह

१. अनामदास का पोथा—पृ० ८८
२. अनामदास का पोथा—पृ० ८६
३. अनामदास का पोथा—पृ० ८६
४. अनामदास का पोथा—पृ० १०३
५. अनामदास का पोथा—पृ० १०३

सबका मामा है। इस उपन्यास में यही उसकी सबसे बड़ी पहचान है। बिजली की कौंध की भाँति मामा उपन्यास के आकाश में चमककर चला जाता है, पर एक अद्‌भुत रस की सृष्टि करके जाता है। जिस प्रकार मामा ने अपने हृदय में दीन-दुखियों की करुण वेदना समेट रखी है उसी प्रकार उसके अचानक उपन्यास से गायब हो जाने की वेदना सहृदय पाठक के हृदय में सिमटकर रह जाती है। उपन्यास का सब कुछ भूल सकता है पर मामा का अनगढ़, अद्‌भुत और जीवन की मस्ती से भरा हुआ रसमय व्यक्तित्व पाठक के हृदय पर अपनी एक अमिट छाप छोड़ जाता है।

अन्य पात्र

'अनामदास का पोथा' चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि वह चिंतन और जीवन मूल्यों की व्याख्या के लिए महत्वपूर्ण है। फिर भी रैक्व, जाबाला और मामा जैसे पात्र अपनी विशिष्टताओं के साथ इस उपन्यास में प्रस्तुत हैं। इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त राजा जानश्रुति, जटिल मुनि, भगवती ऋतम्भरा, ऋजुका, अरुन्धती, औषस्ति तथा आश्वलायन आदि पात्र उल्लेखनीय हैं।

राजा जानश्रुति एक शासक की दुर्बलताओं एवं सबलताओं के साथ उपन्यास में प्रस्तुत हैं। उपन्यासकार ने उनमें एक अच्छे पिता के उन सभी गुणों का समावेश किया है जो अपनी प्यारी पुत्री की सुख-सुविधा एवं भावनाओं की पूर्ति में सहायक होने के लिए अपेक्षित है।

जटिल मुनि एक ऐसा पात्र है कि उपन्यास में जिसकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं जान पड़ती। वह अपनी समन्वयवादिता के कारण पाठकों का ध्यान आकर्षित करता है। वह एक ओर एकांतवादी भी है तो दूसरी ओर महर्षि औषस्तिपाद का प्रशंसक भी। वह मातृशक्ति का साक्षात्कारी भी है और साथ ही साथ अपने हाथ से घास छीलकर अन्न ग्रहण करनेवाला स्वावलम्बी पुरुष भी। जटिलमुनि की भूमिका इस उपन्यास में इसलिए महत्वपूर्ण है कि उपन्यासकार उसके माध्यम से ही विवाह के स्थान पर उद्‌वाह की स्थापना करता है।

औषस्तिपाद, उदुम्बरायण और आश्वलायन आदि ऐसे पात्र हैं जो उपन्यास के कलात्मक संयोजन में उस कील और काँटे के समान हैं जो उपन्यास की सामग्री को एक-दूसरे से अलग नहीं होने देते।

भगवती ऋतम्भरा, ऋजुका और अरुन्धती अपनी मानवीय भावनाओं के कारण उपन्यास में सरसता एवं स्वाभाविकता का संचार करती हैं। भगवती ऋतम्भरा ऋषि-पत्नी की अपेक्षा ममतामयी एक सहृदय नारी है जो उपन्यास में यथास्थान सामाजिक जीवन की सहज व्याख्या प्रस्तुत करती है। 'अनामदास का पोथा' चिंतनप्रधान उपन्यास होने के कारण ऐसे पात्रों की सृष्टि करने में ज्यादा सक्षम दीखता है जो चिंतन के बवंडर जान पड़ते हैं। केवल मामा, भगवती ऋतम्भरा, ऋजुका और अरुन्धती ऐसे पात्र हैं जो सहृदय पाठक के हृदय को छूते ही नहीं, प्रभावित भी करते हैं। ●

१२ | प्रतीक, बिम्ब और मिथक

हिन्दी उपन्यास साहित्य के विकास क्रम में जिस प्रकार मुंशी प्रेमचन्दजी ने अपने उपन्यासों के द्वारा हिन्दी उपन्यास को साहित्यिकता का स्तर प्रदान किया और तिलस्मी, जासूसी, खूनी एवं अतिरंजित कल्पनाप्रवण घटनाप्रधान उपन्यासों के पाठकों को अभिनव साहित्य बोध तक पहुँचाया, उसी प्रकार हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने उपन्यासों के द्वारा हिन्दी उपन्यास साहित्य को कलात्मकता प्रदान की और हिन्दी उपन्यास को हल्का-फुल्का समझनेवाले पाठकों को हिन्दी उपन्यास की कलात्मक गरिमा एवं गम्भीरता को स्वीकार करने के लिए विवश किया। एक बार यह स्वीकार कर लेने पर कि उपन्यास कला का ही एक अंग है, फिर यह न मानने का कोई कारण नहीं कि उपन्यास की अभिव्यक्ति कलात्मक होती है। कलात्मक अभिव्यक्ति का सामान्यतः यह अर्थ होता है कि वांछित प्रसंगों, नपी-तुली भाषा का अर्थ गर्भत्व तथा प्रतिनिधित्व करनेवाली स्तरीय शब्दावली और अर्थ वहन करनेवाले संकेतों के माध्यम से उपन्यास के विचार सामने आयें। कविता, नाटक, कहानी के स्रष्टा कृति में सौन्दर्य एवं कलात्मकता लाने के लिए जो आवश्यक प्रयत्न करते हैं उसके परिणामस्वरूप अलंकार चित्र, भाषाशैली, बिम्ब, प्रतीक तथा मिथक आदि सामने आते हैं, जो अब उत्तम कला कृति के अनिवार्य अंग बन गए हैं। द्विवेदीजी के उपन्यासों में इन्हें सहज ही देखा जा सकता है।[1]

साहित्य में प्रयुक्त प्रतीक मुख्यतः लघु (माइनर) और प्रौढ़ (मेजर) दो प्रकार के होते हैं। उपन्यासों में भी इसी प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग देखने में आता है। लघु प्रतीक अर्थात् माइनर सिम्बल का परिस्थितिगत महत्व होता है। सम्पूर्ण कृति के एक या दो दृश्यों में वे आते हैं और अपनी उपस्थिति से चरित्रों एवं उनके कार्य-कलापों को स्पष्टता प्रदान करते हुए सम्पूर्ण परिस्थिति के कतिपय पक्षों को स्पष्ट करते हैं। पर जहाँ तक मेजर सिम्बल का प्रश्न है, उसका प्रयोग उपन्यासों में कृति को उसकी सम्पूर्णता में अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए किया जाता है। मेजर सिम्बल का महत्व समूची कृति में मात्र तात्कालिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही नहीं होता बल्कि वह सम्पूर्ण कृति का मेरुदण्ड होता है। प्रतीकों का प्रयोग हिन्दी साहित्य के लिए कोई

१. विस्तार के लिए देखें, 'हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग' ले० डॉ० त्रिभुवन सिंह (पृ० ३०८ से ३१२ तक)

आकस्मिक घटना नहीं बल्कि साहित्य की परम्परा में उत्तरोत्तर विकास की परिणति है। भावों के अनुरूप आदान प्रदान की अर्थपूर्ण भाषा प्राप्त करने के पूर्व से लेकर आज तक प्रतीकों के माध्यम से कहने और ग्रहण करने की प्रक्रिया चली आ रही है। यह दूसरी बात है कि उसका स्वरूप परिवर्तित होता रहा है। आदिम युग में आवश्यकताओं को व्यक्त करने के लिए स्थूल सांकेतिक कायिक भंगिमाओं द्वारा और आज विशिष्ट अर्थ-गर्भत्व के माध्यम से प्रतीक सुविधा और सौन्दर्य की सृष्टि कर रहे हैं। आधुनिक शताब्दी विज्ञान की शताब्दी है और विज्ञान के जीवन के प्रतीक क्षेत्र में सुविधाएँ प्रदान की हैं। धरती छोटी हुई, आकाश और धरती की दूरी कम हुई तथा गतिमत्ता ने सर्वत्र अपना चमत्कार दिखलाया है। यह युग आँकड़ों का युग है जिसमें लाखों करोड़ों का हिसाब किताब और आदान-प्रदान कागज पर लिखी दो-चार पंक्तियों में हो रहा है। अतः स्वाभाविक है कि साहित्य की व्यापकता को प्रतीकों के माध्यम से सीमित होना पड़े। इस प्रकार प्रतीक आधुनिक साहित्य की उत्तमत्ता की कसौटी बनता जा रहा है और हिन्दी उपन्यासों में भी उसकी लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ रही है। प्रतीक को स्पष्ट करने के लिए "रिचर्ड ब्लेकमर' के विचार अत्यन्त उपयोगी हैं। 'प्रतीक एक अर्थ समूह है जो एक बार स्थिर होकर अपने प्रति अन्यान्य अर्थों को आकृष्ट करता रहता है। जबतक कि यह अतिपूरित होकर समाप्त नहीं हो जाता। रचना में यह शब्द भंगिमाओं से उपार्जित होता है।'[1] साहित्य में प्रतीक अभिव्यक्ति का एक माध्यम है जिसके द्वारा चेतना के धरातल पर अप्रत्यक्ष को अधिकाधिक रूप में प्रस्तुत किया जाता है। प्रतीक अनन्त अथवा उसके कतिपय अंशों का प्रतिनिधित्व पुनर्सृष्टि किए बिना करता है। इसके द्वारा अनन्त का प्रकटीकरण होता है जो उसी में सन्निहित होता है। इस प्रकार प्रतीक के रूप में अनन्त अथवा अपरिमित, परि-सीमित किया जा सकता है।[2]

द्विवेदी जी के उपन्यासों में प्रतीकों का प्रयोग मानवीय मूल्यों के सन्दर्भ में हुआ है जो उपन्यास के प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने एवं उसे व्यापकता प्रदान करने में योग देते हैं। लघु प्रतीकों की अपेक्षा प्रौढ़ प्रतीकों के प्रयोग में द्विवेदी जी की विशेष अभि-रुचि जान पड़ती है। इसलिए स्वाभाविक है कि वे अपने उपन्यासों के माध्यम से जीवन के किसी विशेष पक्ष को न चित्रित कर व्यापक फलक पर उसके मूल्यों की सृष्टि करते हैं जिसके लिए प्रौढ़ प्रतीक ही सक्षम हैं। इस दृष्टि से यदि द्विवेदी जी के

---

१. उदय शंकर श्रीवास्तव के लेख—'बिम्ब सृष्टि' से उद्धृत ('साहित्यिक निबन्ध' सम्पादक डा० त्रिभुवन सिंह, पृ० ५९४)

२. विस्तार के लिए देखिए—हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग लेखक—डा० त्रिभुवन सिंह, पृष्ठ सं० ३१०।

उपन्यासों की मूल भावना एवम् उनके शीर्षकों पर विचार किया जाय तो बात और भी स्पष्ट हो जाएगी। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' 'चारुचन्द्रलेख' 'पुनर्नवा' और 'अनामदास का पोथा' नामक उनके चारों उपन्यासों के शीर्षक 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को छोड़कर व्यक्तिपरक न होकर भावपरक हैं। 'बाण भट्ट की आत्मकथा' का शीर्षक उपन्यास के प्रमुख पात्र बाणभट्ट के नाम पर रखा गया है। पर यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट हो जाएगा कि समूची रचना पर बाणभट्ट व्यक्ति के रूप में नहीं बल्कि एक प्रतीकात्मक भाव के रूप में ही छाया हुआ है। वह ऐसे प्रतीक के रूप में प्रस्तुत है जिसका प्रतिनिधित्व विश्वास जगत में भट्टिनी के आराध्य देव महावाराह करते हैं। इस प्रकार यदि स्थूल दृष्टि से न विचार कर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का शीर्षक भी व्यक्तिपरक न होकर भावपरक ही है। ऐसी स्थिति में द्विवेदी जी के उपन्यासों में प्रयुक्त प्रतीकों को स्पष्ट करने के लिए उनके शीर्षकों पर विचार करना आवश्यक है और उनके शीर्षकों की यदि विधिवत् विवेचना कर ली जाए तो उनके माध्यम से प्रतीकों को समझने में आसानी हो सकती है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में 'महावाराह' का उल्लेख बार-बार होता है इस उपन्यास में 'महावाराह' का प्रयोग प्रौढ़ प्रतीक के रूप में हुआ है। सम्पूर्ण उपन्यास में धरतीस्वरूपा नारी अपनी नारकीय परिस्थितियों में 'महावाराह' की प्रतीक्षा कर रही है। नर्क में पड़ी धरती का उद्धार नर्क में जाकर महावाराह ने किया था। उसी प्रकार नारी उद्धार के लिए पुरुष को सामने आना ही होगा। इस सन्दर्भ में 'बाणभट्ट की आत्मकथा, का नायक 'बाणभट्ट' महावाराह का प्रतीक है। जिससे नर्करूपी छोटे राजकुल में पड़ी धरतीस्वरूपा भट्टिनी के उद्धार की अपेक्षा है। सम्पूर्ण उपन्यास का तन्त्र इसी भावना से आप्लावित है। अतः महावाराह इस उपन्यास में प्रयुक्त प्रौढ़ प्रतीक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में प्रतीक के माध्यम से एकओर जहाँ वर्णन में कलात्मकता आई है, वहीं दूसरी ओर उपन्यासकार उसके प्रयोग से वस्तु जगत् से बाहर जाकर उपन्यास के चित्रण क्षेत्र को अन्य जगत के समावेश से समृद्ध बनाता है। इस समृद्धि के लिए उसे अतिरिक्त चित्रण अथवा दृश्य विस्तार की आवश्यकता नहीं पड़ती बल्कि कुछ प्रतीक रूप में प्रयुक्त शब्दों को अर्थवत्ता प्रदान करनी पड़ती है अथवा अर्थ प्राप्य शब्दों को संदर्भ में बैठाने का श्रम उठाना पड़ता है। यह उपन्यासकार के लिए एक कलात्मक कार्य है।

साहित्य और कला की चित्रात्मक अभिव्यक्ति होती है। उसमें ऐसे संकेतों, शब्दों अथवा रूपों का प्रयोग होता है कि जिससे प्रस्तुत विषय शाब्दिक और सीधे अर्थ के बजाय भिन्न अर्थ भी देते हैं। उपन्यास अथवा किसी भी साहित्य रूप में सफल रूपकात्मकता का निर्वाह तभी माना जायगा जब कि वह कृति में आदि से लेकर अन्त तक

भिन्न अर्थ की अभिव्यक्ति करता रहे। कथा की रूपकात्मकता में संगति और आकर्षण का होना अनिवार्य है। कथा और आख्यायिकाएँ इसके प्रयोग के लिए उपयुक्त होती हैं। उपन्यास में रूपक सीमित संदर्भ में और रूपकात्मकता व्यापक संदर्भ में अर्थ विस्तार की क्रिया है। इसके माध्यम से अर्थ के एकाधिक धरातल सामने आते हैं। इसे समझने के लिए पाठक का ज्ञानी होना आवश्यक है। अन्यथा यह अर्थहीन पड़ा रहता है। महाकाव्यों की शैली का प्रयोग धार्मिकता की अभिव्यक्ति के लिए प्रायः होता रहा है। उपन्यासों में इसकी लोकप्रियता अपेक्षाकृत कम है। कुछ लोगों का मत है कि पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत उपन्यास 'चारु चन्द्रलेख' में इसका व्यवहार किया गया है। 'राजा' 'रानी' और 'मैना' एक प्रतीक कथा भी बनाते हैं। 'राजा' ज्ञानशक्ति है; 'रानी' इच्छाशक्ति और 'मैना' क्रियाशक्ति। अकेला ज्ञान (राजा) असमर्थ है, वह इच्छा-शक्ति (रानी) के सहयोग से सिद्धि की ओर बढ़ता है, लेकिन इच्छा, क्रिया (मैना) से योग कराकर भटक जाती है—"लेखक त्रिपुर के इस वैषम्य को कामायनीकार की भाँति किसी ज्योति रेखा के काल्पनिक समाधान से नहीं मिटाता और कथा के युग की असफलता को चित्रित करते हुए वर्तमान में भी वैषम्य की ओर संकेत करता है।"[1]

वर्तमान सामाजिक विषमता से उत्पन्न वेदना की ओर द्विवेदी जी की दृष्टि बराबर रही है और वे स्वीकार करते हैं कि यह वेदना तब तक समाप्त नहीं होगी जब तक कि इच्छा, क्रिया और ज्ञान में समन्वय स्थापित न होगा। इनकी परस्पर विषमता ही सामाजिक वेदना के मूल में है। इसे स्पष्ट करने के लिए वे अपने उपन्यास में पात्रों को प्रतीक रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह स्थिति इनके उपन्यास 'चारुचन्द्रलेख' में ही नहीं बल्कि "बाणभट्ट की आत्मकथा" और 'पुनर्नवा' में भी समान रूप से पाई जाती है। 'अनामदास का पोथा' चूँकि चिन्तन प्रधान उपन्यास है जिससे इस शैली का स्पष्ट निर्वाह तो उसमें नहीं हुआ है पर अनेक सूक्तियों के माध्यम से उसमें भी इस तथ्य को स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार 'चारुचन्द्र लेख' में राजा, रानी और मैना का त्रिकोण बनता है और त्रिभुज बनने से पहले बिखर जाता है। थोड़े परिवर्तन के साथ इस स्थिति को बाणभट्ट की आत्मकथा और पुनर्नवा में भी देखा जा सकता है। बाणभट्ट की आत्मकथा में 'भट्टिनी' 'निपुणिका' और 'बाणभट्ट' इसी प्रकार इच्छा, क्रिया और ज्ञान के प्रतीक जान पड़ते हैं, जिस प्रकार कि 'चारु चन्द्र लेख' के रानी, मैना और राजा। बाणभट्ट प्रतिभा और सामर्थ्य के बावजूद भटकता रहता है। आरम्भ में निपुणिका के अदृप्त प्रेम को वह भाँप भी न सका जिससे निपुणिका की कोई क्रियमाण भूमिका बन नहीं पाती। आगे चलकर निपुणिका के सहयोग से ही वह इच्छा-

---

१. नवल किशोर द्वारा लिखित निबन्ध 'चारुचन्द्रलेख' से उद्धृत 'शान्ति निकेतन से शिवालिक' सम्पादक डा० शिवप्रसाद सिंह पृष्ठ सं० ३०७।

रूपिणी भट्टिनी के सम्पर्क में आता है और उत्तरोत्तर उसमें दायित्व बोध उत्पन्न होता, तीव्र होता जाता है। बहुत दूर तक तीनों एक साथ नहीं चल सके और अभिनय के अवसर पर निपुणिका ने अपनी ऐहिक लीला समाप्त कर 'भट्ट' और भट्टिनी के प्रेम को अनुकूल दिशा में विकसित होने के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। इस प्रकार भट्टिनी (इच्छा) और बाणभट्ट (ज्ञान) निपुणिका (क्रिया) से अलग हो गए और शीघ्र ही भट्ट को भट्टिनी से अलग होना पड़ा। झुकी हुई आँखों को और भी झुकाकर भट्टिनी का यह कहना—'जल्दी ही लौटना' निश्चित उत्तर की अपेक्षा रखता है। बाणभट्ट की अन्तरात्मा के आत्म गह्वर से उठी यह आवाज—'फिर क्या मिलना होगा' भट्टिनी के आग्रह का सही जवाब नहीं है और इस प्रकार उपन्यास एक विषमता के बिन्दु पर समाप्त होकर आगे बहुत कुछ सोचने के लिए विवश कर देता है। इन पात्रों के जीवन की यह विडम्बना आज की वर्तमान सामाजिक विडम्बना से सीधी जुड़ती है जो वेदना का कारण है।

'पुनर्नवा' में 'मृणाल', 'चन्द्रा' और 'गोपाल आर्यक' इच्छा, क्रिया और ज्ञान के प्रतीक रूप में देखे जा सकते हैं गोपाल आर्यक ने जब से होश सम्भाला मृणाल उसके पौरुष को उद्बुद्ध करने वाली प्रेरणादायिनी शक्ति रही है। 'मृणाल' 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की भट्टिनी की अपेक्षा, 'चारुचन्द्रलेख' की चन्द्रलेखा के अधिक निकट है। चन्द्रलेखा राजा की रानी है तो मृणाल को भी गोपाल आर्यक की रानी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। चन्द्रा का विवाह एक क्लीव पुरुष से हो चुका था जिसे उसने कभी पति के रूप में स्वीकार नहीं किया। विवाह के पूर्व से ही वह गोपाल आर्यक के प्रेम में आबद्ध है। इस प्रेम दशा के धरातल पर वह 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की 'निपुणिका' और 'चारुचन्द्रलेख की' 'मैना' के निकट है। पर विवाहिता होने के कारण उसकी सामाजिक स्थिति दोनों से भिन्न है। यह भिन्नता इसलिए कि द्विवेदी जी ने इस उपन्यास में 'पुनर्नवा' के स्वागत पर बल दिया है। वे बार-बार जड़ीभूत सामाजिक व्यवस्था को तोड़ डालने पर बल देते हैं और नई परिस्थियों के अनुरूप उसे टालने के लिए आवश्यक मानते हैं। इस उपन्यास के पात्रों की भिन्नता के मूल में द्विवेदी जी के संकल्प की भिन्नता है पर निहित मूल भावना में अद्भुत साम्य है, थोड़े संशोधन के साथ। चन्द्रा अदृप्त प्रेम की शिकार नहीं बनना चाहती और अपने यौवन की उद्दाम लालसा से प्रेरित होकर तृप्ति के लिए गोपाल आर्यक का पीछा करती है। गोपाल आर्यक परम्परा भय से भाग खड़ा होता है और इस प्रकार मृणालरूपी इच्छाशक्ति से भी अलग हो जाता है। इस प्रकार गोपाल आर्यक मृणाल (इच्छा) तथा चन्द्रा (क्रिया) दोनों से अलग होकर अनेक संकटों में फँसता एक प्रताड़ित जीवन जीने के लिए विवश होता है। सभी अपने-अपने एकाकी जीवन में दुःखी और क्लान्त हैं क्योंकि समन्वय के अभाव में जीवन विडम्बित हो गया है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' और चारुचन्द्रलेख के पाठकों को द्विवेदी जी ने जहाँ छोड़ दिया था इस उपन्यास में वे उन्हें साहसपूर्वक आगे बढ़ने का संदेश देते हैं। मृणाल, चन्द्रा, गोपाल आर्यक का पुनर्मिलन जीवन की विडम्बना को समाप्त करने वाला है और इस उपन्यास का यही साहसिक अभियान है। मृणाल और गोपाल आर्यक बहुत दिनों के बाद एक दूसरे से मिले। इसके पूर्व ही चन्द्रा का मूर्छित हो जाना उपन्यासकार की कला का एक सुन्दर नमूना है। मृणाल और चन्द्रा दोनों एक साथ हैं और दोनों परस्पर एक दूसरे को गोपाल आर्यक को समर्पित कर कृतकृत्य होना चाहती हैं, पर यह गोपाल आर्यक के लिए परीक्षा की घड़ी थी कि वह सर्वप्रथम किसे स्वीकार करे मृणाल को अथवा चन्द्रा को। चन्द्रा को मूर्छित कराकर द्विवेदी जी ने परिस्थिति सम्भाल ली और वे चाहते हैं कि वह इच्छाशक्ति मृणाल को सर्वप्रथम स्वीकार करे। मृणाल स्वयं क्रियाशक्ति (चन्द्रा) से गोपाल आर्यक को ला जोड़ती है—'थोड़ी देर बाद मृणाल ने ही मौन भंग किया; 'दीदी! चलो पटवास में'। चन्द्रा उठी, जैसे देह धारिणी भक्ति उठी हो। मृणाल के कंधे पर सिर रखकर आर्यक का हाथ पकड़ कर वह धीरे-धीरे पटवास में आई। शायद ऊपर देवताओं ने दुन्दुभि-निनाद किया, धरती पर महावीर आर्यक, चन्द्रा भाभी और मैना भाभी के जय निनाद से वायुमण्डल गूँज उठा—जय, जय, जय।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी जी ने बाणभट्ट की आत्मकथा और चारु चन्द्रलेख नामक अपने उपन्यासों में जिस विषमता की पीड़ा का अनुभव किया था पुनर्नवा में इच्छा, क्रिया और ज्ञान के समन्वय से उस पीड़ा से मुक्ति का संदेश दिया है। द्विवेदी जी की यह सामान्य प्रवृत्ति रही है कि वे अपने उपन्यासों में छोटी-बड़ी कथाओं तथा पात्रों के माध्यम से रूपकों एवं प्रतीकों का सहज निर्वाह कर अपनी कथासृष्टि को समृद्धि प्रदान करते हैं। 'अनामदास का पोथा' सभी उपन्यासों से भिन्न प्रकृति का उपन्यास है जिससे उसके सम्बन्ध में दूसरे ढंग से विचार करना होगा। मैंने ऊपर ही संकेत किया है कि उपन्यासकार ने उसमें सूक्तियों के सहारे उपन्यास की सीमा में बाह्य जगत की सृष्टि को समेटा है। सामान्यतः उपन्यासकार इस प्रकार की कलाशक्ति का सहारा नहीं लेते जिसकी कि लोकप्रियता महाकाव्यों के क्षेत्र में अधिक रही है। उपन्यास की प्रकृति जन सामान्य बोध की ओर होने के कारण प्रतीक कला अथवा रूपात्मक शैली के बहुत अनुकूल नहीं ठहरी जिससे इसका व्यवहार उपन्यास साहित्य में यत्किञ्चित ही हुआ।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने महाकाव्यों में प्रयुक्त होनेवाले काव्य-कौशल को उपन्यास कला के साथ जोड़कर हिन्दी उपन्यास साहित्य को एक प्रौढ़ कला कृति के रूप में सम्मान दिलाने में सफलता प्राप्त की है। अपने उपन्यासों में उन्होंने जिस प्रकार प्रतीकों का सार्थक प्रयोग किया है उसी प्रकार बिम्ब योजना से भी उनके

उपन्यास कलात्मक बन पड़े हैं। स्मृत बिम्बों से तो उनके सभी उपन्यास भरे पड़े हैं और विशेषकर बाणभट्ट की आत्मकथा, चारुचन्द्रलेख और पुनर्नवा में तो उनका अत्यन्त सफल एवं सार्थक प्रयोग देखने को मिलता है। डायरी अथवा आत्मकथात्मक शैली में लिखे गये उपन्यासों के लिए तो स्मृति बिम्ब अत्यधिक उपयोगी प्रमाणित हुए हैं। स्मृत बिम्बों की सहायता से द्विवेदीजी ने अपने उपन्यासों को स्वाभाविकता एवं विश्वसनीयता प्रदान की है। बाणभट्ट की आत्मकथा और चारुचन्द्रलेख की कलात्मक उपलब्धि द्विवेदीजी की बिम्ब योजना के कारण ही पुनर्नवा के भी अनेक पात्र स्मृत बिम्बों के सहारे अपनी भूली-बिखरी यादों को कथा प्रसंग के साथ जोड़कर उपन्यास के प्रतिपाद्य की स्पष्टता प्रदान करते हैं। इस प्रकार बिम्ब और प्रतीक योजना द्विवेदीजी की उपन्यास कला का प्राण है। इस सन्दर्भ में मिथकों के प्रति द्विवेदीजी के आकर्षण का उल्लेख कर देना भी समीचीन होगा। रूपकात्मक शैली में प्रतीक कथा का व्यवहार होता है, पर जब उपन्यास में प्रयुक्त प्रतीक, कथा के साथ प्रस्तुत होते हैं तो वे मिथक बन जाते हैं। 'मिथक' में आदि प्रतीकों का प्रयोग होता है। इन आदि प्रतीकों की निजी विशेषता होती है। जब ये किसी अन्य परिवेश, वातावरण या विश्वास के रूप में बदल जाते हैं तो आन्तरिक प्रतीक भी नये अर्थ सन्दर्भ के परिचायक बन जाते हैं। प्रतीक सृजन और पुनर्सृजन द्वारा अपने रूप की रक्षा करते हैं, पर मिथक वैयक्तिक चिन्तन द्वारा इसे बनाये रहते हैं।'[1] मिथक परी की कहानी से भिन्न हो, मानव की अर्थीप्सित और चिर इच्छित अभिलाषाओं से प्रादुर्भूत होता है। भारत में मिथकों को देवत्व का जामा पहना दिया गया है, जब कि पाश्चात्य मिथकों के साथ वैसी कोई बात नहीं है। द्विवेदीजी के उपन्यास बाणभट्ट की आत्मकथा में महावाराह जहाँ एक ओर प्रौढ़ प्रतीक (मेजर सिम्बल) के रूप में प्रयुक्त किया गया है, वहीं वह उपन्यास में केन्द्रवर्ती मिथक भी है। संकटकालीन स्थितियों में मानव उद्धारकर्त्ता की कल्पना करता है, जो उसे ढाढ़स बँधाता है और बाद में अन्ध-विश्वासों से युक्त हो वह मिथक बन जाता है। लौकिक अर्थों में मिथक प्रतीक और विश्वास जगत में प्रतीक मिथक बन जाता है। जलप्लावन में डूबी धरती जब संकट मुक्त हुई होगी तो उसके उद्धारकर्त्ता की कल्पना महावाराह के रूप में कभी हुई होगी। 'महावाराह अव्यवस्था में व्यवस्था लाता है। वह स्वयं में सार्वभौम व्यवस्था 'कास्मिक आर्डर' है। वह शक्ति और वर्चस्वता का स्रोत है। 'मौवीडिक' के व्यापक जल-प्रसार में मनुष्य को जो निर्यातन और अकिंचनता मिलती है, वह यहाँ नहीं है। यहाँ भी मनुष्य अकिंचन है किन्तु अकिंचनता उसके अहं के विसर्जन में है क्योंकि वास्तविक उद्धारकर्त्ता महावाराह हैं। सचराचर धरा जल में मग्न है। भट्टिनी महामाया,

---

१. कला सृजन प्रक्रिया—डॉ० शिवकरण सिंह, पृष्ठ १८३

निपुणिका, सुचरिता सभी पंक में डूबी हुई हैं। सम्पूर्ण मध्यकाल गतिशून्य हो गया है। बाणभट्ट स्वयं डूबा हुआ है। इस मिथक के द्वारा उस परिवेश के उद्धार की कथा ही 'बाणभट्ट की आत्मकथा' है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि कथा के स्तर पर महावाराह मिथक और अर्थबोध के स्तर पर प्रौढ़ प्रतीक है। पुनर्नवा में यद्यपि इस प्रकार के मिथक का प्रयोग नहीं हुआ है पर गोपाल आर्यक के प्रति जिस प्रकार का विश्वास जन-मानस में उत्पन्न हो गया था, उससे वह उपन्यास का एक साधारण पात्र न रहकर पाश्चात्य मिथकों की भाँति तत्कालीन संकटकालीन स्थितियों में उद्धार-कर्त्ता का विश्वास प्राप्त करने के कारण केन्द्रवर्ती मिथक का स्वरूप प्राप्त कर लेता है। गोपाल आर्यक लोरिक के रूप में लोक-कथाओं में जिस रूप में प्रस्तुत है, उससे उसके साथ अत्यन्त आश्चर्य में डाल देनेवाली साहसिक घटनाओं से युक्त कथायें प्रचलित हैं। स्वाभाविकता और अस्वाभाविकता का ध्यान किये बिना लोरिक कथा का श्रोता अथवा पाठक सहज विश्वास के साथ उसके असाधारण शौर्ययुक्त कार्यों पर श्रद्धावनत है। पुनर्नवा का गोपाल आर्यक लोरिक का ही औपन्यासिक संस्करण है। जिससे उसकी उपस्थिति पुनर्नवा उपन्यास में उसके मिथकीय व्यक्तित्व का आभास कराती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दी उपन्यास जगत में प्रतीक, बिम्ब और मिथक जैसे कलात्मक साहित्य सृजक तत्वों का सफल उपयोग करने की दृष्टि से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम बड़े आदर के साथ लिया जायेगा।

---

१. समकालीन साहित्य : आलोचना को चुनौती—डॉ० बच्चन सिंह, पृष्ठ ३७

१३ | नारीविषयक दृष्टि

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की नारीविषयक दृष्टि, भारतीय संस्कृति की परम्परा के अनुरूप होते हुए भी एक ऐसी व्याख्या लिये हुए है कि वह अतीत को वर्तमान से जोड़नेवाली है। समर्पित नारी ही भारतीय आदर्श नारी की संज्ञा पाती रही है और इस आदर्श के नाम पर उसका शोषण पुरुषों द्वारा बराबर होता रहा है। पुरुष समाज ने नारी से कर्तव्य की अपेक्षा तो बराबर की पर उसके अधिकारों और पुरुष के निहित स्वार्थों के कारण समाज की दृष्टि बहुत कम ही जा पाई है। सभ्यता के विकास-क्रम में एक लम्बे काल से पुरुषशासित समाज का जो विकास हुआ उसमें नारी की उपेक्षा इस सीमा तक हुई कि वह बराबर पीछे छूटती गयी। इतिहास साक्षी है, समय-समय पर भारतीय समाज को जो संघर्ष झेलने पड़े और उसमें अनेक बार उसे असफलता ही हाथ लगी, उसके मूल में उसकी नारीविषयक अस्वस्थ सामाजिक दृष्टि ही रही। स्वस्थ समाज के निर्माण हेतु द्विवेदीजी की दृष्टि में मात्र नारी के समर्पण से काम चलनेवाला नहीं है। पुरुष को भी समान रूप से नारी के लिए समर्पित होना पड़ेगा। परस्पर एक दूसरे के पूरक नारी-पुरुष समाज में समान स्तर एवं सम्मान के अधिकारी हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए द्विवेदीजी ने ताम्बूल को नारी धर्म का प्रतीक माना है—"ताम्बूल नारी धर्म को ठीक-ठीक व्यक्त करता है। देखो बेटा, जिस प्रकार पान और सुपारी, चूना और कत्था मिलकर एकमेक हो जाते हैं, उसी प्रकार जब पुरुष और नारी, और उनकी तेजोगरिमा एकमेक हो जाते हैं, तभी अलौकिक आनन्द के हेतु बनते हैं। कैसे बनते हैं? एक दूसरे को परिपूर्ण भाव से आत्मसमर्पण करके।"[1]

पुरुष ने नारी को ठीक-ठीक समझने की कोशिश नहीं की। यदि उसने उसे ठीक-ठीक समझा होता तो भारतीय समाज को कभी भी अभिशप्त न होना पड़ता। पुरुष-चित्त का लेश मात्र विकार भी नारी-शक्ति को कुंठित कर देता है। यह दुःख और यातना का भवसागर सूख गया होता यदि पुरुष ने नारी को ठीक-ठीक पहचाना होता और अपने चित्त के कलमष से इस महिमामयी शक्ति को कलुषावृत न किया होता।"[2] इस प्रकार सामंती संस्कृति में नारी की जो स्थिति थी उसे ही द्विवेदीजी भारतीय समाज के पराभव के मूल में स्वीकार करते हैं। वे ऐसी नारी की कल्पना करते हैं जो पुरुष की बंदिनी नहीं, बल्कि उसकी सहगामिनी हो।

---

१. चारुचन्द्रलेख, पृ० २८६

२. चारुचन्द्रलेख, पृ० १७२

वांछित पुरुष को प्राप्त करने के लिए एकाध अपवादों को छोड़कर नारी को ही एकांत साधना करनी पड़ी है। माँ पार्वती को भगवान शंकर को प्राप्त करने के लिए जिस कठिन व्रत का साधन करना पड़ा वह किसी भी विज्ञ जन से छिपा नहीं है। अपनी इसी कठिन साधना के कारण ही वे समूची नारी जाति के लिए बन्दनीया बनीं। इसी प्रकार पुरुष को प्राप्त करने के लिए नारी तपस्या की महिमा से भारतीय वाङ्मय भरा पड़ा है। ऐसा लगता है कि यह कार्य नारियों के जिम्मे ही छोड़ दिया गया था। संस्कृत साहित्य में नारी के इस स्वरूप को जो प्रतिष्ठा मिली इससे सहज ही पुरुष की सामाजिक वरीयता प्रमाणित हो जाती है। द्विवेदीजी को यह मान्यता ग्राह्य नहीं। वे बलपूर्वक स्वीकार करते हैं कि पुरुष को भी नारी की प्राप्ति के लिए तपस्या करनी होगी तब कहीं जाकर नारी और पुरुष की सामाजिक विषमता दूर हो सकेगी। शिव ने पार्वती को प्रसन्न करने के लिए जो तपस्या की वह तपस्या लोककल्याण के लिए अपेक्षाकृत अधिक फलवती हुई। पार्वती की तपस्या से प्रसन्न शिव का जो लाभ समाज को मिला उससे अधिक लाभान्वित वह तब हुआ जब कि शिव की तपस्या से पार्वती प्रसन्न हुईं। "जब देवी की तपस्या से शिव प्रसन्न हुए थे, तो मनोजन्मा देवता को भस्म करने में समर्थ हुए थे। परन्तु जब शिव की तपस्या से देवी प्रसन्न हुईं, तो शिव को वह शक्ति प्राप्त हुई, जिससे उन्होंने तीन लोक के कंटक महाअसुर का नाश कर दिया। शिव की प्रसन्नता से जो मनोजन्मा देवता नष्ट हुआ वह शरीरहीन होकर आज भी अग-जग में व्याप्त है। परन्तु देवी की प्रसन्नता से जो असुर नष्ट हुआ सो सदा के लिए नष्ट हो गया।"[२]

इस प्रकार द्विवेदीजी की यह मान्यता है कि भारतीय समाज में नारी के प्रति जो हीन भावना का विकास हुआ पुरुष ने स्व की प्रसन्नता में नारी की प्रसन्नता की जो उपेक्षा की उससे ही समाज में ऐसे कलुष भावों की सृष्टि हुई जिनके कारण देवता और शास्त्रों को नष्ट करनेवाले विचारों को प्रश्रय मिला। पुरुष ने यदि नारी में देवत्व नहीं देखा और उसे प्राप्त करने के लिए यदि उसने तपस्या नहीं की और अपने उद्धत पौरुष बल पर भरोसा करता रहा तो समाज की अधोगति निश्चित है। यदि "वह उसे भोग की सामग्री समझता है, मनोरंजन का साधन मानता है, अपना आश्रित समझकर उसके साथ अवांछनीय व्यवहार करता है। नतीजा जो होना चाहिए वह हो रहा है। धाती मदमत्त पौरुष से कसमसा उठी है, उद्धत सैनिक शक्ति के पदचाप से शेषनाग का फणमण्डल व्याकुल हो उठा है। सर्वत्र केवल मार-काट, लूट-पाट, नोच-खसोट का बवंडर आसमान को रजोलिप्त बना रहा है, प्रकाश

---

१. पुनर्नवा—पृ० १०४

की कहीं क्षीण रेखा भी नहीं दिखाई दे रही है। सारा आर्यावर्त विध्वंस की ओर बढ़ा जा रहा है।"[१] द्विवेदीजी जब कभी शाश्वत सामाजिक मूल्यों की चर्चा करते हैं, उनका ध्यान विराट् राष्ट्रीय चेतना की ओर बराबर बना रहता है। यही कारण है कि वे ऐसे मानव मूल्यों की सृष्टि कर पाने में समर्थ हुए हैं जो देश, काल की सीमा को लाँघकर सार्वभौम बन जाते हैं।

उपेक्षित नारी को उसका प्राप्य दिलाने की बात द्विवेदीजी जब करते हैं तो उनके सामने भारतीय नारी की असहाय मूर्ति न आकर उसका शक्तिसंबलित स्वरूप ही अवतरित होता है। वे उसे याचना के कठघरे में खड़ी होकर अधिकारों की माँग करते हुए नहीं दिखलाना चाहते बल्कि उसकी ऐसी शक्ति की ओर इंगित करते हैं जिसके कारण अधिकार प्राप्त करने में वह सक्षम है। वे निश्चित रूप से इस मत के हैं कि अधिकार माँगने से नहीं मिलते, योग्यता के बल पर वे अर्जित कर लिये जाते हैं। भारतीय नारी को भी ऐसी शक्ति एवं दृढ़ता अर्जित करनी होगी कि जिसके बल पर वह पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर जीवन क्षेत्र में भी सच्ची सहधर्मिणी बन सके। केवल पुरुष शक्ति को पूजते रहना स्त्री का धर्म नहीं है। उसे अपने में स्वाभिमान एवं आत्मबल का विकास करना होगा तब कहीं जाकर वह अपना हक पा सकेगी। "यह कैसा सहधर्म है कि पुरुष युद्ध करें और स्त्रियाँ उनकी आरती उतारती रहें? मृणाल का मन ऐसा नहीं मानना चाहता। सहधर्म में महिषमर्दन भी शामिल होना चाहिए।"[२]

इस प्रकार मृणाल यह कहकर केवल पुरुष शक्ति की पूजा ही स्त्री का धर्म नहीं है, द्विवेदीजी की मान्यताओं की ही स्थापना करती है। वह केवल जड़ वस्तु नहीं कि उसका स्वामी मन चाहे जैसे उसका उपयोग करता रहे और वह गोल-मटोल बनी पुरुष की हर वांछित-अवांछित इच्छा की पूर्ति के लिए विवश हो। नारी की स्वतंत्र सत्ता की आवश्यकता पर बल देते हुए द्विवेदीजी अपने नारी चरित्रों को ऐसा संदर्भ देते हैं कि जिससे सहज ही उनके मंतव्य को समझा जा सकता है। वे स्वीकार करते हैं कि मानवता की रक्षा के लिए आवश्यकता पड़ने पर नारी को भी चंडी बनना पड़ेगा, वह केवल पुरुष के विलास एवं मनोरंजन का साधन ही नहीं है। उसके सतीत्व में इतना बल होता है कि वह उससे स्वरक्षित तो रहती है, उसके कारण अपने पति की भी रक्षा करने में वह समर्थ होती है। मृणाल मंजरी का यह कहना कि—"वीरक, तू एक क्षण के लिए भी भइया का साथ न छोड़ना। बहू-बेटियों की शील-रक्षा के लिए, दुखियों की मानरक्षा के लिए प्राण भी देना पड़े तो न झिझक।

१. पुनर्नवा—पृ० १०४

२. पुनर्नवा—पृ० ४१

उन्हें सदा उत्साहित करता रह। मेरा सतीत्व उनकी रक्षा करेगा, तू चिन्ता न कर। आवश्यकता पड़ने पर तू अपनी भाभी को भी सिंहनी की भाँति दहाड़ता पाएगा।"[१] इस प्रकार मृणाल न केवल प्रेरणादायिनी ही है बल्कि उसमें ऐसी संकल्प शक्ति भी है कि आवश्यकता पड़ने पर जिसके बल से रणक्षेत्र में भी पुरुष का हाथ बटाने के लिए तत्पर है। नारी के इस स्वरूप का सम्मान ही समाज की सबसे बड़ी शक्ति है जिससे ऐसी निर्मल दृष्टि का विकास होगा कि जिसके आलोक में महल की चहारदीवारी के भीतर बंदिनी नारी को अपनी योग्यता का परिचय देने का अवसर मिलेगा। पुरुष जब तक नारी को इस अवसर से वंचित रख संशय एवं दूषित विचारों के व्यूह से उसे आच्छादित रक्खेगा तब तक समाज में पूर्ण सत्य एवं शक्ति की प्रतिष्ठा संभव नहीं। पर पुरुष की दृष्टि पड़ जाने से मैली हो जानेवाली छुईमुई के समान संकोचशीला नारी को द्विवेदीजी कहीं भी मान्यता प्रदान करते नहीं दिखलाई पड़ते। वे उसे दूध का भरा कटोरा मानने के लिए तैयार नहीं कि यदि कहीं इधर-उधर से कोई छींट पड़ गई तो फट जाय। उसके वास्तविक स्वरूप को न समझने के कारण ही लोग तरह-तरह की दुष्कल्पनाओं के शिकार बन बैठते हैं। "स्त्री का जीवन दूधभरा कटोरा है। इधर-उधर से थोड़ी भी छींट कहीं से पड़ जाये तो दूध फट जाता है। इसीलिए उसे सावधानी से चलना चाहिए। इससे अपने को बचाने के प्रयत्न में स्त्रियों में अपने इर्द-गिर्द सभी के प्रति एक प्रकार की प्रच्छन्न शंका का भाव होता है और वे उनके काल्पनिक दोषों का चिट्ठा खोले रहती हैं। इसी को लोग बुराई कहते हैं।"[२]

पुनर्नवा उपन्यास में बुढ़िया काकी का यह कथन कोई अर्थ नहीं रखता और वाह-वाह कहकर चन्द्रा का हँसना द्विवेदीजी के उस दृष्टिकोण का समर्थन करना है जिसके द्वारा वे नारी जाति को अनर्गल सामाजिक अपवादों से परे मानते हैं। द्विवेदीजी बाह्य सामाजिक संदर्भों की अपेक्षा नारी के आंतरिक मूल्यों पर विशेषआस्थावान हैं, अपने आन्तरिक मूल्यों के कारण ही नारी समाज में प्रतिष्ठा का कारण बनती है। वह सेवा की मूर्ति होती है और यही सेवा भावना उसकी सबसे बड़ी शक्ति है जिसके बल पर वह पुरुष पर अधिकार करती है। पुरुष और नारी के अधिकार में यही तो मौलिक अन्तर है कि पुरुष बलपूर्वक नारी को अधिकार में करना चाहता है और जीतकर भी हार जाता है। पर नारी सेवा के द्वारा पुरुष पर अधिकार करती है और हारकर भी जीत जाती है। सच है अधिकार तो सेवा से ही मिलता है और द्विवेदीजी सेवा को ही भारतीय नारी का सबसे बड़ा अस्त्र मानते हैं जिसपर उसकी विजय यात्रा निर्भर करती है। वासना की शिकार

---

१. पुनर्नवा—पृ० ८१

२. पुनर्नवा—पृ० १७९

नारी समाज के लिए नरक का द्वार खोलती है जिसमें वह पुरुष को भी डुबोती है और स्वयं भी डूब जाती है। अतः वासना से मुक्त होकर पुरुष जब तक नारी का सम्मान नहीं करेगा तब तक वह नारी शक्ति से वंचित रहकर समाज का एक दुर्बल अंग बना रहेगा। नारी बुरी नहीं होती, पुरुष उसे बुरा बनाता है। गणिकाओं तक में देवत्व होता है जिसे उनके अंतर्मन में झाँककर देखा जा सकता है। साधारण लोगों की दृष्टि में नारी का सही चित्र उभड़कर आने से रह जाता है जिसे प्रकाश में लाने का कार्य द्विवेदीजी के उपन्यास करते हैं। यह मान लेना कि नारी संकीर्णता की खान होती है द्विवेदीजी की दृष्टि में अनुचित है। वे उनके चरित्र में प्राप्त औदात्य का उद्घाटन करते हैं, चाहे बाणभट्ट की भट्टिनी अथवा निपुणिका हो, चारुचन्द्रलेख की चन्द्रलेखा और मैना हो, पुनर्नवा की धूता, वसंतसेना और मृणाल हो, सभी अपने चारित्रिक औदात्य का भली भाँति परिचय अवसर आने पर देते हैं।

किसी भी देश की गरिमा उस देश की सती नारियों पर निर्भर है। अपने पुनर्नवा उपन्यास में द्विवेदीजी सम्राट् समुद्रगुप्त के माध्यम से इसका समर्थन करते हैं—"समुद्रगुप्त के रोम-रोम में यह विश्वास भरा था कि किसी देश की सभ्यता और धर्माचार की कसौटी उस देश की स्त्रियों का सम्मान और निश्चिन्तता है। मनु की यह व्यवस्था कि जहाँ स्त्रियों का सम्मान होता है वहाँ देवता निवास करते हैं, उन्हें बहुत सम्मान योग्य मालूम होती थी।"[1] इस प्रकार द्विवेदीजी अपने नारी पात्रों के माध्यम से मूल्यों की जो आधुनिक व्याख्या करते जान पड़ते हैं वह उनकी व्याख्या कल्पित नहीं बल्कि शास्त्र-सम्मत है। काल के लम्बे प्रवाह में शास्त्र वाक्यों पर पड़ी गर्द-गुबार को वे अपनी व्याख्या से ऐसा झाड़-पोंछ देते हैं कि वे आधुनिक लगते हैं।

अहं सामाजिक जीवन का सबसे बड़ा शत्रु है। सामाजिक विषमताजन्य उत्पीड़न का वह मूल कारण है और स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को विनष्ट करने में वह विष का-सा कार्य करता है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को वह स्वस्थ नहीं रहने देता, इसीलिए द्विवेदीजी अहं भाव से मुक्त हो नारी-पुरुष को परस्पर एक दूसरे को समान महत्व देने पर बल देते हैं—"पुरुष स्त्री को शक्ति समझकर ही पूर्ण हो सकता है, पर स्त्री स्त्री को शक्ति समझकर अधूरी रह जाती है।"[2]

पुरुष की यह सबसे बड़ी विडम्बना है कि वह स्त्री को नगण्य समझ उसकी उपेक्षा करता है और अपने को पौरुषपुञ्ज मान अहं का शिकार बना रहता है। वह अधूरा है और उसकी शक्ति अधूरी है यदि उसे शक्तिस्वरूपा नारी का सहयोग सुलभ

---

१. पुनर्नवा—पृ० २८४
२. बाणभट्ट की आत्मकथा—पृ० ११०

नहीं हुआ। उसका पुरुषार्थ बंध्या है। कभी भी वह सफल नहीं हो सकता यदि उसे नारी शक्ति का सहयोग प्राप्त न हो। जिस दिन अपने अहं का विसर्जन कर वह नारी शक्ति को स्वीकार कर लेगा उसी दिन वह एक स्वस्थ सामाजिक सृष्टि का कारण बनेगा। नारी को भी सावधान करते हुए द्विवेदीजी स्पष्ट निर्देश देते हैं कि वह जिस दिन अपने को शक्तिसम्पन्न समझ अहं का शिकार होगी, अधूरी रह जायगी। आधारविहीना उसकी शक्ति निरर्थक होगी, इससे न तो वह अपना कल्याण कर सकेगी और न तो वह समाज को ही कुछ दे पायेगी। इस दृष्टि से सामाजिक संरचना में द्विवेदीजी पुरुष की अपेक्षा नारी पर विशेष दायित्व डालना चाहते हैं। पुरुष स्वभाव से ही निर्बन्ध, स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों का शिकार होने के कारण अनियन्त्रित रहता है और उसके उसी अनियंत्रित जीवन के कारण अनेक सामाजिक संघर्षों की सृष्टि होती रहती है। स्वस्थ एवं शांत सामाजिक व्यवस्था की सृष्टि के लिए पुरुष की स्वच्छन्द कृतियों पर अंकुश लगाने का कार्य नारी का है। नारी का यह कार्य दुधारी तलवार बन सकता है यदि उसमें जागरूकता न होगी। जागरूकता का अभाव निरंकुश पुरुष को अंकुश में लाने का कार्य तो कर सकता है पर उससे वह उसके लिए विला-सिता एवं अकर्मण्यता का द्वार भी खोल सकता है। ऐसा होने पर पुरुष अपना पौरुष खो बैठेगा और नारी अपनी पहचान। नारी की जिस पहचान को द्विवेदीजी रेखांकित करना चाहते हैं जागरूकता उसके लिए पहली शर्त है। उस शर्त के अनुसार जहाँ उसे पुरुष को नियंत्रित करना है वहीं अवसर आने पर उसे अपने वैयक्तिक सुखों को तिलांजलि देकर पुरुष को मोहपाश से मुक्त कर कर्तव्य-पथ की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा भी देना है। द्विवेदीजी स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हैं कि "उसकी सफलता पुरुष को बाँधने में है, किन्तु सार्थकता पुरुष की मुक्ति में है।"[१] वे निश्चित मत के हैं कि बिना नारी सहयोग के जो समाज-व्यवस्था बनेगी वह कल्याणकारी नहीं होगी।" इतिहास साक्षी है कि इस महिमामयी शक्ति की उपेक्षा करनेवाले साम्राज्य नष्ट हो गये हैं, मठ विध्वस्त हो गये हैं, ज्ञान और वैराग्य के जंजाल फेन-बुद्बुद की भाँति क्षणभर में विलुप्त हो गये हैं।"[२]

नारी विलास की नहीं, करुणा की मूर्ति है। करुणा हृदय के विकारों को नष्ट करती है। संस्कृत के कवियों के नारीविषयक दृष्टिकोण से असहमति व्यक्त करते हुए द्विवेदीजी 'भट्टिनी' जैसी करुणा की मूर्ति नारी-चित्रण पर बल देते हैं—"हाय, महाकवि! तुमने हँसी-खुशी में जिन्दगी काट दी! तुमने ऐसा करुण-मोहक स्मित देखा होता, तो दुनिया को बता सकते कि वह कैसा था। पार्वती के लीला-स्मित को तुमने

१. बाणभट्ट की आत्मकथा—पृ० १११
२. " " १४५

अमर कर दिया है, किसलय-विनिहित पुष्प में जो पवित्रता है और निर्मल विद्रुम पात्र में रक्खे हुए मुक्ताफल में जो आभिजात्य है, वह तुमने लक्ष्य किया था, पर इनको स्वर मंदाकिनी की धारा में लुढ़कते-पुढ़कते, बहते-उतराते तुमने नहीं देखा। यह वह पुष्प था, जिसके विकास के क्षणभर बाद ही धारासार वर्षा हो गई, यह वह तारिका थी, जिसके उदय होते ही कुज्झटिका से दिगंत धूसर हो गया, यह वह इन्द्र-धनुष था, जिसके उठते ही झंझा ने आकाशधूलिच्छन्न बना दिया।"[1]

इस प्रकार द्विवेदीजी का युगबोध उनके उपन्यासों में प्रस्तुत अतीतकालीन नारी पात्रों को भी प्रासंगिकता प्रदान करनेवाला है। गार्हस्थ्य जीवन के समर्थक द्विवेदीजी पलायनवादी तापस संस्कृति के प्रति आस्थावान हैं और वे अपनी इस अनास्था को व्यक्त करने के लिए ही प्रासंगिक नारी मूल्यों की सृष्टि करते जान पड़ते हैं। नारी-हीन तपस्या को वे संसार की सबसे बड़ी भूल मानते हैं—"नारीहीन तपस्या संसार की भद्दी भूल है। यह धर्म-कर्म का विशाल आयोजन, सैन्य-संगठन और राज्य व्यवस्था-पन सब फेन बुद्‌बुद की भाँति विलुप्त हो जायँगे, क्योंकि नारी का इसमें सहयोग नहीं है। यह सारा ठाट-बाट संसार में केवल अशांति पैदा करेगा।"[2]

समाज के लिए नारी-पुरुष की अभिन्नता स्वीकार करते हुए शिव से प्रगट पुरुष और नारी को वे दो तत्व के रूप में स्वीकार करने के पक्षधर हैं जिनकी सहायता से शिव सृष्टि का विधान करता है। पुरुष शिवप्राधान्य और नारी शक्तिप्राधान्य है। दोनों के बाह्य अन्तर को आधार मानकर सामाजिक दृष्टि से असमानता का बोध वांछित नहीं। "यह जड़ मांसपिण्ड न नारी है, न पुरुष, वह निषेध रूपतत्व ही नारी है। जहाँ कहीं दुःख-सुख की लाख-लाख धाराओं में अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है, वहीं नारी तत्व है, या शास्त्रीय भाषा में कहना हो, तो 'शक्ति तत्व है।"[3]

---

१. बाणभट्ट की आत्मकथा—पृ० १७४
२. " " १९३
३. " " १९४

१४ | अभिनव मूल्य-बोध

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के सभी उपन्यासों में, भले ही वे विभिन्न कालों को दृष्टि में रखकर लिखे गये हों, एक अद्भुत एकसूत्रता मिलती है। उनकी अपनी निजी सामाजिक दृष्टि है तथा वे एक निश्चित मानवमूल्य की स्थापना के लिए आग्रहवान हैं। ऐसी कोई भी सामाजिक व्यवस्था उन्हें मान्य नहीं कि जिसके कारण व्यक्ति-व्यक्ति में द्वेष और बिलगाव की सृष्टि हो। समाज में सभी को सम्मानपूर्वक जीने का अधिकार है और ईश्वर की दी हुई प्राकृतिक सम्पदा का उपयोग करने के लिए अपनी आवश्यकता एवं क्षमता के अनुसार सभी स्वतन्त्र हैं। कुछ शक्तिशाली व्यक्तियों अथवा संगठनों ने यदि अपने निजी हित में मानवता का गला घोंटने के प्रयास में ऐसे मूल्यों का निर्माण कर लिया है कि जिनके कारण सही और गलत का निर्णय कर पाना कठिन हो गया है तो वे ऐसे व्यक्तियों एवं संगठनों की निःसारता बड़ी शक्ति के साथ प्रकट करते हैं। इस दृष्टि से द्विवेदीजी ने भारतीय समाज में सर्वाधिक उपेक्षित नारी की समस्याओं को उठाया है और उसे सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाने के लिए ऐसे पात्रों की कल्पना पौराणिक एवं ऐतिहासिक संदर्भों में की है कि वे वर्तमान सामाजिक जीवन में भी नेतृत्व की क्षमता रखते हैं। अपनी ही दुर्बलताओं के कारण पुरुष शासित भारतीय समाज ने नारियों को घिकृत एवं अभिशप्त सामाजिक जीवन जीने के लिए विवश किया है तथा उन्हें त्याज्य एवं अवांछित समझकर उनकी ओर से आँखें मोड़ ली हैं। समाज ने नारी के दुर्गुणों का तो गला फाड़-फाड़कर प्रचार किया है पर उनमें निहित सद्गुणों की ओर न तो उसे देखने का अवसर मिला है और न तो उसने उनके विकास के लिए अपनी ओर से कोई अवसर ही प्रदान किया। इस सामाजिक विडम्बना को द्विवेदीजी ने भली भाँति पकड़ा है और वे अपने सभी उपन्यासों में नारियों के इसी पक्ष के उद्घाटन का प्रयास करते हैं। ऐतिहासिक परिवेश में द्विवेदीजी पुराणों, उपनिषदों एवं प्राचीन साहित्य में प्रतिष्ठित जीवन-मूल्यों को सामने रखते हुए जब अपनी बात कहते हैं तो उसे स्वीकार करने में किसी भी कार्य के लिए कोई कठिनाई नहीं होती।

आचार्य द्विवेदी संस्कार से ही नारी मर्यादा के पोषक रहे। उनके यही संस्कार यथास्थान उनके पात्रों द्वारा प्रस्तुत मिलते हैं—"बहुत छुटपन से ही मैं स्त्री का सम्मान करना जानता हूँ। साधारणतः जिन स्त्रियों को चंचल और कुलभ्रष्टा माना जाता है,

उनमें एक देवी-शक्ति भी होती है, यह बात लोग भूल जाते हैं। मैं नहीं भूलता। मैं स्त्री-शरीर को देव-मन्दिर के समान पवित्र मानता हूँ।"[१] स्त्री शरीर को देव-मन्दिर के समान पवित्र माननेवाले द्विवेदीजी नारी पर किये गये अनुचित आक्षेप से विचलित हो जाते हैं। ऐसी नारियाँ जिन्हें लोग बाह्य सामाजिक दृष्टि से अवांछित मान बैठते हैं, अपने आंतरिक सद्‌गुणों के द्वारा अवसर आने पर जिस प्रकार के विवेक एवं चारित्रिक औदात्य का परिचय देती हैं उससे वे इतनी ऊँची उठ जाती हैं कि उनके सम्मुख मर्यादा का बोझ सिर पर लादकर घूमनेवाला पुरुष बौना लगाने लगता है। बाणभट्ट की निपुणिका नाटकमण्डली से हट जाने के बाद न जाने कितनी सामाजिक प्रतारणाओं का शिकार बनी किसी से छिपा नहीं है। उसने अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों से विवश होकर समझौता अवश्य किया पर वे परिस्थितियाँ उसके सद्‌गुणों का उन्मूलन नहीं कर सकीं। एक लम्बे अरसे के बाद जब पान की दूकान पर बैठी निपुणिका से बाणभट्ट मिलता है तो बाणभट्ट के प्रति प्रकट निपुणिका के भाव सहज ही उसके आन्तरिक गुणों को प्रकट कर देते हैं। परिस्थितियों के पंक में डूबी वह कभी भी यह नहीं चाहती कि 'भट्ट' उसकी दूकान पर देर तक खड़ा रहे। उसकी दूकान पर खड़े रहनेवाले लोगों को लोग अच्छी दृष्टि से नहीं देखते और निपुणिका कभी भी यह नहीं चाहती कि उसके आराध्य बाणभट्ट को लोग बुरी दृष्टि से देखें। उसका यह कहना कि—"जहाँ जा रहे हो, वहाँ जाओ। यदि इस नगर में रहो, तो कभी-कभी दर्शन पाने की आशा मैं अवश्य रक्खूँगी। पर तुम इस दूकान पर अधिक देर तक मत ठहरो। यहाँ आनेवाले लोग स्त्री-शरीर को देव-मन्दिर नहीं मानते।"[१] पतित से पतित स्त्रियाँ भी दृढ़ चरित्रवाले पुरुष का आदर करती हैं। मिट्टी के गाहक बहुत हैं पर जो उसे अस्वीकार करता है सहज ही आदर का कारण बन जाता है। समाज और परिस्थितियों की मारी निपुणिका प्रतीक है ऐसी नारियों की जिन्हें लोग भ्रष्टा कहते हैं। द्विवेदीजी ने निपुणिका के माध्यम से जिस नारी-मूल्य की स्थापना की है उसे देखते हुए भ्रष्ट नारी की सतही परिभाषा में संशोधन की अपेक्षा है। बाणभट्ट के प्रति निपुणिका के कहे गये ये वाक्य—'इस दुनिया में तुम्हारे जैसे पुरुषरत्न दुर्लभ हैं'[२]—किसी भी सभ्य पुरुष को चुभनेवाले हैं। अतः बाणभट्ट की प्रतिक्रिया कि—"वह अगर पश्चात्ताप करती है, तो जिस नरक में पड़ी है, वहाँ भी स्थान नहीं मिलेगा? वह कुल-भ्रष्टा स्त्री है, उसके सद्‌गुणों का समाज में क्या मूल्य है? दुर्गुणों की फिर भी कुछ न कुछ पूछ तो है ही"[3] स्वाभाविक है।

१. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० १८
२. ,, ,, ,, २३
३. ,, ,, ,, २४
४. ,, ,, ,, २४

इस प्रकार नारी-शरीर, जिसे द्विवेदीजी देव-मन्दिर मानते हैं, वह हाड़-मांस का है, ईंट-चूने का नहीं। अतः वे शरीर की भ्रष्टता को, जो परिस्थितियों के कारण है, महत्व नहीं देते और महत्व देते हैं उसमें प्रतिष्ठित उस देवत्व को जो उनके नारी पात्रों में शाश्वत मूल्य के रूप में वर्तमान है।

नारी के लिए खिंची एकांगी सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन करते ही नारी कलंकिनी घोषित हो जाती है चाहे उसमें परिस्थितियों का ही हाथ क्यों न रहा हो। ऐसी एकांगी और अविवेकपूर्ण निर्मित मर्यादाओं को द्विवेदीजी स्वीकार करने को तैयार नहीं। वे नारी के सद्गुणों के पक्षधर हैं, न कि उसके कौलीन्य के अहं के, जो कि भट्टिनी का मर चुका है—"मेरा अहंकार मर चुका है, अभिमान नष्ट हो गया है, कौलीन्य गर्व विलुप्त हो चुका है। मैं धर्षिता, अपमानिता, कलंकिनी, सौ-सौ मानवियों की भाँति सामान्य नारी हूँ। जगत के दुःख-प्रवाह में फेन बुद्बुद के समान मैं भी नष्ट हो जाऊँगी और प्रवाह अपनी मस्तानी चाल से चलता जायेगा।"[1]

भट्टिनी की यह स्वीकारोक्ति निश्चित रूप से स्पष्ट कर देती है कि समाज द्वारा स्वीकृत तथाकथित आभिजात्य से वह च्युत हो चुकी है, पर बाणभट्ट की आत्मकथा में द्विवेजीने उसे जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उसे देखकर किसी से भी यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि भट्टिनी में जो आभिजात्य है वैसा आभिजात्य नारीजगत में अत्यन्त दुर्लभ है। मैंने आरम्भ में ही इस ओर संकेत किया है कि विभिन्न देश और काल को द्विवेदीजी ने अपने उपन्यासों में स्थान दिया है पर उन्होंने उनमें अद्भुत एकसूत्रता का निर्वाह किया है। बाणभट्ट की आत्मकथा में जो स्थिति भट्टिनी की है वैसी ही स्थिति उनके उपन्यासों में आई सभी प्रमुख नारी पात्रों की है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की भट्टिनी, 'चारुचन्द्रलेख' का चन्द्रलेखा, 'पुनर्नवा' की मृणालमंजरी तथा 'अनामदास का पोथा' की जाबाला सभी कुल की दृष्टि से बहुत सम्भ्रान्त नहीं। पर उनमें सम्भ्रान्तता की ऐसी अनोखी सृष्टि द्विवेदीजी ने की कि विवश होकर नारी-शरीर को देव-मन्दिर स्वीकार करना हो पड़ता है। नारी से बढ़कर अनमोल रत्न दूसरा नहीं, पर उसे पुरुष की वासना नहीं बल्कि उसका आश्रय चाहिए—"समाज की अग्निशिखा तो नित्य ही व्यक्तियों को आहुति ले रही है, पर रास्ता क्या है? नारी से बढ़कर अनमोल रत्न क्या हो सकता है, पर उससे अधिक दुर्दशा किसकी हो रही है?"[2] नारी की इसी दुर्दशा के कारण इतिहास साक्षी है भारतीय समाज अभिशप्त होता रहा है। द्विवेदीजी ने पुरुषशासित समाज के सामने ऐसे नारी पात्रों को इस ढंग से लाकर खड़ा कर दिया है कि उसे इसपर नये ढंग से विचार करने के लिए विवश होना पड़ेगा।

---

१. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० १४१
२. ,, ,, ,, ३१०

ऐतिहासिक परिवेश में लिखे हुए उपन्यासों के पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि करना कठिन होता है क्योंकि इतिहास उन पात्रों के मन का नहीं बल्कि बाह्य संघर्षों का ही आँकड़ा प्रस्तुत करता है। अतः यह देखा जाता है कि ऐतिहासिक उपन्यासकार सपाट चरित्रों के निर्माण तक ही अपने को सीमित कर लेते हैं। ऐतिहासिक एवं पौराणिक परिवेश में लिखे गये द्विवेदीजी के सांस्कृतिक उपन्यासों के पात्र स्थायी शाश्वत मूल्यों की सृष्टि कर पाने में इसलिए सफल हो सके हैं कि वे 'सपाट' नहीं हैं। अपने विशिष्ट नारी पात्रों के माध्यम से द्विवेदीजी को अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि करने में इसलिए सफलता मिली है कि वे प्रतिकूल परिस्थितियों में रहकर भी उपन्यासकार की सहानुभूति अर्जित कर सकी हैं। 'बाणभट्ट' की निपुणिका, 'चारुचन्द्रलेख' की मैना और 'पुनर्नवा' की मंजुला में इन अन्तर्द्वन्द्वों को सहज ही देखा जा सकता है। इस प्रकार द्विवेदीजी की ये अभिशप्त नारियाँ न केवल नवीन नारी-मूल्यों की सृष्टि में सहायक हुई हैं बल्कि उनके द्वारा उपन्यासकार की कला भी शिल्प की दृष्टि से कसौटी पर खरी उतरी है। चरित्र-निर्माण की जिस कला का परिचय द्विवेदीजी ने अपने इन नारी पात्रों के माध्यम से दिया है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

जिन स्त्रियों को लोग पतिता की संज्ञा देते हैं उनमें ही सच्चे नारीत्व का विकास दिखलाकर द्विवेदीजी ने अन्ध-विश्वासों एवं समाज की भोंड़ी मान्यताओं पर बड़ा ही करारा व्यंग्य किया है। नारी का समर्पित सेवाभाव ही उसे देवी के पद पर प्रतिष्ठित करता है। महाकाव्य कामायनी में प्रसाद की श्रद्धा भी यही आदर्श प्रस्तुत करती है। 'चारुचन्द्रलेख' की मैना उसी प्रकार की समर्पित नारी भावना की प्रतीक है—"मैना तू अच्छी लड़की है। चन्द्रलेखा ने महाराज को केवल धोखा ही दिया है। वह उनके किसी काम नहीं आ सकी।"[१] 'पुनर्नवा' की चन्द्रा और 'अनामदास का पोथा' की जाबाला भी यही आदर्श प्रस्तुत करती है। पुनर्नवा की नगरश्री नर्तकी मंजुला की कला सभी लोगों में प्रशंसित है पर उसके यहाँ आनेवाले लोग वासना से प्रेरित होकर ही आते हैं। उसके हृदय में स्थित देवत्व को पहचाननेवाले देवरात जैसे लोग समाज में कितने हैं कि जिसके सम्मुख वह अपनी वेदना व्यक्त कर सके। "यहाँ मिट्टी के गाहक आते हैं। अपना सर्वस्व उलीचकर, पाप खरीदकर लौट जाते हैं। पुरुषत्व के वे कलंक हैं। स्त्रीत्व के अपमानकारी। वे रसिकमन्य होते हैं, रसिक नहीं। इस विटों, विदूषकों और बन्धुलों के स्वर्ग में केवल नरक-यातना के अधिकारी ही आते हैं। यहाँ कामुकता को पुरुषार्थ, भोंड़ेपन को सरसता, मूर्खता को विदग्धता, स्त्रैणभाव को पौरुष माना जाता है। यहाँ तुम्हारा न आना ही उचित है।"[२]

---

१. चारुचन्द्रलेख, पृ० १९५
२. पुनर्नवा, पृ० ५५

इस प्रकार द्विवेदीजी ने समाज निर्मित नर्क में डूबी मंजुला जैसी नारियों के हृदय में झाँककर उनमें देवत्व देखने का प्रयत्न किया है। मंजुला के हृदय की टीस और उसकी आंतरिक वेदना को द्विवेदीजी ने अनुभव के धरातल पर इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि वह लाख-लाख ऐसी नारियों का प्रतिनिधित्व करनेवाली है—"तुमने कहा था कि तेरा देवत्व तेरे भीतर है। मानती हूँ, अवश्य होगा। पर तुम जो नहीं समझ सकोगे वह यह है कि स्त्री का देवता माध्यम खोजता है, ठोस ग्रहणीय माध्यम। साध्वी रमणियाँ पति का माध्यम पा लेती हैं। वे धन्य हैं, स्पृहणीय हैं। पर हाय, गणिका का माध्यम नहीं होता। वह जुगुप्सित भोग के विकट दावानल में झुलसती रहती है। नारी का जीवन किसी एक को सम्पूर्ण रूप से समर्पित होकर ही चरितार्थ होता है।"[१] मंजुला पाप और कला से अर्थोपार्जन करती थी पर उसका वह वास्तविक जीवन न था। नृत्य और गीत उसके लिए पूजा के विषय थे जिसकी सहज ही रक्षा कर पाना पंकिल समाज से उसके लिए कठिन था। इसीलिए उसने अहंकार का कवच धारण कर रक्खा था जो देवरात ऐसे सुपात्र को पाकर चूर-चूर हो गया था। चन्द्रा 'पुनर्नवा' उपन्यास की सर्वाधिक विवादास्पद नारी है, वह परि-स्थितियों से समझौता न कर, बगावत करती है—"मेरा विवाह मेरी इच्छा के विरुद्ध मेरे पिता ने एक ऐसे मनुष्य-रूपधारी पशु से कर दिया जो पुरुष है ही नहीं। मैं उसे पति नहीं मान सकती। हलद्वीप के मुँह में कालिख लगता है तो सौ बार लगा करे। जो समाज इस प्रकार के विवाह की स्वीकृति देता है वह अपने मुँह में कालिख पहले ही पोत लेता है। मैंने आर्यक को ही अपना पति माना था। वह मेरा था और रहेगा।"[२] ऐसे प्रसंगों की सृष्टि द्विवेदीजी ने बाणभट्ट की आत्मकथा और चारुचन्द्र-लेख में भी की है। पर कुत्सित सामाजिक रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों के विरुद्ध जो जेहाद पुनर्नवा उपन्यास में चन्द्रा ने छेड़ रक्खा है वह उनमें नहीं। बल्कि उन उपन्यासों में घुटन की सृष्टि हुई है और उस घुटन से प्रकट अदृप्त प्रेम का सौन्दर्य छायावादी है जो जयशंकर प्रसाद के सौन्दर्यबोध से प्रभावित जान पड़ता है।

अनुचित सामाजिक मान्यताओं को नकारनेवाले द्विवेदीजी के नारी पात्रों की भी अपनी मर्यादा है जिसकी वे रक्षा कर नवीन प्रासंगिक, सामाजिक मान्यता की स्थापना करती हैं। द्विवेदीजी स्वैराचार का कहीं भी समर्थन नहीं करते। पुनर्नवा की चन्द्रा बगावत करती है पर वह स्वैराचारिणी नहीं। यही कारण है कि बाणभट्ट की आत्मकथा के भट्ट की भाँति ही पुनर्नवा के गोपाल आर्यक की भीरुता और संयम खलनेवाला है। यह दूसरी बात है कि गोपाल आर्यक अन्त में चलकर चन्द्रा को

१. पुनर्नवा, पृ० ५६
२. ,, ,, १२५

स्वीकार कर लेता है और बाणभट्ट के माध्यम से प्रस्तुत स्थिति को एक अभिनव मोड़ मिल जाता है। इस प्रकार पुनर्नवा उपन्यास में लोगों को बहुपत्नीत्व की गन्ध भले ही लगती हो पर वे कभी भी यह नहीं कह सकते कि द्विवेदीजी ने अपने नारी पात्रों के द्वारा स्वैराचार को प्रश्रय दिया है। सम्राट् समुद्रगुप्त के स्वर में स्वर मिलाकर द्विवेदी जी स्वैराचार का विरोध करते हैं—"यदि देश के मूर्धन्य लोग ही स्वैराचार में लिप्त हो जायँगे तो साधारण प्रजा को कैसे उस प्रकार के अभिचारपूर्ण आचरण से विरत किया जा सकता है?"[1] इस प्रकार द्विवेदीजी के उपन्यासों के मूल स्वरको यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उससे स्पष्ट हो जायगा कि वे विगलित सामाजिक परम्पराओं में संस्कार लाने एवं युगानुरूप नवीन सामाजिक मूल्यों के निर्माण के प्रति प्रतिबद्ध हैं। मूल्यों के निर्माण में वे नारी को केन्द्र में रखने के पक्षधर हैं और वे इस मत के हैं कि सामाजिक पापाचार की सृष्टि का दायित्व पुरुषों पर है, न कि स्त्रियों पर। यही कारण है कि उन्होंने अपने उपन्यासों में समाज द्वारा उपेक्षित एवं पतित कहे जानेवाले नारी पात्रों में देवत्व का दर्शन किया है। जाति-पाँति, ऊँच-नीच और वांछित-अवांछित के बीच खिंची भ्रामक रेखाओं को मिटाकर वे मानवता की दिग्विजय में आस्था रखनेवाले उपन्यासकार हैं। यही कारण है कि उपन्यासों के माध्यम से पतित समझे जानेवाले ऐसे नारीपात्रों की सृष्टि की है कि जिनकी चरण-धूलि मस्तक पर रखकर किसी भी देश, जाति और काल में नारियाँ साध्वी एवं देवी कहलाने का अधिकार प्राप्त कर सकती हैं।

द्विवेदीजी के वे पुरुष पात्र भी, जो उनके उपन्यास जगत में अपने मानवीय गुणों के कारण महत्वपूर्ण हैं, वे महत्वपूर्ण इसीलिए बन पाये कि उन्होंने नारी-शरीर को देव-मन्दिर स्वीकार कर उसके अन्तर में निहित देवत्व का दर्शन किया। द्विवेदीजी की धरतीस्वरूपा नारी समय-समय पर पंक में डूबकर अपने उद्धार के लिए पुरुषरूपी महावाराह की अपेक्षा अवश्य रखती है पर वह विधाता की ऐसी सृष्टि है जो उसकी इच्छा शक्ति को स्वरूप प्रदान करती है। इस प्रकार द्विवेदीजी ने अपने उपन्यासों में नारी मर्यादा की बड़ी जबर्दस्त वकालत की है।

---

१ पुनर्नवा, पृष्ठ २३७

१५ | राजनीतिक दृष्टि

दीर्घ काल से भारत में सम्मानित राजतन्त्र जब निरंकुश राजा का भोगतन्त्र बन गया तो उसमें प्रजा का विश्वास नहीं रहा। मर्यादा पुरुषोत्तम राम की भाँति शासन-व्यवस्था में भारत के शासक जब तक सामान्य प्रजाजन की साझेदारी स्वीकार करते हुए उनकी इच्छाओं का आदर करते रहे तब तक राजतन्त्र देश के लिए वरदानस्वरूप रहा। राजतन्त्र जिस दिन व्यक्ति अथवा वंश की निजी सम्पत्ति बना, उसी दिन से देश के लिए उसकी उपयोगिता समाप्त हो गई। राजतन्त्र को अकल्याणकारी मानते हुए द्विवेदीजी अपने उपन्यासों में शासन-व्यवस्था के सुधार की वकालत करते हैं। द्विवेदीजी के सभी उपन्यासों में सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति पर विशेष बल दिया गया है, पर जिस कथानक के माध्यम से वे भारत की सांस्कृतिक चेतना को प्रस्तुत करना चाहते हैं उसे वे राजनैतिक केन्द्र से अवश्य जोड़ते हैं। उनके सभी उपन्यासों के कथानक के केन्द्र में तद्युगीन राजा अवश्य प्रतिष्ठित मिलेगा। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में हर्षवर्धन, 'चारुचन्द्रलेख' में सातवाहन, 'पुनर्नवा' में समुद्रगुप्त और 'अनामदास का पोथा' में राजा जानश्रुति विद्यमान हैं। द्विवेदीजी के लिए यह इसलिए भी आवश्यक था कि भारतवर्ष में राजतन्त्र की एक सुदीर्घ एवं समृद्ध परम्परा रही है जिसकी सांस्कृतिक उपलब्धियों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कहना असंगत न होगा कि भारत की सांस्कृतिक चेतना के संरक्षण, विकास एवं संस्कार में राजाओं, महाराजाओं का प्रमुख हाथ रहा है। उसके उत्थान-पतन के वे सर्वाधिक भागीदार रहे हैं। अतः इनकी उपेक्षा कर उपन्यासों के माध्यम से संस्कृति की प्रवहमान धारा को अभिव्यक्ति प्रदान करना द्विवेदीजी के लिए कठिन था। परिणामस्वरूप जहाँ एक ओर उन्होंने राजतन्त्र की सांस्कृतिक उपलब्धियों का चित्रण अपने उपन्यासों में किया है, वहीं उनकी दृष्टि यथासमय राजतन्त्र में आए दोषों की ओर भी गयी है। जिन दोषों के कारण भारतीय संस्कृति को यथासमय जड़ता का शिकार होना पड़ा। भारतीय संस्कृति में आयी जड़ता को तोड़ने का कार्य राजन्यवर्ग की अपेक्षा समाज में वर्तमान प्रगति के बीज को प्रस्फुटित करनेवाले समाज के जीवन्त क्रान्तिकारी नर-नारी करते रहे हैं। यही कारण है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी शासन में प्रजा की साझेदारी चाहते हैं। उनकी साझेदारी की भावना को आप चाहे जो भी नाम दे दें। उसे प्रजातन्त्र कहें अथवा उसको सीमित राजतन्त्र की संज्ञा दें। उनकी दृष्टि में प्रजा की तटस्थता ही देश के पराभव के मूल में है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' की 'महामाया' का निश्चित मत है कि—"अमृत के पुत्रो, म्लेच्छवाहिनी पहली बार नहीं आ रही है, अन्तिम बार भी नहीं आ रही है। तुम यदि आज तुवरमिलिन्द और श्रीहर्षदेव की आशा पर बैठे रहोगे, तो संभवतः आज यह विपत्ति हट जाय, परन्तु कल नहीं टलेगी। तुवरमिलिन्द और श्रीहर्षदेव सदा नहीं रहेंगे, परन्तु तुम्हें सदा रहना है। अमृत के पुत्रो, में भविष्य देख रही हूँ। राजा, महाराजा और सामन्त स्वार्थ के गुलाम बनते जा रहे हैं। प्रजा भीरु और कायर बनती जा रही है। विद्वान और शीलवान नागरिकों की बुद्धि कुंठित होती जा रही है। धर्माचरण में इसीलिए व्याघात उपस्थित हुआ है कि राजा अंधा है, प्रजा अंधी है और विद्वान अन्धे हैं। यह बड़ा अशुभ लक्षण है। अमृत के पुत्रो, मैं ऊर्ध्वबाहु होकर चिल्ला रही हूँ, यह अशुभ लक्षण है। अपने-आपको बचाओ, धर्म पर दृढ़ रहो, न्याय के लिए मरना सीखो, ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक एक हो जाओ। चट्टान की तरह दुर्भेद्य एक यही बचने का उपाय है।

अमृत के पुत्रो, राजपुत्रों की वेतनभोगी सेना की आशा छोड़ो, मृत्यु का भय माया है।"[1]

देश की स्वायत्तता एवं मर्यादारक्षा की दृष्टि से प्रकट किये गये महामाया के ये विचार तत्कालीन राज्य-व्यवस्था पर अत्यंत कड़ा प्रहार है। इस संदर्भ में महामाया द्विवेदीजी के ही राजनैतिक विचारों का प्रतिनिधित्व करती हैं जिनके द्वारा उन्होंने आधुनिक प्रजा की शक्ति में विश्वास प्रकट किया है।

इतिहास साक्षी है कि शक्ति रखते हुए भी देश विदेशियों के सामने इसलिए पराजित हुआ कि उसके हितचिन्तन में सम्पूर्ण देशवासियों की साझेदारी नहीं रही। शासक और प्रजा दो ऐसे खेमें में बँटे रहे कि संकट के काल में भी दोनों का कोई मिलन बिन्दु नहीं बन पाया। "प्रजा समझती है, लड़ाई करना राजा और राजपुत्रों का धर्म है। शेष प्रजा निश्चेष्ट चुपचाप होकर बैठी रहती है। लड़ाई जिनका धर्म माना जाता है, वे जब हार जाते हैं तो प्रजा भी हार मान लेती है। सारा समाज धर्म की झूठी कल्पना के कारण जर्जर हो गया है, शतधा विच्छिन्न हो गया है, आत्मगौरव की भावना से हीन हो गया है।"[2]

इस प्रकार द्विवेदीजी ने उस मूल प्रश्न को अपने उपन्यासों के माध्यम से उठाया है जिसके हल द्वारा ही राजनैतिक अस्थिरता को समाप्त किया जा सकता है। उनका कहना है कि "हमें कुछ ऐसा करना है कि सारी प्रजा दुर्भेद्य चट्टान की तरह एक हो जाय और किसी को उसकी ओर आँख उठाने का साहस ही न रहे।"[3]

१—बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० २५८
२—चारुचन्द्रलेख, पृ० ९९
३—चारुचन्द्रलेख, पृ० ९९

राजा और प्रजा के बीच की संपर्कहीनता ही भारतवर्ष की अधोगति का कारण रही है। सीधा जन-संपर्क रखनेवाला नेता ही देश को एकसूत्रता में बाँध सकता है। उसके अभाव में देश को खण्ड-खण्ड होने से कोई बचा नहीं सकता। ऐसा द्विवेदीजी का स्पष्ट अभिमत है। उनका कहना है कि "भारतवर्ष की राजलक्ष्मी के सिर का एक-एक बाल इस बँटवारे की भेंट हो चुका है। सीधा जनसम्पर्क रखनेवाला राजनेता कहीं रह ही नहीं गया है। राजशक्ति दुर्बल है। प्रजा मूक दर्शक बनी हुई है। राजपुत्रों की झूठी दर्पोक्तियाँ अन्तःसारशून्य ढप बन गई हैं। धिक्कार है इस दम्भवर्द्धिनी, पाखण्ड-प्रसारिणी जड़ नीति को।"[१]

इस प्रकार अपने ऐतिहासिक मंथन द्वारा राजनयिक व्यवस्था के संदर्भ में द्विवेदीजी जिस निष्कर्ष तक पहुँचना चाहते हैं उसके मूल में प्रजाशक्ति एवं परस्पर सहयोग की भावना प्रमुख है। वे क्षणिक राजनीतिक जय-पराजय को महत्वहीन मानते हुए विद्याधर भट्ट एवं रानी चन्द्रलेखा के माध्यम से असहाय प्रजा में साहस और संचार का मन्त्र फूँकने की बात करते हैं। वे कहते हैं—"शस्त्र-बल से हारना हारना नहीं है, आत्मबल से हारना ही वास्तविक पराजय है। बेटी. सारा का सारा देश विदेशियों से आक्रान्त हो जाए, मुझे रंचमात्र भी चिन्ता नहीं होगी, यदि प्रजा में आत्मविश्वास बना रहे, अपने गौरवमय इतिहास की प्रेरणा जाग्रत रहे।"[२]

उनका स्पष्ट मत है कि जिस शासन-व्यवस्था में लूट-खसोट हो और सबको अपनी-अपनी पड़ी हो, वह कभी भी टिक नहीं सकती। एक समय ऐसा आएगा जब कि वह स्वयं नष्ट होगी और देश को भी नष्ट कर देगी। सीदी मौला द्विवेदीजी के इसी मत का समर्थन करते हैं—"सोना मिलने की आशा हो तो उनसे चिलम भरवा लो, पैर दबवा लो, जूठा बर्तन मँजवा लो। स्वार्थ के गुलाम हैं। दिल्ली में गुलामों का राज्य है। सबके सब चुगलखोर, चरित्रहीन, क्रूर, गँवार। नाश हो जायगा इस सल्तनत का! गाँठ बाँध लो महाराज! जिस सल्तनत में सबको अपनी-अपनी पड़ी हो, जिसमें बड़े से बड़े को अपना सिर बचाने की ही चिन्ता पड़ी हो, जिसमें प्रजा के सुख-दुःख से कोई मतलब ही न हो, वह नाश के कगार पर खड़ी है। वे भाग्यहीन डंडे के बल से राज्य चाहते हैं।"[३]

इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से द्विवेदीजी की जागरूकता ने उनके उपन्यासों को अत्यन्त मूल्यवान बना दिया है। राष्ट्र की मान-मर्यादा एवं उसकी सुरक्षा का सारा दायित्व स्वार्थी, अकर्मण्य एवं निकम्मे शासक वर्ग पर छोड़कर प्रजा का मूक दर्शक बने रहना द्विवेदीजी को स्वीकार नहीं। देश के उत्थान-पतन एवं उसपर आनेवाले ज्ञात-

---

१—चारुचन्द्रलेख, पृ० ४०६
२— ,, पृ० ८८
३— ,, पृ० ४२०

अज्ञात सभी संकटों पर जब तक प्रजा के प्रत्येक वर्ग की सूक्ष्म दृष्टि न होगी तब तक न तो स्वस्थ समाज की संरचना हो सकती है और न तो देश की स्वाधीनता को रक्षा ही।

हल्द्वीप में नित्य होनेवाले अत्याचारों से देवरात को दुखी देखकर पुष्प सी कोमल बालिका मृणाल के उद्‌गार द्विवेदीजी की राजनीतिक दृष्टि एवं उनकी राष्ट्रीय चेतना को स्पष्ट करनेवाले हैं। वह कहती है—"पिताजी, मैं क्या इस समय आपके किसी काम नहीं आ सकती ?

दिनदहाड़े प्रजा की सम्पत्ति लूटी जा रही है; बहू-बेटियों का शील नष्ट किया जा रहा है। आपकी यह अभागिनी कन्या क्या इस समय कुछ भी नहीं कर सकती ? आपका मुरझाया मुख मुझसे नहीं देखा जाता। मुझे भी कुछ करने की आज्ञा दें।"[१]

वह देवरात से महिषमर्दिनी की उपासिका बनने की इसलिए अनुमति माँगती है कि वह घृणित पापाचारियों को ध्वस्त करने की दीक्षा लेना चाहती है। प्रजा पर हो रहे अत्याचार सहन करने को उसमें शक्ति नहीं। और द्विवेदीजी मृणाल के माध्यम से यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि अत्याचार करनेवाले घिनौने पशुओं को यदि अधिक छूट दी गई तो ये धरती को धर्महीन कर देंगे। अत्याचारी और निरंकुश राजा देश को कमजोर बनाता है। उसे उखाड़ फेंकना प्रजा का धर्म है। इस कार्य के लिए उनकी दृष्टि देश के नवयुवकों की ओर जाती है और वे गोपाल आर्यक के लहुरा-बीर सेवक दल का पूर्ण समर्थन करते हैं। राज्य में जब विषम संकट हो तो उसकी छोटी से छोटी इकाइयों का आत्मरक्षा के लिए संगठित होना आवश्यक है। उस राज्य को पतन की ओर बढ़ने से कोई रोक नहीं सकता जिसके शासक वर्ग दायित्वहीन हो चुगलखोरों से घिरे अकर्मण्यता की ओर बढ़ रहे हों। जब भी ऐसी स्थिति आती है तो राजा तो नष्ट होता ही है, प्रजा को भी कुछ कम कष्ट नहीं भोगने पड़ते।

मथुरा के शासकों में व्याप्त दुर्बलता को दिखाकर द्विवेदीजी ने अपनी इसी राजनीतिक दृष्टि का परिचय दिया है—"मथुरा विटों, विदूषकों और बन्धुलों से भर गई है। इसमें गुण का सम्मान बाद में होता है, गुणी का अपमान पहले। म्लेच्छ राजा की धर्महीन राजसभा परनिन्दकों और चुगलखोरों से भारग्रस्त हो गई है।"[२] परिणामस्वरूप मथुरा राज्य का पतन होकर रहा और इस अवस्था को प्राप्त करने पर किसी भी राज्य का पतन अवश्यम्भावी है। निरंकुश राजा का अत्याचार प्रजा के लिए सहन करने को वस्तु नहीं बल्कि उसके प्रतिकूल संघर्ष करना हो प्रजा का धर्म है। कोई भी राजा जब चाटुकारों के हाथ की कठपुतली बन जाता है तो वह राज्य के लिए अनर्थकारी सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में उसकी राजसभा प्रजाहित में कार्य करने-

---

१. पुनर्नवा, पृ० ३८
२. ,, ,, ६८

वाली न होकर मनोरंजन का साधन बनकर रह जाती है। माढव्य की स्वीकारोक्ति इस तथ्य को प्रकाश में लानेवाली है—"

जानना यह चाहता हूँ मित्र, कि तुम क्या माढव्य से भी बड़े मूर्ख हो? सारी दुनिया जानती है कि माढव्य से बड़ा मूर्ख और कोई नहीं। परन्तु माढव्य जानता है कि वह कितना चतुर है। जानते हो मित्र, सारी दुनिया अपनी कुशलता का मूल्य वसूल करती है, लेकिन माढव्य अपनी मूर्खता का दाम वसूल करता है। राजसभा में मूर्खता भी बिकती है मित्र, और माढव्य ही उसे बेचता है। वह विदूषक बनकर अपनी मूर्खता का दाम राजा से कसकर वसूलता है.........वहाँ जुगाली करनेवाले ही भरे पड़े हैं। माढव्य अगर मूर्ख है तो राजसभावाले बैल हैं।"[१]

इस प्रकार राजतंत्र की दुर्बलता की ओर संकेत करते हुए द्विवेदीजी 'पुनर्नवा' में स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि राजा की स्तुति से दरबारी लोग प्रायः राजा से अनर्थ कराया करते हैं। निरंकुश तानाशाही शासन के प्रति द्विवेदीजी ने आक्रोश व्यक्त किया है और वे उसके विरुद्ध जनता को आवाज उठाने के लिए कहते हैं। एक नौजवान के उत्तेजित स्वर में उनका कहना है—"देख लेना, ऐसा अत्याचार भगवान भी नहीं सह सकेंगे। सब की मर्यादा होती है। किसी के घर में घुसकर बहू-बेटियों पर कुदृष्टि डालने का परिणाम भयंकर होगा। राजा का साला है तो क्या, जो चाहे सो कर सकता है? इसी पाप से इस राज्य का सत्यानाश हो जायेगा।"[२]

सम्राट् की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश का लगना उपन्यासकार की दृष्टि में आवश्यक है—

"यदि सम्राट ने प्राड्विवाक्, मंत्री, पुरोहित और धर्म-शास्त्रियों से परामर्श के बिना कोई निर्णय लिया है तो उसका कोई मूल्य नहीं है, वह निरर्थक है।"[3]

इस प्रकार लोकहित में कार्य करनेवाली शासन-प्रणाली की सफलता के लिए उसपर लगनेवाले अंकुश की द्विवेदीजी बराबर वकालत करते जान पड़ते हैं। वह राजा अथवा वह शासन-व्यवस्था असह्य है जो जनहित के विरुद्ध टिकी हो—"जिस राजा के राज्य में बच्चे और स्त्रियाँ भूख-प्यास से व्याकुल होती हैं उसका सत्यानास हो जाता है और राजा नरक का अधिकारी होता है।"[४]

'द्विवेदीजी' के मन में न तो किसी शासन-व्यवस्था के प्रति बद्धमूल बैर भाव है और न तो किसी के प्रति पक्षपात। वे केवल इतना चाहते हैं कि समाज ने शासन-

---

१. पुनर्नवा, पृ० ९९
२. „ „ १४०
३. „ पृ० १९९
४. अनामदासका पोथा, पृ० ७१

व्यवस्था को लोकहित में स्वीकार किया है जिसमें यदि दोष आ गया हो तो उसका परिष्कार आवश्यक है। राजतन्त्र में भी यदि निष्ठावान, निर्भीक एवं स्पष्टवादी पार्षद हों तो उसे भी स्वीकार कर लेने में कोई कठिनाई नहीं। कठिनाई तब होती है जब पार्षद दुर्बल एवं चाटुकार हो जाते हैं। आवश्यकता है आचार्य औदुम्बरायण जैसे सतेज महापुरुषों की जो शासन की दोषपूर्ण व्यवस्था की निर्भीक आलोचना कर सकते हों। वे स्पष्ट कहते हैं—"महाराज, दोष तुम्हारा भी है और मेरा भी। राजा जब तक स्वयं जागरूक न हो तो राज-कर्मचारी शिथिल हो जाते हैं, मुस्तैदी से काम नहीं करते। राजा को चिन्ता में न डालने की आड़ में वे स्वयं निश्चिन्त हो जाते हैं। राजकर्मचारियों को निरन्तर कसते रहना पड़ता है। वह हमने नहीं किया। दोष हमारा भी है, मैं कहूं कि दोष हमारा ही है!"[१]

इस प्रकार समयानुसार शासन-व्यवस्था को सक्षम बनाने के लिए उसके परिमार्जित होते रहने की आवश्यकता पर उपन्यासकार ने बल दिया है। आचार्य द्विवेदीजी ने अपने सभी उपन्यासों में लोक कल्याणकारी शासन को महत्व प्रदान किया है।

●

१. अनामदास का पोथा पृ० ९०

१६ | भाषा-दृष्टि

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों का स्तर साधारण नहीं है और न तो वे साधारण पाठकों के लिए लिखे ही गये हैं। जिस प्रकार मुंशी प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों के द्वारा हिन्दी उपन्यास साहित्य को जासूसी, तिलस्मी, खूनी और ऐय्यारी की स्थिति से निकालकर उसे साहित्यिकता प्रदान की उसी प्रकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें गम्भीर चिन्तन एवं कलात्मक साहित्य का स्तर प्रदान किया। द्विवेदी जी के उपन्यासों के पूर्व लोग उपन्यास साहित्य को हल्का-फुल्का साहित्य कहकर अन्य साहित्य रूपों की अपेक्षा उपन्यास साहित्य का अवमूल्यन कर दिया करते थे। पर द्विवेदी जी के उपन्यासों ने प्रमाणित कर दिया है कि उपन्यास अन्य साहित्य रूपों की भाँति ही एक गम्भीर साहित्य रूप है जिसमें अपेक्षाकृत शक्ति और सामर्थ्य अन्य साहित्य रूपों से अधिक है। उपन्यास के जितने भी विधायक तत्व स्वीकार किये गये हैं द्विवेदी जी ने उन सभी तत्वों में कलात्मकता की प्रतिष्ठा की है। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, द्विवेदी जी के अधिकांश उपन्यासों की भाषा सरल, सरस और बोधगम्य नही है, ऐसा सामान्य लोगों का कहना है। सामान्य उपन्यासकारों एवं उनके पाठकों की अपरिचित भाषा द्विवेदी जी के उपन्यासों को उन्हें हिन्दी उपन्यास साहित्य की मूल धारा से अलग करती जान पड़ती है। भाषा की यह दुरूहता पाठकों की संख्या सीमित तो करती है, पर अभिप्रेत भावों एवं वर्णित मूल्यों को स्थायित्व प्रदान करने में वह जितनी सक्षम प्रमाणित हुई है वह हिन्दी उपन्यास साहित्य में विरल है।

उपन्यासकार अपनी उपन्यास कला के द्वारा जिस प्रकार के प्रभाव की सृष्टि करना चाहता है उसमें उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। उपन्यास में भाषा का महत्व इतना अधिक होता है कि शैली से कभी-कभी हम भाषा का ही अर्थ समझ बैठते हैं। निश्चित मानिये कि विषय के रूप में जितने ही सुन्दर विचारों को उपन्यास में ग्रहण किया जायेगा उतने ही सुन्दर वाक्यों एवं भाषा की उसमें सहज ही सृष्टि होगी। चिन्तन एवं मार्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति एवं अदृप्त मनोभावों को रूपायित करने के कारण ही द्विवेदी जी की भाषा अत्यन्त शास्त्रीय एवं कलात्मक हो उठी है। यही कारण है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' जैसे सरस उपन्यास को भी हृदयंगम करने के लिए पाठक को कहीं-कहीं भाषा के व्यूह से अत्यन्त सावधानी पूर्वक गुजरना पड़ता है। विभिन्न साहित्य-रूपों के अनुसार भाषा की प्रकृति

में परिवर्तन होता रहता है। यह आवश्यक नहीं कि गीत, महाकाव्य, नाटक, कहानी एकांकी और उपन्यास की भाषा का स्तर एक समान हो। निश्चित रूप से उनमें विषमता होगी, क्योंकि उपर्युक्त सभी साहित्य-रूप भिन्न मानव प्रकृति एवं मनः स्थिति की अभिव्यक्ति करते हैं। यही कारण है कि सभी प्रकार के उपन्यासों की भाषा में भी असमानतायें होती हैं। विषय, प्रतिपाद्य, देशकाल और समाज की भिन्नता उपन्यासों के भिन्न रूपों का निर्माण करती है जिससे भिन्न भाषा-प्रयोग का सिद्धान्त अपने आप लागू हो जाता है। यहाँ तक कि एक ही उपन्यास में भिन्न-भिन्न भाषा का प्रयोग कभी-कभी कृति की स्वाभाविकता का कारण बनता है। द्विवेदी जी के उपन्यासों में चित्रित विषय, प्रतिपाद्य, देशकाल और समाज हिन्दी के अन्य उपन्यासों से पर्याप्त भिन्न हैं जिससे उनमें भाषा की भिन्नता का होना स्वाभाविक है। अतः स्पष्ट है कि सभी उपन्यासों में भाषा प्रयोग की समान पद्धति नहीं अपनायी जा सकती। एक स्तर की भाषा किसी विशेष उपन्यास के अनुकूल पड़ सकती है और वही किसी दूसरे प्रकार के उपन्यास के लिए बिलकुल प्रतिकूल ठहर सकती है। प्रेमचन्द के उपन्यासों की भाषा 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के अनुकूल नहीं पड़ सकती। उससे तो उपन्यास का स्वरूप ही नष्ट हो जायेगा और 'बाणभट्ट की आत्मकथा' अथवा 'दिव्या' की भाषा में यदि 'सेवासदन' अथवा 'गबन' को प्रस्तुत कर दिया जाय तो इन उपन्यासों का समूचा प्रभाव ही नष्ट हो जायेगा। ललित आलंकारिक भाषा और लच्छेदार शब्दावली का प्रयोग गुप्तकालीन वातावरण पर लिखे गये 'कालिदास' जैसे उपन्यास को गौरवान्वित कर सकता है, उससे हर्ष कालीन भारत पर लिखे गये उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की स्वाभाविकता बढ़ सकती है, पर 'मैला आंचल' तथा 'परती परिकथा' जैसे आंचलिक उपन्यासों की उससे औपन्यासिकता ही समाप्त हो जायेगी। संस्कृत साहित्य के प्रकांड पण्डित बाणभट्ट जैसे पात्र संस्कृत निष्ठ भाषा के स्थान पर एक मछुआ टोली की भाषा अथवा भोजपुरी बोलने लग जाँय तो उपन्यास के लिए अस्वाभाविक चित्रण कहा जायेगा।[1] औपनिषदिक काल से लेकर अन्तिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान के पराभव काल तक द्विवेदी जी के उपन्यासों के पात्र फैले हैं। जिस समय तक कि आधुनिक हिन्दी और उसकी विभिन्न बोलियों का कहीं पता भी नहीं था। संस्कृत भाषा ही एक ऐसी भाषा है जिसका नैरंतर्य किसी न किसी रूप में बराबर बना रहा। ऐसी स्थिति में प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक परिवेश में चित्रित पात्रों को स्वाभाविकता प्रदान करने के लिए उपन्यासकार को विवश होकर आज की जन-सामान्य भाषा से भिन्न भाषा का प्रयोग करना होगा। द्विवेदी जी के उपन्यास जिस सामाजिक परिवेश को प्रस्तुत करते हैं उसके अनुरूप भाषा की सृष्टि उपन्यासकार द्विवेदी की परवशता थी और उनकी यही परवशता उनके उपन्यासों की सफलता का रहस्य है। विस्तार में न जाकर इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि द्विवेदी जी की

१. हिन्दी उपन्यासः शिल्प और प्रयोग, डा० त्रिभुवन सिंह, पृ० ४००–४०१

भाषा उनके उपन्यासों के सुन्दर शिल्प का वह सुन्दर अंग है कि जिसे उससे अलग करके देख पाना कठिन है। अतीत कालीन पात्रों को परकाय प्रवेश की विधि से जिस प्रकार द्विवेदी जी ने विश्वसनीयता प्रदान की है, उसी प्रकार उन्हें संस्कृत निष्ठ, प्रांजल पर सहज बोध गम्य भाषा प्रदान कर जीवन्तता प्रदान की है। द्विवेदी जी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कबीर' में कबीर की भाषा का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है वह स्वरूप द्विवेदी जी की भाषा का सहज ही आभास दे जाता है। उनका कहना है—'भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है;—बन गया है तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके। और अकह कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पायी जाती है।'[1]

कबीर पर कही गयी द्विवेजी जी की यह उक्ति उनके उपन्यासों की भाषा पर ठीक-ठीक लागू होती है। वे सचमुच भाषा के डिक्टेटर थे और उसे जब जिस रूप में चाहा है मोड़ देकर अपनी अभिव्यक्ति को स्पष्टता प्रदान कर दी है। भाषा जैसे उनके हाथ की कठपुतली है जो उनके इशारे पर नाचती है और उनका इशारा पाकर वह कठिन से कठिन कार्य कर डालती है। अपनी साहित्यिक भंगिमा में द्विवेदी जी की उपन्यासों की भाषा यदि कहीं अलंकारों से लदी चलती है तो अवसर आने पर वह कहीं अपनी सरलता का भी बोध करा जाती है। उपन्यास के वे स्थल जिनमें वातावरण की सृष्टि के लिए भाषा का द्विवेदी जी ने आह्वान किया है, 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में वह बाणभट्ट कृत 'कादम्बरी' की शैली की याद दिलाने लग जाती है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के सप्तम् उच्छ्वास के आरम्भ में ही चित्रित वातावरण के लिए द्विवेदी जी ने उसी प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है। द्वादश उच्छ्वास के आरम्भ में जब वे वातावरण का चित्रण करने लग जाते हैं तो उन्हें कादाम्बरीकार का स्मरण हो जाता है—'धीरे-धीरे पूर्व गगन-मंच पर चन्द्रमा का अभ्युदय हुआ। सारा भुवन-मण्डल पहले सिन्दूरराग से लाल हो उठा और फिर मानो धावल चन्दन-रस की धारा से आप्लावित हो गया। भवन-वलभियों के पारावतों में क्षण भर के लिए चंचलता आयी। उनके भास्म के समान कर्बुर पक्ष पर रह-रह कर फड़फड़ा उठने लगे, और उन्हीं से मानों अन्धकार झाड़ दिया जाने लगा। चमगीदड़ों की छाया कभी-कभी मेरे सिर पर से पार कर जाने लगी। उन्हें देखकर अनुमान होता था कि अन्धकार-रूपी सेनापति के इक्के-दुक्के सैनिक अवसर पाकर इधर-उधर भाग जाने की चेष्टा कर रहे हैं। सारा वातावरण शान्त और मनोरम हो गया। चन्द्रमा की स्निग्ध

---

१. कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, छठा संस्करण, पृष्ठ २१६

ज्योत्स्ना में स्नान-सा करता हुआ, भद्रेश्वर-दुर्ग और भी मनोहर हो उठा। मैंने सोचा कि जिस दिन कर्पूर-धवल महादेव के जटाजूट से शतधार होकर गंगा की धारा हिमालय पर गिरी होगी, उस दिन उसकी शोभा कुछ ऐसी ही रही होगी।'[1] अतः उपन्यासकार के सामने जब कभी इस प्रकार के वातावरण के चित्रण की समस्या उपस्थित होती है तो उससे भाषा का प्रभावित होना सहज-स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में उपन्यासकार के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह भाषा का प्रयोग पात्रों के सामाजिक रहन-सहन एवं विद्या-बुद्धि सम्बन्धी स्तर तथा वातावरण के अनुसार करे। यदि कालिदास ऐसा पात्र हो तो नील सरोवर में स्वर्ण कमल खिलने जैसी बात स्वाभाविक है। द्विवेदी जी के उपन्यासों की भाषा जो हिन्दी उपन्यासों के सामान्य धरातल से बहुत ऊपर उठकर चलती दिखाई पड़ती है, उसके मूल में उनके उपन्यासों के असाधारण कोटि के पात्र और उनके असाधारण परिवेश हैं।

विषय और भाषा का अदभुत तादात्म्य द्विवेदी जी के उपन्यासों में देखने को मिलता है। 'बाणभट्ट को आत्मकथा' नामक उनका उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में संस्मरणात्मक पद्धति पर लिखा गया है। इस शैली को भी डायरी शैली की भी संज्ञा दी जा सकती है। समस्त संस्कृत वाङ्मय में कादम्बरीकार 'बाणभट्ट' अपनी अलंकृत गद्य शैली के लिए विख्यात हैं। लम्बे अन्तहीन वाक्यों के लिए वे आज भी अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखते। अतः आत्मकथात्मक उपन्यास को विश्वसनीयता प्रदान करने एवं उसमें स्वाभाविकता लाने के लिए यह आवश्यक था कि 'बाणभट्ट' की शैली का उपन्यासकार अनुसरण करे। द्विवेदीजी ने कादम्बरीकार बाणभट्ट की शैली को हिन्दी गद्य की उपन्यास विधा में प्रतिष्ठित कर हिन्दा उपन्यास साहित्य को गौरवान्वित किया है। इस दृष्टि से वे हिन्दी के बाणभट्ट हैं। भाषा को शैली से अलग करके नहीं देखा जा सकता। अतः ताल मेल बनाए रखने के कारण 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की भाषा कुछ दुरूह अवश्य दीखती है पर वह बोधगम्य है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। अलंकृत भाषा का लालित्य 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में अवश्य है, पर वह सरल और सुबोध भी है जिससे कि अभिप्रेत भावों तक पहुँचने में सहृदय पाठकों को किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। वातावरण की सृष्टि में जहाँ कहीं भी उपन्यास की भाषा संस्कृत बहुल शब्दावली के कारण बोझिल हुई है, उपन्यासकार ने उसे हास्य-व्यंग्य के प्रसंगों से ऐसा जोड़ दिया है कि वह पाठकों में नयी ताजगी ला देती है। जहाँ कहीं भी आवश्यकता पड़ी है 'द्विवेदी जी' ने बोल-चाल के शब्दों का भो निःसंकोच प्रयोग किया है।

'चारु चन्द्रलेख' की रचना भी उपन्यासकार ने बाणभट्ट की शैली को आधार बनाकर की है। उपन्यास की सम्पूर्ण कथा राजासातवाहन के माध्यम से प्रस्तुत की गयी है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की भाँति दैनन्दिन शैली में होती हुई भी कथा को शिला पर पहले से हो उट्टंकित दिखलाया गया है जो खटकने वाली बात है।

---

१. बाणभट्ट की आत्मकथा, हजारी प्रसाद द्विवेदी—पृष्ठ २०५

इस प्रकार की कोई भी अस्वाभाविकता 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में नहीं आने पाई है। देश-काल में अन्तर आने के कारण चारु चन्द्रलेख की भाषा में भी बदलाव आया है। यत्र-तत्र दुरूह शास्त्रीय एवं विचार प्रधान होते हुए भी चारु चन्द्रलेख की भाषा 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की भाषा की अपेक्षा अधिक बोधगम्य और सरल है। संस्कृत के तत्सम तथा समास बहुल शब्दों का भी पर्याप्त प्रयोग इस उपन्यास में हुआ है। वातावरण को विश्वसनीय बनाने के लिए अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग मिलता है क्योंकि इसमें तुर्क कालीन भारत की सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति को विवेचन के लिए चुना गया है।

'पुनर्नवा' में आकर 'द्विवेदीजी' की शैली में पूर्णतः बदलाव आया और इसके लिए उन्होंने आत्मकथात्मक शैली के स्थान पर वर्णनात्मक शैली को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। स्वभावतः इस उपन्यास की भाषा बिल्कुल बदल गयी। इस उपन्यास में आकर भाषा की क्लिष्टता समाप्त हो गयी है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तु-वर्णन की प्रवृत्ति 'द्विवेदीजी' के सभी उपन्यासों में पायी जाती है जिसके लिए 'पुनर्नवा' की भाषा सर्वाधिक उपयुक्त प्रमाणित हुई है। 'अप्सरा' की चर्चा के बीच 'चन्द्रमौलि' के माध्यम से द्विवेदी जी अवसर निकाल कर जब हिमालय की भूमि का वर्णन करने लग जाते हैं, तो उनकी सरल भाषा को शक्ति देखते ही बनती है—लेकिन हिमालय की भूमि सचमुच ऐसी है कि वह देव-बधुओं की क्रीड़ा-स्थली कही जा सके। सुन्दरियों के श्रृंगार में काम आनेवाली गैरिक रंग की चट्टानें दूर-दूर तक फैली हुई हैं। जब कभी उनके ऊपर बादलों का संचार होता है तो ऐसा जान पड़ता है कि असमय में ही सन्ध्याकाल आ उपस्थित हुआ। क्योंकि बादलों के कोर पर उन धातुमयी शिलाओं की रंगीनी छा जाती है और सारा पर्वत अकाल सन्ध्या की शोभा से जगमगा जाता है। सुन्दरियाँ जिन रंगों से अनेक प्रकार का प्रसाधन करती हैं और प्रेमप्लुत अवस्था में जिनका स्याहा बनाकर प्रणय-गीत लिखा करती हैं वे धातुरस वहाँ प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं और प्रेम-पत्र लिखने के लिए तो वहाँ भोज-पत्रों के घने जंगल भरे पड़े हैं'[1]—इसके अतिरिक्त कथन में नाटकीयता लाने के कारण इस उपन्यास की भाषा में जो गतिमत्ता आई है उससे वह सम्वाद-योजना के अत्यन्त अनुकूल बन पड़ी है। इस उपन्यास में घटनेवाली घटनाएँ तत्काल घटती हैं जिसके कारण भाषा का तनाव जाता रहा है और वह सरल से सरल छोटे-छोटे वाक्यों में प्रस्तुत हुई है, जिनका द्विवेदीजी' के आरम्भिक दोनों ही उपन्यासों में सर्वथा अभाव था। इतने पर भी अलंकरण के स्वाभाविक मोह से द्विवेदीजी' इस उपन्यास को भी नहीं बचा सके हैं—बरसने से पहले घन-घटा में जो आशा-संचारिणी शामक शोभा दिखायी देती है, निस्तरंग विशाल अंबुराशि में जो भीषण-मनोहर अचंचल निस्पन्दता दिखायी देती है और ऊर्ध्व गामिनी शान्त-अकम्पित दीप-शिखा में अन्धकार-विमर्दिनी साहस-दायिनी जो स्थिरता होती है, इन सबको एक साथ मिला देने से जो अक्षोभ्य शान्ति बनेगी,

---

१. पुनर्नवा, पृ० १०१

कुछ-कुछ वैसा ही[१]—पर ऐसे स्थलों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। संस्कृत के श्लोकों की जो बौछार उनके अन्य उपन्यासों में देखने को मिलती है वह इस उपन्यास में आकर मर्यादित हो गयी है। अपनी इन्हीं भाषागत विशेषताओं के कारण 'पुनर्नवा' की पठनीयता बढ़ी है और कम समय में ही इसने अपेक्षाकृत अधिक पाठकों का निर्माण किया है।

'अनामदास का पोथा' का परिवेश द्विवेदीजी के सभी उपन्यासों से भिन्न है जिससे संस्कृत निष्ठ क्लिष्ट भाषा के प्रयोग की संभावना इसमें सर्वाधिक थी। संस्कृत निष्ठ क्लिष्ट भाषा का यत्र-तत्र प्रयोग 'द्विवेदीजी' ने इस उपन्यास में किया भी है पर उसकी अनावश्यक भरमार से उपन्यास को उन्होंने बचाने का भरसक प्रयत्न किया है। यही कारण है कि इतने गहन एवं चिंतन प्रधान विषय को वे उपन्यास के रूप में प्रस्तुत ही नहीं कर सके हैं बल्कि उसे पठनीय भी बना सके हैं। "पुनर्नवा' की भाँति यह उपन्यास भी वर्णनात्मक शैली में लिखा गया है पर भावात्मकता एवं कल्पना प्रवणता उपन्यासकार की विचार-सरणि के साथ इस प्रकार घुल मिलकर उपन्यास में प्रस्तुत हुई है कि भाषा की शक्ति देखते ही बनती है। पात्रों के अनुरूप सहज भाषा-प्रयोग के सुन्दर उदाहरण इस उपन्यास में भरे पड़े हैं। लड़का बोला—"अच्छा नहीं लगता मामा बरगद के फल खाये नहीं जाते। मामा ने बड़ी मुलायम आवाज में कहा—नहीं अच्छे लगते? अच्छा आज खा ले कल गूलर ले आऊँगा। खा ले बेटा। मामा से लड़ेगा कैसे?'—[२] इस प्रकार भावुकता के क्षणों में भी उनकी भाषा की रवानी बनी रही है—"एकदम चिकना, फूल के समान खिला हुआ। आँखे एक दम मृग की आँखों जैसी हैं—बड़ी-बड़ी काली-काली अत्यन्त मोहन। केश हमारे-तुम्हारे जैसे नहीं है, एक दम मुलायम, काले, लहरदार! समझे!—[३] सहज भाषा के सम्बन्ध में द्विवेदीजी की अपनी एक अवधारणा है। उनके अनुसार "सहजभाषा मैं उसे समझता हूँ जो सहज ही मनुष्य को आहार, निद्रा, आदि पशु सामान्य धरातल से ऊँचा उठा सके। सहज भाषा का अर्थ है, सहज ही महान बना देनेवाली भाषा। वह भाषा जो मनुष्य को उसकी सामाजिक दुर्गति, दरिद्रता, अन्ध संस्कार और परमुखापेक्षिता से न बचा सके किसी काम की नहीं है, भले ही उसमें प्रयुक्त शब्द बाजार में बिचरने वाले अत्यन्त निम्न स्तर के लोगों के मुख से संग्रह किए गए हों। अनायास लब्ध भाषा को ही मैं सहजभाषा नहीं कहता। तपस्या, त्याग ओर आत्म बलिदान के द्वारा सीखी हुई भाषा सहजभाष है।"[४] यही सहज भाषा द्विवेदीजी के उपन्यास की सहज भाषा है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने अपने उपन्यासों के द्वारा हिन्दी उपन्यास साहित्य को एक ऐसी भाषा दी है जो उसे एक कलात्मक एवं गंभोर साहित्य रूप में प्रतिष्ठित करने में सहायक सिद्ध हुई है। ●

---

१. पुनर्नवा, पृ० २८१
२. अनामदास का पोथा, पृ० ८४
३. ,, ,, पृ० ४४
४. विचार और वितर्क पृ० १७५

१७ | विशेष दृष्टि

मानव प्राणी ही आचार्य द्विवेदी के उपन्यासों के विवेच्य हैं। भारत का अतीत कालीन समाज ही उनके उपन्यासों का प्रिय विषय है जिसके कारण वे समाज के विकास में प्रवह मान चेतना में नैरंतर्य देख पाने में सफल हो पाये हैं। यद्यपि द्विवेदी जी की प्रतिभा उनके चिंतन-मनन एवं अध्ययन के आधार पर जब कल्पना के विलास में तत्पर हो जाती है तो उससे पौराणिक एवं ऐतिहासिक शुष्कता और तथ्यात्मकता बहुत पीछे छूट जाती है, फिर भी देश-काल-चित्रण के समय उनका दायित्वबोध सदैव सजग रहा है। उनके उपन्यासों में ऐतिहासिक सत्य की अपेक्षा संभावित सत्य अधिक प्रस्तुत हुआ है जिससे वे इतिहास के अधूरे कार्य को अपने उपन्यासों द्वारा पूरा कर पाने में समर्थ हुए हैं। द्विवेदी जी के उपन्यासों की रचना केवल पांडित्य प्रदर्शन एवं कल्पना विलास के लिए ही नहीं हुई है, बल्कि उनकी रचना वर्तमान समाज को प्रेरणा देने के लिए हुई है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे अतीत पर वर्तमान का आरोपण करते हैं, बल्कि वे अतीत को वर्तमान के निकट खींच लाते हैं।

उपन्यासकार हजारी प्रसाद द्विवेदी को इतिहासकार का विवेक मिला है जिससे वे देश-कालगत असंगतियों से अपने उपन्यासों को भरसक बचा सके हैं। सामाजिक मूल्यों पर विशेष बल देने के कारण वे सामाजिक जड़ता को नष्ट करने वाली एवं उसे परिवर्तन की नवीन दिशा प्रदान करने वाली शक्तियों को सहज ही पहचान लेते हैं हैं जिससे उनके उपन्यासों में ऐसे सशक्त पात्रों की सृष्टि हो सकी है जो सामाजिक दायित्व के निर्वाह की प्रेरणा देने में पूर्ण सक्षम हैं। वर्तमान के प्रति आस्थावान 'द्विवेदी जी' केवल अतीत-सौंदर्य की प्रशंसा ही नहीं करते, बल्कि यथावसर उसकी दुर्बलताओं का चित्रण करने में भी इसलिए नहीं चूकते कि जनमानस में वर्तमान के प्रति आस्था एवं विश्वास की सृष्टि की जा सके। जहाँ कहीं भी वे अतीत-सौन्दर्य के प्रति अभि-भूत होते हैं, उसके पीछे वर्तमान की दुर्बलताओं को अतीत से शक्ति शाली बनाने की भावना छिपी रहती है।

ऐतिहासिक अथवा पौराणिक उपन्यास लिखना कठिन कार्य है, पर 'द्विवेदीजी' की साधना ने उसे सहज सुलभ बनाया है। इतिहासकार की भांति वे पात्रों के आस-पास तथ्यात्मक वर्णनों का व्यूह ही नहीं रचते, बल्कि पात्रों के साथ वे अपना सहज तादात्म्य भी स्थापित करते हैं। कहीं-कहीं तो उनके पात्र उनके व्यक्तित्व की ही झांकी प्रस्तुत करते जान पड़ते हैं। इसे उपन्यासकार के परकाय प्रवेश की क्षमता के रूप में

स्वीकार करना पड़ेगा, जो सरल कार्य नहीं; इस दुष्कर कार्य में आचार्य द्विवेदी को पूर्ण सफलता मिली है। बाणभट्ट,[1] विद्याधर[2] और देवरात[3] में 'द्विवेदीजी' की मान्यताओं एवं उनके व्यक्तित्व की मूलभूत विशेषताओं को सहज ही देखा जा सकता है। शाश्वत मानव मूल्यों की तलाश उनके सभी उपन्यासों में देखने को मिलती है। भारतवर्ष में धर्म सामाजिक जीवन का अंग रहा जिससे उसे कभी भी अलग करके नहीं देखा जा सकता। सामाजिक संस्कृति से लेकर राजन्य वर्ग तक समान रूप से उसका वर्चस्व बना रहा और एक लम्बे अर्से तक इससे देश को लाभ पहुँचा है। समग्र भारतीय जीवन के विकास में इसका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उत्तरोत्तर धर्म व्यवस्था अपने उद्देश्य से अलग होती हुई कुछ लोगों के हाथों में पड़ कर स्वार्थ साधन का माध्यम बन कर रह गयी और उसे पाखण्ड के साथ जोड़ दिया गया जिस पर अपने उपन्यासों में 'द्विवेदीजी' सर्वत्र प्रहार करते हैं।

आचार्य द्विवेदी जड़ीभूत धर्म व्यवस्था के घोरनिन्दक और प्रगतिशील धर्म व्यवस्था के प्रबल पक्षधर हैं। 'चारु चन्द्रलेख' में वे स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि भारत वर्ष की धर्म व्यवस्था में बहुत छिद्र हो गए हैं। अपने ही रक्त-मांस और चर्म से जितना ढक सको, ढको। अपनी अन्तड़ियों के तागे से जितना सी सको, सीओ।"[4] धर्म की उदार व्याख्या ही 'द्विवेदीजी' को स्वीकार्य है। उसे वे जड़ीभूत नहीं बल्कि गतिशील मानते हैं। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की है कि "मैं आज स्पष्ट देख रहा हूँ कि जितने बँधे-बँधाए नियम और आचार हैं उनमें धर्म अँटता नहीं। वह नियमों से बड़ा है, आचारों से बड़ा है। मैं जिनको धर्म समझता रहा वे सब समय और सभी अवस्था में धर्म नहीं थे, जिन्हें अधर्म समझता रहा वे सब समय और सभी अवस्था में अधर्म नहीं कहे जा सकते।"[5] धर्म के नाम पर तप के लिए समाज से पलायित होना 'द्विवेदीजी' की दृष्टि में कोई अर्थ नहीं रखता। समाज को ही वे तपस्या की कसौटी मानते हैं—"मान ले बेटा, तू किसी जंगल में अकेला तप कर रहा है, तू सत्य वादी है। अब इस बात की परीक्षा कैसे होगी कि तू सचमुच सत्यवादी है? जब दस मनुष्यों के सम्पर्क में आयेगा, कहीं तेरे स्वार्थ पर चोट पहुंचेगी उस समय अपना मतलब साधने के लिए झूठ नहीं बोलेगा, किसी बात को छिपाने का प्रयत्न नहीं करेगा, तभी न मालूम हो सकेगा कि तू सत्य पर दृढ़ है? अकेले-अकेले तो हर आदमी सत्यवादी और

---

१. बाणभट्ट की आत्मकथा
२. चारु चन्द्रलेख
३. पुनर्नवा
४. चारु चन्द्रलेख, पृ० १४
५. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० २७३

धर्म-निष्ठ होने का दावा कर सकता है। दस जनों के सम्पर्क में आने से ही न उसकी निष्ठा की परीक्षा होगी ?"[१] इसी प्रकार 'द्विवेदीजी' पाप-पुण्य की व्याख्या भी सामाजिक सन्दर्भ में ही करते हैं—"हाँ बेटा, तूने ठीक प्रश्न किया है। बादरायण व्यास ने कहा है कि जिस कार्य से किसी को शारीरिक या मानसिक कष्ट होता है, वह पाप कार्य है। पर जिससे किसी का दुःख दूर हो, उसका इहलोक और परलोक सुधर जाये, रोगी निरोगी हो जाये, दुखिया सुखी हो जाये, भूखा अन्न पाये, प्यासा जल पावे, कमजोर लोग आश्वासन पावें वे सब पुण्य हैं; क्योकि इनसे अन्तःकरण में विराजमान परम देवता प्रसन्न होते हैं।"[२] इस प्रकार द्विवेदी जी के उपन्यासों में सामाजिक कल्याण की दृष्टि बराबर सजग रही हैं और उन्होंने इतिहास और पुराण के उन्ही सन्दर्भों को अपने उपन्यासों के लिए उपजीव्य बनाया है जो कि उनकी मानवतावादी चेतना को पुष्ट करने में सहायक सिद्ध हुए हैं।

स्वरूप, चित्रण, वर्णन और शिल्प को देख कर कोई भी कह सकता है कि 'द्विवेदी जी' के उपन्यास शास्त्रीय पद्धति पर लिखे गये हैं, पर उनमें जो प्राणगत ऊष्मा, स्वच्छन्दता वादी दृष्टि और गत्यात्मक बोध है उससे उन्हें स्वच्छन्द चेतनावादी उपन्यासों की भी संज्ञा दी जा सकती है। अतः यह कहना असंगत न होगा कि 'द्विवेदीजी' के उपन्यास 'एक क्लैसिक रोमांटिक उपन्यास है।' यह उक्ति सर्वाधिक उनके उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा, पर लागू होती है। जड़ोन्मुख परम्परा को तोड़ने का आग्रह उनके सभी उपन्यासों में पाया जाता है, और यह तोड़ने का कार्य मुख्यतः उनके नारी पात्र करते हैं। इस प्रकार सोद्देश्य लिखे गए 'द्विवेदी जी' के सभी उपन्यास भारतीय समाज की धुरी नारी जीवन के वास्तविक मूल्यों की व्याख्या करते हैं। जिस साहित्य के भीतर प्रगति के बीज होते हैं, उसे ही युग का महान साहित्य बनने का सौभाग्य प्राप्त होता है। आचार्य द्विवेदी ने इस शक्ति को पकड़ा है जिसके कारण उनके उपन्यास अपने क्षेत्र में इस युग की महान रचनाएँ बन सके हैं।

●

---

१. अनामदास का पोथा, पृ० ६४
२. " " ६५